बौद्ध प्रमाण दर्शन

प्रमाणशास्त्रीय सिद्धान्तों का अधिप्रामाण्य विश्लेषण

अम्बिकादत्त शर्मा



बौद्ध प्रमाण दर्शन

अम्बिकादत्त शर्मा



बौद्ध प्रमाण दर्शन

प्रमाणशास्त्रीय सिद्धान्तों का अधिप्रामाण्य विश्लेषण

अम्बिकादत्त शर्मा



बौद्ध प्रमाण दर्शन

अम्बिकादत्त शर्मा



♦ काशी की पाण्डित्य परम्परा और आचार्य कुल में दीक्षित **अम्बिकादत्त शर्मा**, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर - म. प्र. के दर्शन विभाग में उपाचार्य, दर्शन प्रतिष्ठान - जयपुर से प्रकाशित पत्रिका **'उन्मीलन'** के प्रबन्ध-सम्पादक एवं **अखिल भारतीय दर्शन परिषद्** के मंत्री भी हैं।

♦ अब तक इनके द्वारा प्रायोजित, लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थों में स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण सीरीज के अन्तर्गत - ***समेकित दार्शनिक विमर्श, समेकित अद्वैत विमर्श, भारतीय दर्शन के 50 वर्ष*** एवं ***भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद*** उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त In Defence of Metaphysics (*Indian reaction against logical positivism*) नामक ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाश्य है।

♦ सम्प्रति डॉ. शर्मा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त रिसर्च अवार्ड के अंतर्गत **'भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष मीमांसा'** शोध-योजना को पूरा करने में संलग्न हैं।

बौद्ध प्रमाण दर्शन

प्रमाणशास्त्रीय सिद्धान्तों का अधिप्रामाण्य विश्लेषण

अम्बिकादत्त शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्यप्रदेश

बौद्ध प्रमाण दर्शन

प्रमाणशास्त्रीय सिद्धान्तों का अधिप्रामाण्य विश्लेषण

अम्बिकादत्त शर्मा

ISBN - 81-88289-24-8

प्रथम संस्करण 2007

मूल्य - 350/-

प्रकाशक -

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर

247 जवाहरगंज, सागर - 470002 (म.प्र.)

✆ 07582-243598

अक्षर संयोजन-

एक्टिव कम्प्यूटर्स

सागर (म. प्र.)

Mob. 9826434225

PHILOSOPHY OF BUDDHIST EPISTEMOLOGY

Meta-epistemic Analysis of Pramana Theories

Ambika Datta Sharma

अनुक्रम

यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्

की भावभूमि पर

प्रोफ़ेसर अशोक कुमार चटर्जी को ...

आभार



'सूक्ताभ्यासविवर्धितव्यसनमित्यत्रानुबद्धस्पृहम्' - भारतीय प्रमाणशास्त्र के सौगत-प्रस्थान की आधारभूत संरचना को '**बौद्ध प्रमाण दर्शन**' नामधेय इस ग्रन्थ के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष के साथ-साथ महाकवि कालिदास की इस पंक्ति ''**बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेत:**'' का बलात् स्मरण भी हो रहा है। यद्यपि सुचिन्तित रूप से स्थापित किसी विचार-परम्परा का अपना ही एक गोत्र होता है और उसके प्रति आत्मचेतन होने के प्रयास में कोई व्यक्ति नितान्त अकेला नहीं हुआ करता तथापि विमर्शन क्रिया के स्वार्थसंवित् बोध-भूमि पर परम्परा के भूषण और दूषण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसे अपने ऊपर ही लेना पड़ता है। इस उत्तरदायित्व का वहन करते हुए भारतीय दर्शन के किसी भी जागरूक अध्येता के लिए **संप्रदाय केन्द्रित बौद्धिकता** और **बुद्धि की स्वतंत्र स्वायत्तता** के बीच दोलायमान होना उसकी स्वाभाविक नियति होती है। मुझे भी इस दोलन का कटु अनुभव होता रहा है फिर भी दोनों के मध्य सन्तुलन बरतने का मैंने भरसक सचेष्ट प्रयास किया है। इसके बावजूद भी स्वयं के विचार-स्वातंत्र्य की स्वायत्तता के उपभोग से यदि परम्परा-प्राप्त विचार-क्रम में किंचित् मात्र भी अतिचार उत्पन्न हुआ हो तो उसके लिए मैं अपने गुरुवर्य **स्वामी योगीन्द्रानन्द जी** और उनसे प्राप्त परम्परा के प्रति पदे-पदे क्षमाप्रार्थी हूँ।

उपर्युक्त इसी प्रकार के सम्भावित अतिचारों के अपसारण के लिए ही इस ग्रन्थ के अधिकांश अध्यायों का प्रकाशन प्रकीर्ण निबन्धों के रूप में पहले ही **उन्मीलन, दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श** और **जे.आई.सी.पी.आर.** इत्यादि पत्रिकाओं में समय-समय पर हुआ था। इसके फलस्वरूप मुझे अपने लेखन, प्रतिपादन शैली और यहाँ तक कि भाषा के सम्बन्ध में भी अनेकों सुझाव प्राप्त हुए और अपने विचारों को परिमार्जित एवं परिष्कृत करने का अवसर प्राप्त हुआ। उन सभी का नामोल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं जिनसे मुझे सुझाव प्राप्त होते रहे; लेकिन उन सभी के प्रति समवेत रूप से मैं अपने

को हृदय से आभारी मानता हूँ। वर्तमान का अकादमिक परिवेश ही कुछ ऐसा हो गया है कि उचित परामर्श देने वाले लोग दुर्लभ होते जा रहे हैं। इस सन्दर्भ में विशेष रूप से मैं प्रो. अशोक कुमार चटर्जी, आचार्य यशदेव शल्य, प्रो. दयाकृष्ण, प्रो. पी.के. मुखोपाध्याय और आचार्य श्याममनोहर गोस्वामी तथा आचार्य किशोरनाथ झा का श्रद्धास्पद उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ जिनका सान्निध्य मेरे लिए अत्यन्त लाभप्रद और उत्साहवर्धक रहा है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत विचार-सरणी को 'प्रमाण दर्शन' अथवा अधिप्रामाण्य विश्लेषण के रूप में पहचानने की सर्वप्रथम प्रेरणा मुझे चटर्जी साहब के कुछ प्रकीर्ण निबन्धों से ही प्राप्त हुई थी। ऐसे ही नागार्जुनोत्तर काल में भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की पुन:रचना के प्रश्न की गम्भीरता और उसके विभिन्न पहलुओं की ओर मेरा ध्यान दया जी ने आकृष्ट किया था। इसी प्रसंग में दया जी ने मुझे वैदल्यसूत्र और न्यायसूत्र के अन्त:पदीय तुलनात्मक अध्ययन का सुझाव भी दिया था जिसे मैं संप्रति पूरा करने में संलग्न हूँ। शल्य जी ने तो एक तरह से इस पूरे ग्रन्थ का मौलिक संस्कार ही किया है। उनके सुझावों एवं टिप्पणियों के आलोक में ही ग्रन्थगत स्थापनाओं को इतने मूलगामी रूप में प्रस्तुत किया जाना सम्भव हो सका है। शल्य जी के द्वारा मैं अपनी पारम्परिक निष्ठा और तंत्रकेन्द्रित प्रतिबद्धता के लिए सदैव प्रशंसित हुआ लेकिन परम्परा को भविष्योन्मुख गति प्रदान करने वाली बौद्धिक स्वतंत्रता की न्यून स्वायत्तता के लिए आलोचित होता रहा। इस ग्रन्थ का पुरोवाक् लिखकर वस्तुत: उन्होंने इसी बात का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है कि परम्परा में मूलित मन और बुद्धि का एक सृजनात्मक स्वातंत्र्य होता है और उस स्वातंत्र्य का उपभोग परम्परा को पुरोगामी बनाये रखने के लिए बहुत आवश्यक है।

इस अवसर पर अपने कुछ सुहृद सहचरों जैसे डॉ. अच्युतानन्द दाश (सागर), डॉ. काशीनाथ न्योपाने (काठमांडु), डॉ. रजनीश शुक्ल (वाराणसी), डॉ. आनन्द मिश्र (वाराणसी), डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र (वाराणसी), डॉ. संजय कुमार शुक्ल (इलाहाबाद) और डॉ. रमाकान्त पाण्डेय (जयपुर) के साथ प्रसंग-प्राप्त विचार-विमर्श का मुझे सुखद स्मरण हो रहा है। इन सबों की व्याकरण, न्याय, मीमांसा और वेदान्त की पारावरीय दृष्टि ने सदैव अपने प्रतिबल से बौद्ध न्याय की मेरी व्यावर्त्तक समझ को पुष्ट और प्रोत्साहित किया है। मैं सभी के प्रति अपना आदर और उनके अभ्युदय की शुभकामना करता हूँ। भारतीय राजविद्या एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशिष्ट समझ रखने वाले मेरे अत्यन्त प्रिय डॉ. विश्वनाथ मिश्र (छिवलहा, फतेहपुर) और अपने विद्यार्थियों में डॉ. शत्रुघ्न चतुर्वेदी एवं डॉ. राजेश चौरसिया का शुभानुध्यान करते हुए उन्हें इस ग्रन्थ की सम्पूर्ति पर विशेष धन्यवाद देता हूँ।

पुनश्च, स्वाध्याय एक तप और लेखन एक सृजनात्मक कर्म है परन्तु उसका प्रकाशन एक प्रकाशकीय व्यवसाय। विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर के प्रोपराइटर

श्री राजेश केशरवानी और **एक्टिव कम्प्यूटर्स** के प्रोपराइटर श्री अजय जैन के प्रति भी एतदर्थ साधुवाद प्रकट करता हूँ। श्री राजेश जी मेरे लेखन और उसके प्रकाशन में विशेष रुचि लेते हैं, इसके लिए वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। उनमें मैं एक बड़े प्रकाशक का गुण- लक्षण देखता हूँ।

अन्त में अपनी समस्त अनवधानता एवं ज्ञात-अज्ञात भूलों के साथ '**सानुग्रहेण हृदयेन विभावनीया**' की कामना।

विजयादशमी, 2006, सागर

अम्बिकादत्त शर्मा

पुरोवाक्



डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा ने प्रमाण विषयक अत्यन्त समृद्ध भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा को इस पुस्तक में बहुत सम्यक् रूप से प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस पुस्तक में उनके विचारों का केन्द्र बौद्ध नैयायिक ही रहे हैं किन्तु बौद्ध न्याय, वास्तव में, गौतमी न्याय और वैदिक दार्शनिक चिन्तन-परम्परा के साथ वाद-विवाद में रहकर ही आगे बढ़ा है। इस कारण बौद्ध प्रमाणमीमांसा पर विचार सम्पूर्ण भारतीय प्रमाण विषयक चिन्तन को आकलित किये बिना नहीं हो सकता। इस पुस्तक की विशिष्टता भी यही है कि इसमें सम्पूर्ण भारतीय प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन को परिप्रेक्ष्य बना कर उसे आकलित करते हुए प्रमाण विषयक बौद्ध दृष्टि के अन्तरार्थ को जैसी मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है, वह शास्त्र-सम्मत और शास्त्र-सम्पोषक दोनों है। पुन: डॉ. शर्मा के विचार का विषय मुख्यत: तार्किक प्रश्न नहीं होकर दार्शनिक प्रश्न रहे हैं जो उनके प्रतिपादन में आद्यन्त रूप से परिलक्षित होता है। यही कारण है कि इस पुस्तक में प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध पर और प्रमाण-प्रमेय के स्वरूप पर मुख्य रूप से विचार हुआ है और इस प्रकार 'प्रत्यक्ष' ही उनका मुख्य विषय रहा है, अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि से जुड़े तार्किक प्रश्न अवान्तरत: ही उनके विचार के विषय बने हैं। भारतीय प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन में प्रमाण-प्रमेय विषयक वैकल्पिक दृष्टियों के स्वरूपावगाहन के लिए प्रत्यक्ष की उपजीव्यता परन्तु उसके निहितार्थों को इस प्रकार से विमर्श के एक उच्चतर धरातल पर देखा जाना उचित ही है। यहाँ हम इस समृद्ध परम्परा पर पुन: टिप्पणी करने के बजाय डॉ. शर्मा के सारस्वत् धृति, उत्साह एवं समन्वय की सराहना करते हुए इस विषय को एक दूसरा आयाम देने का प्रयास करेंगे। प्रमाणमीमांसा के आधारभूत प्रश्नों पर सम्प्रदाय निरपेक्ष दार्शनिक दृष्टि से विचार करने के लिए यह

आवश्यक भी है। हमारे इस प्रयत्न के संकेत अभी पीछे प्रकाशित हमारे दो लेखों[1] में देखे जा सकते हैं, यहाँ हम उसी विचार-क्रम को आगे बढ़ायेंगे।

प्रमाण का शब्दार्थ 'प्रमाकरण', 'प्रमा की प्राप्ति का साधन' है। अब, इस सरल शब्दार्थ में 'प्रमा' ऐसा शब्द है जो दार्शनिक विमर्श का एक केन्द्रीय विषय रहा है। इस दृष्टि से सारे दर्शन-सम्प्रदाय इस एक शब्द की व्याख्या के विभिन्न प्रयत्न कहे जा सकते हैं। चार्वाकों, नैयायिकों और सर्वास्तिवादियों को इसमें एक छोर पर रखा जा सकता है और शून्यवादियों, विज्ञानवादियों तथा अद्वैतवेदान्तियों को दूसरे छोर पर रखा जा सकता है। प्रमा के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसे आधारभूत मतभेद होने पर प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में भी ऐसे आधारभूत मतभेद होना अनिवार्य है। इसी से नैयायिक जबकि प्रत्यक्ष और अनुमान की परिभाषा और व्याख्या को अपना सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य मानते दिखते हैं, नागार्जुन इसे अप्रतिष्ठ, वसुबन्धु अपरमार्थ या मिथ्या और शंकर इसे पशु-सुलभ मानते हैं। द्रष्टव्य है कि विज्ञानवाद में प्रमाण और प्रमेय के भेद के लिए कोई अवकाश नहीं रहता और शंकर के लिए शब्द के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं हो सकता - यद्यपि वे अनुभव की प्रामाणिकता की बात भी करते हैं। किन्तु उनके लिए यह अनुभव अपने से पृथक् किस प्रमेय के लिए प्रमाण होगा, यह समझना कठिन है। शब्द-प्रमाण की स्थिति और भी विचित्र है। जिन आप्तों का शब्द प्रमाण है उनके लिए प्रमाण क्या है और प्रमेय क्या है और इनका परस्पर सम्बन्ध कैसा है? निश्चय ही वहाँ प्रत्यक्ष : आर्ष अनुभव : ही प्रमाण है और ब्रह्म-वस्तु प्रमेय, किन्तु इस प्रमाण और प्रमेय में क्या कोई अन्तर हो सकता है? अब शब्द के सम्बन्ध में देखें तो किसी के लिए शब्द तभी प्रमाण हो सकता है यदि उस शब्द का वाच्य उस श्रोता के लिए प्रत्यक्ष का विषय रहा हो या उस विषय के जैसा हो। जैसे ऐतिहासिक कथन अथवा अन्य सूचनात्मक कथन होते हैं। किन्तु आर्षवचन ऋषियों से भिन्न जनों के लिए कैसे प्रमाण हो सकते हैं? उदाहरणत: आत्मा, ब्रह्म या देवता उनके लिए कैसे शाब्द प्रमेय हो सकते हैं जो इनका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते? उनके लिए शाब्द प्रमेय शाब्दी रूप से परिभाष्य मात्र ही हो सकते हैं। ऐसे आर्ष शाब्द प्रमेय, जो साधारण प्रत्यक्ष के विषय हो सकते हैं किन्तु होते नहीं, जैसे पुनर्जन्म, उनके विषय में यह बताने की अपेक्षा होगी कि वे हमारे प्रत्यक्षगम्य क्यों नहीं हो सकते और हमारे प्रत्यक्षगम्य नहीं हो सकने पर ऋषियों के प्रत्यक्षगम्य कैसे हो सकते हैं? न्याय ने आत्मा को आर्ष शब्द का प्रमेय और प्रत्यक्ष तथा अनुमान का भी प्रमेय माना है। किन्तु आर्ष शब्द का प्रमेय क्या वही होता है जो प्रत्यक्ष : अस्मिता बोध : का विषय होता है? स्पष्टत: ये दो सर्वथा भिन्न-रूप वस्तुएँ होते हैं किन्तु नैयायिक उनको एक ही प्रमेय कहते हैं।

---

१. *द्रष्टव्य, 'प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध-विचार' तत्व-चिन्तन, राका प्रकाशन, इलाहाबाद २००४ एवं 'अवभासित अर्थ और उनका सत्ता-सम्बन्ध', उन्मीलन, जनवरी २००६)*

यहाँ हम इन विभिन्न सम्प्रदायों की प्रमाण और प्रमेय विषयक दृष्टियों को छोड़ते हुए इस पर एक दूसरा मार्ग अपनायेंगे। यह मार्ग है चेतना के स्वरूप और चेतना में प्रकट ज्ञान के रूपों पर विचार की विवेचना।

सामान्यत: ज्ञान को चेतना का सहज और मूल धर्म कहा जाता है। द्रष्टव्य है कि अधिकांश भारतीय दार्शनिक 'चेतना' के बजाय 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं और ज्ञान को आत्मा का मूल और नित्य धर्म कहते हैं। किन्तु यह ज्ञान और आत्मा दोनों की भ्रान्त समझ का द्योतक है, जैसा कि हमारे इन विषयक विवेचनों से देखा जा सकता है।[२] किन्तु वास्तव में चेतना का मूल धर्म संवेद है और ज्ञान-वृत्ति उसमें कुछ विकसित स्तर पर प्रकट होती है और क्रमश: अस्फुट से स्फुट और स्फुटतर रूप में विकसित होती है। वानस्पतिक चेतना और शेष जैव चेतना में इस दृष्टि से भेद किया जा सकता है और इस शेष जैसे चेतना में इस दृष्टि से कृमि-कीट व मनुष्य तक और मनुष्य में जनसाधारण के अवर स्तरों से न्यूटन, आईंस्टीन, पाणिनी, गंगेश, वाल्मीकि, कालिदास तथा बुद्ध, अरविन्द, कबीर और रामकृष्ण परमहंस तक के स्तर-भेद देखे जा सकते हैं। ज्ञान के इसी स्तर-भेद के अनुसार प्रमाणों और प्रमेयों में भी स्तर-भेद और स्वरूप-भेद देखा जाना चाहिए।

चेतना के विकास के इस इतिहास में ज्ञान की दृष्टि से तीन आधारभूत क्रान्तियाँ घटित हुई देखी जा सकती हैं। प्रथम क्रान्ति जीवन के आविर्भाव के साथ चेतना में संवेदनशीलता के आविर्भाव के रूप में वानस्पतिक जीवन के उद्भव के साथ घटित होती है। दूसरी क्रान्ति ऐन्द्रिक जीवों के उद्भव के साथ घटित होती है। इसे चेतना का जगद्भाव में उन्मीलन और विषयोन्मुखता में प्रवर्तन कहा जा सकता है और तीसरी क्रान्ति चेतना के आत्मचेतन होने के रूप में घटित होती है। जगद्भाव में उन्मीलित चेतना अपने को ज्ञानेन्द्रियों से ही सज्जित नहीं करती, कर्मेन्द्रियों से भी सज्जित करती है। यह जगद्भाव चेतना में विषयापेक्षा का रूप लेता है और इसमें चेतना अपनी इस विषयता में निश्शेष रहती है। बाह्यता और दैशिकता इन विषयों का एक मूल धर्म होता है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि ये जीव ज्ञानेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों से भी युक्त होते हैं। इस विषयोन्मुख प्रवर्तन के लिए चेतना में वासनाएँ, आवेग और आसक्तियाँ उद्भूत होती हैं जो इस चेतना के विषयों के रूप और गुण बनती हैं। चेतना के ये गुण या वृत्तियाँ उसके विषयोन्मुख प्रवर्तन की ही अंग होती हैं, जिनके बिना चेतना भौतिक और वानस्पतिक अवस्था में आत्मस्थ और अप्रवर्तित रूप में रहती है। इसके आगे के चरण में आत्मचेतन-चेतना विषयोन्मुख के विपरीत आत्मोन्मुख रूप में प्रवर्तित होती है और विषय को अपने से पृथक् प्रत्युपस्थित करती है। इस प्रकार आत्मचेतन मानव-

---

२. *आत्मा के स्वरूप के विवेचन के लिए द्रष्टव्य मूल्यतत्व-मीमांसा, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, १९९४ तथा तत्व-चिन्तन ,राका प्रकाशन, इलाहाबाद, २००४*

चेतना विषय से विनिवर्तन से, विषयोन्मुखता के विपरीत प्रत्यङ्मुखता से परिभाषित होती है। इसके विषयों में स्वयं इसकी अपनी अस्मिता और इस अस्मिता के लिए पृथक् प्रस्तुत वस्तु-जगत् दोनों विषयी-विषय रूप में रहते हैं। किन्तु यह विषयी : इन्द्रिय, विचार और अन्त:करण के प्रस्तुत विषयों का ग्राहक : अपने ग्राह्य विषय की सापेक्षता में ही विषयी होता है, अन्यथा मूलत: यह विषय ही होता है क्योंकि यह 'मैं देख रहा हूँ' रूप में ग्राह्य होता है। चेतना के इतिहास में यह एक अद्भुत और आधारभूत क्रान्ति है जिससे शिल्पों, उद्योगों, कलाओं, शास्त्रों, विज्ञानों, धर्मों तथा अध्यात्म-साधनाओं का आविर्भाव हुआ। पाशव विषय शुद्ध रूप से ऐन्द्रिक और इस प्रकार जगद्वासना-जन्य होते हैं जबकि मानवीय विषय अतीन्द्रिय या इन्द्रियेतर आत्मगत अर्थों की इन्द्रिय-ग्राह्य अभिव्यक्तियाँ। इसका स्पष्टतम उदाहरण भाषा कही जा सकती है जो श्रव्य या दृश्य आकृतियों में व्यक्त होती है। ये आकृतियाँ ऐन्द्रिक विषय होती हैं किन्तु इन आकृतियों : ध्वनि-रूपों तथा लिपि : का प्रत्यक्ष भाषा का प्रत्यक्ष नहीं होता और इस प्रकार इसमें प्रमाण और प्रमेय का रूप बदल जाता है। वास्तव में यह सभी मानवीय कृतियों-घट, पट, लेखनी, मसि आदि के सम्बन्ध में भी उतना ही सही है। यह रूपान्तरण चेतना के आत्मचेतन होने, विषयोन्मुखता में आत्मबहिर्भूत होने के विपरीत प्रत्यङ्मुखता में आत्म-प्रस्तुत होने से संभव होता है। किन्तु ऐसा कैसे होता है ?

द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल और उससे प्रवर्तित दर्शन-संप्रदाय चेतना को विषयापेक्षी के रूप में ही देखते हैं और उनकी यह विषयापेक्षी चेतना मानव-चेतना ही है। इस प्रकार हमारा उपर्युक्त प्रतिपादन उनसे स्पष्टत: आधारभूत रूप में विपरीत हो जाता है। हमारे प्रतिपादन की युक्तता पाशव चेतना और मानव-चेतना के विषयों के स्वरूप की भिन्नता से सहज ही देखी जा सकती है। पाशव चेतना के विषय वासना, आवेग, बुभुक्षा आदि वृत्तियों के ही आश्रय होते हैं और वह अपनी इन वृत्तियों के साथ इन विषयों में अशेषत: तदात्म रहती है, और उसके विषय इन वृत्तियों से अविश्लेष्य रूप से उपरंजित रहते हैं, जबकि मानव-चेतना के विषय इन वृत्तियों से विश्लिष्ट, चेतना की आत्म-विषयता से व्यवहित और तद्बाह्य रूप में प्रस्तुत होते हैं। उदाहरणत: मनुष्य को प्रस्तुत भोज्य वस्तु प्रथम तो गाय के लिए घास के समान 'प्रदत्त भोज्य विषय मात्र' नहीं होती, वह मनुष्य द्वारा आत्मगत अर्थों के अनुरूप कल्पित और रचित, भूख और आस्वाद-परक संवेदों के प्रत्ययात्मक साक्षात्कार जन्य अर्थों के बाह्य विषय-रूपों में सर्जित होती है और उन संवेदों तथा वासनाओं की रूपान्तर-कर्त्तृ यह 'आत्मा' उन विपुल अर्थों की धातृ होती है जो अर्थ उसके प्रत्यङ्मुख साक्षात्कार में ही जन्म लेते हैं। इस चेतना के विषयों की पाशव-चेतनागम्य विषयों से भिन्न एक दूसरी विशेषता इनकी ग्राहकता के स्वतंत्र ग्राह्यता तथा अतिक्रान्त सद्रूपता होती है। उदाहरण: मनुष्य के प्रत्यक्षगत विषय 'मेरे' प्रत्यक्षगत 'विषय' होते हैं, जो मेरे देखने और इसकी विषयता से स्वतंत्र वस्तुएँ : काष्ठ, मिट्टी, घटादि : होते हैं। इन विषयों के ग्रहण को ही विषयनिष्ठ ग्रहण कहा जाता है। इस

प्रकार मानव-चेतना भी विषयापेक्षी है, किन्तु एक तो इसके विषय मात्र ऐन्द्रिक के अतिरिक्त अध्यवसायात्मिका बुद्धि, विवेक-बुद्धि, भावना आदि वृत्तियों मूलक भी होते हैं, और दूसरे, इसके लिए एक और विषय भी होता है जो इस सब प्रकार विषयों से भिन्न प्रकार का, अनन्य साधारण, होता है। यह विषय है व्यक्ति की आत्म-प्रतिमा : अर्थात् व्यक्ति का अपना साध्य रूप।[३] दूसरे, जैसाकि हमने ऊपर देखा, इसके ऐन्द्रिक विषय भी प्रत्यय-व्यवहित होते हैं। किन्तु दार्शनिक जब प्रमाणों की बात करते हैं तो उनके लिए प्रमेय ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगम्य वस्तुएँ ही होती हैं, जो वास्तव में प्रत्यक्षगम्य हो ही नहीं सकतीं और इन प्रमेयों के लिए प्रमाण उनके अनुसार वस्तु-सन्निकृष्ट ऐन्द्रिक संवेद होते हैं। वे यह नहीं देखते कि यह तथाकथित वस्तु चेतना के विषय से विनिवर्तन से, और इस विनिवर्तन के द्वारा विषय को स्वतंत्र प्रतिष्ठा देने के द्वारा ही अस्तित्व-लाभ करती है। इसी से शंकर मानव-प्रत्यक्ष को पाशव प्रत्यक्ष से अभिन्न देखते हुए प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को पशुसुलभ व्यवहार के रूप में ही देखते हैं।[४] किन्तु उन्होंने भी शब्द-प्रमाण को स्वीकार किया है और उसके कुछ प्रमेय भी स्वीकार किये हैं, यद्यपि उन्होंने यह नहीं बताया कि इन प्रमाणों-प्रमेयों का सम्बन्ध कैसा होता है और इसमें भ्रान्ति और निर्भ्रान्तता का कैसे पता चलता है ?

किन्तु प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध को लेकर एक बड़ी समस्या यह है कि प्रमाण प्रमेय-सिद्धि में कभी सफल और कभी असफल रहता है। प्रमाणों की यह सफलता-असफलता प्रमाणगत निर्दोषता-सदोषतामूलक होती है या कि प्रमेयाश्रित ? यह प्रमाणों की सफलता-असफलता देखकर ही जाना जा सकता है कि कोई प्रमाण सफल है या नहीं। बौद्धों ने इसका समाधान 'अर्थ-क्रियाकारित्व' से दिया है। इसका उदाहरण वे मृगतृष्णा से देते हैं जिसमें जल-प्रतीति जल-प्रापक नहीं होती। जल-प्रतीति के बाद जल-प्राप्ति अर्थ-क्रिया की सिद्धि है, वही प्रमेय है और इस सिद्धि के लिए क्रिया-प्रवर्तक जल-प्रतीति है, वही प्रमाण है। किन्तु प्रमाण कोई प्रतीति प्रमा-साधन होने पर ही होती है, सब प्रतीतियाँ प्रमाण नहीं होतीं। किन्तु कोई प्रतीति प्रमा-साधक हुई या नहीं, यह प्रमेय की उपलब्धि से ही ज्ञात हो सकता है। इस प्रकार प्रमाण अन्ततः प्रमेयाश्रित हो जाता है जबकि प्रमेय स्वाश्रित हो जाता है। अर्थ और उसका कारित्व दोनों प्रमेयगत ही होते हैं - सिकता की चमक या जल की झलक न पिपासा होते हैं, न

---

३. *इसका हमने ज्ञान और सन् (१९६७) पुस्तक में 'मानव-प्रतिमा' अध्याय तथा सत्ता विषयक अन्वीक्षा (१९८७) के 'मानव-तत्व' तथा 'संस्कृति-तत्व' अध्यायों में विवेचन किया है।*

४. *अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाण-प्रमेय-व्यवहारः। पश्वादिनां च प्रसिद्धोऽविवेक-पुरःसरः प्रत्यक्षादि व्यवहारः। तत्सामान्य-दर्शनाद्व्युत्पत्ति-मतापि पुरुषाणां प्रत्यक्षादि व्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, अधि. १।*

पिपासा-शामक, पिपासा-शामकता प्रमेयगत होती है और सिकता की चमक तथा जल की झलक प्रमेय-सिद्धि की संभावना की ज्ञापक होती हैं। किन्तु इनका प्रमेय क्या है ? जल या पिपासा-शमन ? अब, पिपासा-शमन उसी प्रकार की एक विज्ञप्ति है जैसी सिकता की चमक या जल की झलक ! किन्तु पिपासा-शमन और पिपासा-शामकता के बीच काफी बड़ी खाई है ! पिपासा-शमन एक विज्ञप्ति है जबकि पिपासा-शामक एक बाह्य वस्तु, जो पिपासा-शमन की योग्यता रखती है। किन्तु यह योग्यता सिद्ध नहीं साध्य होती है। इस साध्य के साध्यवस्तु होने के लिए इसमें इस योग्यता के अतिरिक्त अन्य अनेक पूर्वपेक्षाएँ होती हैं - जैसे, इसकी प्रवाह-शीलता, भिगोने या डुबोने की योग्यता, सबसे बढ़कर, इसकी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन में विश्लेष्यता आदि। दूसरे, योग्यता होने पर भी उसका क्रियान्वयन किसी पिपासु के इसे पीने पर ही होता है। फिर जल यदि तालाब में है तो वह जल पूरे तौर से नहीं पीया जाता, आदि। इस प्रकार पिपासा-शामकता-रूप अर्थ-क्रियाकारित्व पशु के लिए तो इसकी प्रमेयता का अन्तिम प्रमाण कहा जा सकता है, किन्तु मनुष्य के लिए नहीं। मनुष्य के लिए कोई वस्तु पिपासा-शामक नहीं होने पर भी जल हो सकती है, जैसे सागर का जल या उबलता जल। इसके अतिरिक्त, द्रष्टव्य है कि अर्थ-क्रियाकारित्व की यह परिभाषा सब उदाहरणों में लागू नहीं होती। जैसे चित्र या मूर्त्ति पर। दूसरी ओर स्वप्नगत प्रमेय स्वप्न-काल में अर्थ-क्रियाकारी होते हैं किन्तु जगने पर नहीं होते। कहा जा सकता है कि जागने पर वे प्रत्यक्ष नहीं होते! किन्तु वैसे ही जागृतिकालीन वस्तुएँ स्वप्न-काल में प्रत्यक्ष नहीं होतीं ! इस प्रकार स्वप्नकालीन प्रत्यक्षों की प्रामाणिकता जागने पर असिद्ध नहीं हो सकती। स्वप्नकालीन प्रत्यक्षों की जागृति में अप्रामाणिकता से स्वप्नगत की प्रामाणिकता का बाधित होना प्रमेय में काल-स्थायिता को और स्मृति की प्रामाणिकता को पूर्वगृहीत करता है, और सबसे बढ़कर, उसकी प्रत्यक्षातिक्रान्त सत्ता को पूर्वगृहीत करता है, जो सत्ता प्रत्यक्ष-ग्राह्य हो ही नहीं सकती। इस प्रकार प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय-सन्निकृष्टता की अपेक्षा एक अप्रमाणीय अपेक्षा ही रहती है।

प्रत्यक्ष के इस दोष के निवारण के लिए स्वयं प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता और उसके लिए उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करना अनिवार्य हो जाता है कि जो इसे प्रमेय बना देता है। किन्तु इस प्रमेय का प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही हो सकता है। किन्तु सिद्धान्ततः अन्य प्रत्यक्ष एक नहीं, असंख्य अपेक्षित होते हैं और एक व्यक्ति के नहीं, अनेक व्यक्तियों के अपेक्षित होते हैं। अब, प्रत्यक्ष के प्रमाण होने के लिए उसका सिद्ध प्रमेय होना अपेक्षित होने से और यह सिद्धि इसी प्रकार के साध्य प्रत्यक्षों के आश्रित होने से प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार सिद्धान्तः अप्रतिष्ठ हो जाता है। नागार्जुन ने यही दिखाया है। किन्तु साधारण व्यवहार अर्थ-क्रियाकारित्व के आधार पर चलता है और इसी रूप में क्रिया-प्रवृत्ति और अर्थ-सिद्धि होती है। इसमें जो

सैद्धान्तिक कठिनाई उपस्थित होती है वह चेतना की प्रत्यङ्‌मुख चेतना द्वारा विषयता के अपने से बहिष्करण, अथवा कहें विषयता से अपने मुक्ति-लाभ-मूलक अध्यवसाय में निहित होता है। यह चेतना जब ऐन्द्रिक स्तर का अतिक्रमण कर अध्यवसायात्मिका बुद्धि के स्तर पर आरोहण करती है तब विषय अतल गहन वस्तुत्व में रूपान्तरित हो जाते हैं और ये वस्तुएँ प्रमाणों के लिए अतिक्रान्त होने से उनकी अनन्त पार्यन्तिकता को जन्म देती हैं। सामने पड़ी वस्तु के लिए व्यवहारत: एक प्रत्यक्ष पर्याप्त प्रमाण होता है। उसमें प्रत्यक्ष और वस्तु अपृथक् होते हैं। भ्रान्ति की अवस्था में दूसरा प्रत्यक्ष प्रथम की अप्रामाणिकता को पूर्णत: सिद्ध कर स्वयं पर्याप्त प्रमाण हो जाता है। किन्तु 'भौतिक वस्तु' असंख्य प्रमाणों से भी प्रमाणित नहीं हो सकती। यह स्थिति अनुमान में और जटिल हो जाती है।

द्रष्टव्य है कि अनुमान पाशव चेतना के लिए भी प्रमाण बनता है, जैसे किसी को उग्र मुद्रा में दंड-हस्त देखकर गाय प्रहार का अनुमान करती है। किन्तु मानवीय अनुमान और पाशव अनुमान में एक आधारभूत अन्तर होता है : पाशव अनुमान जबकि साहचर्यपरक व्याप्तिमूलक होता है, मानवीय अनुमान साहचर्य-व्याप्ति-मूलक भी होता है और कारण-कार्य-मूलक भी होता है। व्याप्ति दृष्ट साहचर्य के साधारणीकरण से सिद्ध होती है-धूम और अग्नि को एक या एकाधिक बार साथ देखकर इस साहचर्य को नियत मान लेना साहचर्य-व्याप्ति है। उग्र मुद्रा में दंड-हस्त व्यक्ति से प्रहारित होकर इस मुद्रा और प्रहार में नियत सम्बन्ध की स्थापना भी साहचर्य-व्याप्ति है। (द्रष्टव्य है कि पशु और मनुष्य उग्र मुद्रा और प्रहार का साहचर्य देखे बिना प्रथम-प्रत्यक्ष में भी इस सम्बन्ध को देख पाते हैं, किन्तु वह सहज-बोध यहाँ अप्रासंगिक है।) किन्तु मनुष्य धूम और अग्नि में कार्य-कारण सम्बन्ध देखता है, साहचर्य मात्र नहीं। बौद्धों ने और ह्यूम ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को भी साहचर्यमूलक ही माना है, किन्तु सामान्यत: कारण-कार्य-सन्बन्ध को जन्य-जनक सम्बन्ध के रूप में ही देखा जाता है। इस जन्य-जनक सम्बन्ध को कैसे समझा जाय, इसकी अपनी कठिनाइयाँ हैं जिस पर भारतीय दर्शन में बहुत विस्तृत विचार हुआ है, किन्तु यहाँ उन कठिनाइयों को भी अवान्तर मानकर छोड़ा जा सकता है। अब धूम को हम अग्नि के एक कार्य के रूप में देखते हैं, इसी प्रकार प्रस्तर-प्रहार से काँच टूटने के अनुगमन को भी कारण-कार्य रूप में देखते हैं। उदाहरणत: धूम को देखकर हमें वह्नि दिखाई नहीं देती तो हम मानते हैं कि वह धूम नहीं था, धुंध को हमने धूम मान लिया था। साहचर्य-सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं देखते हैं। अब, व्याप्ति को लेकर जो यह आपत्ति की जाती है कि धूम-अग्नि का दस बार साहचर्य देखकर हम ग्यारहवीं बार के सम्बन्ध में निश्चय के साथ प्रवृत्त तो हो सकते हैं किन्तु इस निश्चय के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं होता, वह कारण-कार्यात्मक व्याप्ति के लिए ठीक नहीं कहा जा सकता। अनुमान की स्थितियाँ मानवीय ज्ञानान्वेषण, व्याख्या तथा

घटनाओं की व्याख्या में अनेक प्रकार से बनती हैं-मृत व्यक्ति को देखकर पुलिस यह जाँच करती है कि इसकी मृत्यु कैसे हुई ? इसमें अन्वेष्य कारण-कार्य-सम्बन्ध ही होते हैं। ये स्थितियाँ अत्यन्त जटिल भी हो सकती हैं और इनमें प्रमाणों की खोज में सहायक क्रान्तदर्शी कल्पना बनती है, प्रत्यक्ष या व्याप्ति नहीं।

किन्तु द्रष्टव्य है कि अनुमान प्रत्यक्ष में भी अन्तर्भूत रहता है। प्रत्यक्ष को प्रमाण-विचार में जिस रूप में देखा जाता है उसमें व्याप्ति-ग्रह भी रहता ही है। जैसे कुछ दृश्यों में स्पृश्यत्व का और कुछ में स्पृश्यत्व के अभाव का ग्रहण, कुछ दृश्यों में गोत्व का और कुछ में घटत्व या पटत्व का ग्रहण, इन सबमें व्याप्ति-सम्बन्ध रहता है। जैसे गाय की आकृति देखकर उसके साथ गोत्व के गुणों का दर्शन व्याप्तिमूलक ही कहा जा सकता है। इस व्याप्ति-ग्रहण की असफलता या बाध को ही भ्रान्ति कहा जाता है। मृग-तृष्णा जैसी भ्रान्तियाँ इसी व्याप्ति-ग्रह-मूलक होती हैं। प्रत्यक्ष के इस प्रकार व्याप्ति-ग्रह-मूलक होने से ही प्रत्यक्ष में भ्रम की संभावना के लिए अवकाश बनता है। प्रत्यक्ष को इन्द्रिय-वस्तु-सन्निकर्षमूलक मानने पर भ्रान्ति के लिए अवकाश नहीं बन सकता। यदि सन्निकर्ष की बात मान भी लें तो भी वह सन्निकर्ष वस्तु के लिए संकेत ही बनता है, वह वस्तु स्थानीय नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय का सन्निकर्ष वस्तु के केवल एक पक्ष से ही हो सकता है, शेष पक्ष तो उससे अनुमेय ही होते हैं। प्रमाण से भिन्न प्रमेय वस्तु वस्तुत्व और व्यावर्त्तक स्वभावयुक्त रूप में ही प्रमेय होती है। उदाहरणत: गाय का प्रत्यक्ष जिस प्रमेय के लिए प्रमाण होता है वह प्रमेय सत्तासमवेत और अगोव्यावर्त्तक वस्तु होती है।

प्रमाण के इस विवेचन से स्पष्ट है कि यह प्रमेयाश्रित होता है और इस प्रकार स्वयं भी प्रमेय होता है। प्रमाण-प्रमेय की यह परस्पराश्रयता नागार्जुन ने वैदल्य सूत्र और विग्रहव्यावर्त्तनी में बहुत स्पष्ट रूप से दिखायी है। किन्तु प्रमाण-प्रमेय का यह स्वरूप, या कहें पर-रूप, प्राणि-व्यवहार का सफल निर्वाहक होता है। मान लें कि इससे प्रमाण और प्रमेय की स्वयं में निस्स्वभावता सिद्ध होती है, जैसा कि नागार्जुन कहते हैं, किन्तु तब कहा जा सकता है कि प्रमाण-प्रमेय में परस्परभावता होती है। ये पृथक्-पृथक् ही निस्स्वभाव होते हैं, किन्तु संयुक्त रूप से ये सस्वभाव ही होते हैं। इनकी यह सस्वभावता ही प्राणि-व्यवहार की और मानवीय ज्ञानान्वेषण की आधार बनती है। अथवा कहें, प्राणि-व्यवहार का सफल निर्वाह और मानवीय ज्ञान की अपार समृद्ध अर्थ-राशि प्रमाण-प्रमेय की इसी पारस्परिकता के आधार पर खड़ी होती है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि प्रमाण-प्रमेय का यह रूप चेतना के पर्याप्त अविकसित स्तर पर भी उपलब्ध होता है, किन्तु मानवीय चेतना इसमें बहुत आगे और बहुत गहराई में जाती है। उदाहरणत: पुलिस और गुप्तचरों द्वारा जाँच में प्रथम तो प्रत्यक्ष और अनुमान तथा इनके प्रमेय ही अत्यन्त जटिल होते हैं, किन्तु दूसरे, इन दोनों में उनसे कहीं अधिक

क्रान्तदर्शी कल्पना का प्रयोग होता है। उदाहरणत: फर्श पर पड़े एक मृत व्यक्ति को लें, जो प्रत्यक्ष का विषय होता है। किन्तु पुलिस के लिए इस प्रत्यक्ष का प्रमेय मृत व्यक्ति नहीं होता बल्कि मृत्यु का हेतु होता है और उसके लिए प्रमाण अनुमेय होते हैं। तब ये अनुमानित प्रमाण ही प्रमेय : मृतक की मृत्यु के कारण : के स्वरूप के निर्धारक होते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन में इस प्रमाण-प्रमेय के इस रूपान्तरण की पराकाष्ठा ही होती है। इसमें प्रमाण और प्रमेय दोनों वैज्ञानिक सिद्धान्त के अन्तर्गत परिभाष्य होते हैं और प्रत्यक्ष प्रमाण-प्रमेय-परंपरा की अन्तिम और गौण कड़ी होता है और वह भी उस सिद्धान्त द्वारा ही परिभाषित होता है। किन्तु यदि थोड़ा ध्यान दें तो यही बहुत पशु-व्यवहार में भी होता है, क्योंकि चेतना सब स्तरों पर अर्थान्वेषी के रूप में ही प्रवृत्त होती है। उदाहरणत: जैसा कि हमने पीछे देखा, पाशव चेतना जगद्भाव के साथ प्रवर्तित होती है और वह भाव ही जीवन की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के उद्भव का हेतु होता है, जो इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष और उसके प्रमेयों का निर्धारण करती हैं। यहाँ एक जीव-व्यवहार को देखना सहायक होगा : मधुमक्खियों में एक छत्ते की सदस्य एक मधुमक्खी कहीं रस-संचय के लिए उपयुक्त रसमय पुष्पों का प्रत्यक्ष करती है तो वह अपने छत्ते में लौटकर अन्य मधुमक्खियों को उन पुष्पों के स्थान की सूचना एक विशेष प्रकार की अंग-भंगियों के द्वारा देती है। इन अंग-भंगियों में उस स्थान की दूरी, दिशा और स्थिति की सूचना रहती है। अब यहाँ द्रष्टव्य है कि प्रथम मधुमक्खी का प्रमेय उसके विशिष्ट जैव प्रयोजन से स्वरूप-लाभ करता है, उसका प्रत्यक्ष उस प्रमेय से निर्धारित होकर प्रमाण-रूपता प्राप्त करता है और अन्य मधुमक्खियों के लिए उस मधुमक्खी की अंग-भंगियों का ऐन्द्रिय सन्निकर्ष प्रत्यक्ष बनता है जो एक प्रमेय-शृंखला के लिए प्रमाण-शृंखला की प्रथम कड़ी बनता है। ये सारे प्रमाण साहचर्य-व्याप्तिमूलक प्रत्यक्षात्मक होते हैं, यद्यपि इस व्याप्ति का आधार आगन्तुक आगमनात्मक सम्बन्ध नहीं होकर सहज बोधमूलक होता है।

प्रत्यक्ष को लेकर एक और विचित्र कठिनाई है। किसी प्रमाण के प्रमेय-साधक होने के लिए उसे प्रमेय-तंत्र होना चाहिए! किन्तु प्रत्यक्ष इन्द्रियमूलक होता है। मनुष्य का प्रत्यक्ष अधिकांशत: चक्षु और त्वङ्मूलक होता है और अन्यान्य जीवों के अन्य इन्द्रियमूलक हो सकते हैं, जैसे कुत्ते का प्रमुखत: घ्राणमूलक। आंग्ल दार्शनिक जॉन् लॉक ने इस कठिनाई को देखा था और उसने मनुष्य के प्रत्यक्ष को आधार बनाकर उसके प्रमेय के इन्द्रिय से स्वतंत्र रूप का निर्धारण करने का प्रयत्न किया था। वह रूप उसने वर्ण-रहित आकार में पाया था। किन्तु बर्कले ने आकार को भी इन्द्रिय-मूलक दिखाकर इस प्रतिपत्ति की निराधारता दिखा दी। ऐसे में प्रत्यक्ष के प्रमेय-तंत्र प्रमाण होने की संभावना समाप्त हो जाती है, क्योंकि ऐसे में प्रमेय प्रत्यक्षों से पृथक् कुछ नहीं रहता। बर्कले ने यही प्रतिपादित किया अर्थात् प्रमेय को प्रमाणगत ही मान लिया। वैभाषिक

बौद्धों ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में यह प्रमेयतंत्रता देखी, किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूपायतन का अतिक्रमण कैसे करता है, यह उन्होंने नहीं बताया। कांट ने यह अतिक्रमण असंभव मानते हुए प्रत्यक्ष का प्रमेय चिद्गत अतिक्रांतता में (प्रत्यक्ष की प्रागनुभविक अतिक्रान्त कोटियों में) सन्निहित कर दिया। किन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि प्रमेय : वस्तु : को चिद्बाह्य और चित् को आवरक या उपरंजक मानने का ही क्या औचित्य है, जो कि दार्शनिकों ने प्राय: ही माना है ? स्वयं कांट का फिनॉमिनॉ भी स्वलक्षण वस्तु पर आरोप ही है।

चित् को आवरक या उपरंजक मानने का आधार, या कहें उसके उपरंजक होने का एक प्रमाण, ज्ञान-गत भ्रान्ति हो सकती है। हम रज्जू को सर्प देखते हैं, इसका कारण चित्तगत वासनाओं का आरोप माना जाता है। किन्तु सर्प के सर्प-दर्शन और रज्जू के रज्जू-दर्शन में भी वैसी ही वासनाएँ रहतीं हैं, और नहीं तो नाम का आरोप तो रहता ही है। नाम का आरोप वैसा ही है जैसा बर्कले के लिए दृश्य विषय पर इन्द्रिय द्वारा वर्ण और आकार का। इसे चित्त की विषयनिष्ठता के विपरीत विषयिनिष्ठता कहा जाता है। वासनाएँ आदि चित्तगत ही होती हैं जिनसे चित्त की मुक्ति उसके विषयनिष्ठ होने- विषय को यथा-अर्थ देखने या ग्रहण करने के योग्य होने : के लिए आवश्यक होती है। चित्त की वासनाएँ काम, क्रोध, लोभ आदि रूप होती हैं, किन्तु आवरण विकल्प रूप : भाषा, विचार, कल्पना आदि रूप : तथा ग्राह्य-ग्राहक-भाव रूप तक भी देखे गए हैं। इस प्रकार यह संपूर्ण पशु-सुलभ जैव व्यापार ही नहीं, मानवीय ज्ञान-व्यापार और सृजन-व्यापार भी विषयिनिष्ठ हो जाता है। इस सब धारणा का मूल प्रमेय को बाह्य वस्तु-सत् रूप देखने, या उसके रूपक पर अतीन्द्रिय वस्तु-सत् रूप देखने में है जिसके लिए प्रमाण या तो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है या आर्ष प्रत्यक्ष, जो हमारे लिए शब्द-प्रमाणगम्य होता है किन्तु ऋषियों के लिए प्रत्यक्षगम्य। आर्ष प्रत्यक्ष के विषय देवता, आत्मा, ईश्वर, जगत्सृष्टि और धर्माधर्म आदि माने जाते हैं, किन्तु यदि मानवीय या जैव प्रत्यक्ष विषयिता का अतिक्रमण करने में असमर्थ है तो आर्ष प्रत्यक्ष विषयिता का अतिक्रमण कैसे कर सकता है ? चक्षु किसी वस्तु का प्रत्यक्ष वर्ण और आकार के आरोप के बिना नहीं कर सकती, रसना स्वाद के आरोप के बिना और त्वक् स्पर्श के आरोप के बिना प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। और पुन: इन्द्रिय विशेष का ही प्रत्यक्ष कर सकती है सामान्य या प्रत्यय का नहीं और अध्यवसायात्मिका बुद्धि सामान्य धर्म का ही प्रत्यक्ष कर सकती है, विशेष का नहीं, विवेक या धर्म-बुद्धि कर्त्तव्याकर्त्तव्य और सदसद् का ही प्रत्यक्ष कर सकती है दृश्य-स्पृश्य गुणों का नहीं, इसी प्रकार आर्ष प्रज्ञा भी दृश्य-स्पृश्य का, ऊहापोहात्मक वितर्क का, काव्य-बोध-ग्राह्य भावनाओं, उद्वेगों आदि के अन्तर्गतार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। निश्चय ही ऋषि आँख से वर्ण और आकार का और अध्यवसायात्मिका बुद्धि से घटत्व आदि का भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं, किन्तु ये प्रत्यक्ष उसी प्रकार आर्षबोध के विषय नहीं कहे जा सकते जैसे वर्ण-गन्ध आदि

शाब्दबोध के विषय नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार कोई ज्ञान विषयिता का अतिक्रमण नहीं कर सकता और परिणामत: कहा जा सकता है कि कोई प्रमाण प्रमेय का प्रापक नहीं हो सकता। किन्तु तब कहा जा सकता है कि ज्ञान में प्राप्य कोई निरपेक्ष तथता नहीं होती, आकांक्ष्य तथता ही होती है। निरपेक्ष तथता में चेतना की, या कहें जीव की, प्रवृत्ति ही नहीं होती। भूख लगने पर गाय घास के लिए प्रवृत्त होती है, घास उसके लिए भोज्य वस्तु रूप में प्रस्तुत होकर ही अनुन्सधेय हो सकता है, घास का वर्ण, आकार और गंध आदि उसके लिए उस प्रस्तुत के घास होने के प्रमाण बनते हैं, स्पर्श इन प्रमाणों का पोषक प्रमाण बनता है, यही इन सब प्रमाणों का प्रमेय है। इस प्रकार प्रमाण ही परस्पर पोषक होकर प्रमेय के प्रापक बनते हैं। इस प्रकार विषयिता विषय-तथता की उपलब्धि में बाधक नहीं होती बल्कि उसकी आधार होती है। विषयता का निरपेक्ष तथता के रूप में अनुसंधान भ्रान्तिमात्र है क्योंकि ज्ञान चेतना का धर्म है और चेतना अपना अतिक्रमण कर, अपने से बाहर आकर, किसी ज्ञेय तथता को नहीं जान सकती। यद्यपि वह लक्षित अतिक्रान्त तथता को ही करती है।

किन्तु तब भी हम विषयिनिष्ठता-विषयनिष्ठता की बात करते हैं। इनका क्या अर्थ होता है ? इस भेद का ग्रहण, इसका बोध चेतना में उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मूलगामी क्रान्ति के घटित होने से संभव होता है जिसे हमने चेतना का आत्मचेतन होना कहा है। यह भेद-ज्ञान विषयिता का विषयकरण कर उसकी आवरकता से मुक्त होने से संभव होता है। यह वस्तु मेरी चक्षु की अपेक्षा से इस वर्ण और आकार की है, मेरी भूख की अपेक्षा से भोज्य है, मेरी रसना की अपेक्षा से स्वाद विशेष की है, मेरे लिए इसका खांना हानिकारक है किन्तु तब भी मैं इसके प्रति लोभ का संवरण नहीं कर सकता, इसकी लाभ-हानिकारकता मेरी दैहिक रचना और इसकी भौतिक-रासायनिक रचना की सापेक्ष है आदि यह सब हमारी ही विषयिता का विषयकरण है और इस विषयकरण के द्वारा हम इन विषयिताओं के स्वरूप के उनकी तथता के उनकी तथता में अवगमन को लक्षित करते हैं। दूसरों शब्दों में, यह चेतना द्वारा अपनी विषयिता का अतिक्रमण और विषय की तथता में अवस्थान है। इस अतिक्रमण को ऐन्द्रिक विषयिता के विषयकरण के उदाहरण से और प्रखरता से देखा जा सकता है-हम भोजन का रसास्वादन करते हैं किन्तु कुशल रसोइया व्यंजन ठीक बनाया या नहीं इसके लिए आस्वाद को अपनी तटस्थ प्रेक्षकता का विषय बनाता है, हम चित्र में वर्ण-सौष्ठव का अनुभव करते हैं, कलाकार उस सौष्ठव को तटस्थ प्रेक्षकता का विषय बनाकर उसका चित्र में प्रयोग करता है। यह विषयिता का मौलिक रूपान्तरण है, यह विषयिता रूपांतरित होकर विषय बनती है-देखने वाले से पृथक्-बाहर अवलोक्य, आलोच्य, विवेच्य, ग्रहण में पक्षत: ग्राह्य और उस ग्रहण से स्वतंत्र, उसमें अनन्तर्भाव्य और परिणामत: ग्रहण के भ्रान्त होने की संभावना से युक्त। चेतना के इस आत्मविषयकरण को, जो उसकी

प्रत्यङ्मुखता से संभव होता है, उसकी विषयता से मुक्ति भी कह सकते हैं, क्योंकि इससे चेतना उस विषयिता से मुक्त होती है जो उसे विषयवृत्ति में आत्म-बहिष्कृत कर पारदर्शी द्रष्टृता से वंचित रखती है और विषय के स्वरूप को आवृत करती है, जो विषय-स्वरूप द्रष्टृता को ही गम्य हो सकता है, क्योंकि उसकी यह विषयिता वास्तव में वह आत्मगत परता होती है जिसे वह आत्मचेतन होकर विषयरूपेण आत्म-बहिष्कृत कर सकती है। जैसाकि हमने पीछे देखा, आत्मगत पर का यह बहिष्कार चेतना के लिए ज्ञातृरूपेण पूर्ण पारदर्शिता का प्रापक होता है। उपनिषद् ने जिसे सब ज्ञेयताओं से परे ज्ञाता कहा है-विज्ञातारं रे केन विजानीयात् ?- वह ज्ञाता चेतना की यह पारदर्शी ज्ञातृता ही होती है, इसी पारदर्शिता को योगी चित्त-वृत्ति-निरोध से और कलाकार, वैज्ञानिक, नीति-विचारक आदि अपने अपने विषयों की निरपेक्ष तथता पाने की साधना से सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। आत्मचेतन चेतना के ये उन्मेष चेतना के जगद्भाव में आद्य उन्मेष से नितांत भिन्न अर्थ-लोकों के प्रापक होते हैं। यह चेतना अनेक प्रकारक और अतल-अपार अर्थ-लोकों में विजृंभित होकर उनका साक्षात्कार करती है - कलाकार जैसे कला-कृति का अथवा ईश्वर जैसे अपने सृष्टजगत् का। ये अर्थ भी इन्द्रिय-विषयों के समान ही विषय होते हैं और परिणामत: उन्हीं के समान प्रमाणापेक्षी होते हैं। एक प्रकार से ये चेतना के निकटतम होते हैं क्योंकि ये इन्द्रियविषयों के समान देशगत नहीं होते बल्कि चेतना के अन्तर्गत ही होते हैं, किन्तु वास्तव में इनकी इस आन्तरता या ऐन्द्रिक विषयों की बाह्यता का यह भेद केवल भ्रान्त ही है। एक तो इनमें भी कुछ विषय बाह्य देशगत भी होते हैं-जैसे मूर्त्ति, चित्र, लेख और भौतिक वैज्ञानिक के विषय; दूसरे, जो विषय देशगत नहीं भी होते वे भी अदैशिक अर्थ में बाह्य ही होते हैं और सार्वजनिक तथा प्रमेय होते हैं। उदाहरण के लिए यहाँ प्रस्तुत विचार-विषय 'प्रमाण-स्वरूप' को ही लें। यह विमर्श का विषय है, इस विषय की हमारी सबकी संयुक्त समझ कम या अधिक सम्यक् या असम्यक् है और यह सम्यक्ता क्रमश: युक्ति-साध्य है। यह सब विचार-विषयों की प्रमा का स्वरूप है। इनसे भिन्न हमारी भावनाएँ, अपनी ज्ञेय-रूपता और सदसद्-रूपता में, हमारी विषय होती हैं। उदाहरणत: दु:ख, सुख, प्रेम, द्वेष, दया, करुणा, कृपणता, उदारता आदि हमारी अपनी अवस्थाएँ होती हैं जिनमें हम तादात्म्य रूप से रहते हैं, किन्तु आत्मचेतन चेतना के लिए ये अपने से बाहर, स्वतंत्र स्वरूपात्मक विषय रूप में ग्राह्य, और विमृश्य भी हो सकती हैं। ये विषय प्रमा के लिए इन्द्रियार्थों से कहीं अधिक जटिल होते हैं, ये हमारी अपनी अवस्थाएँ होने पर भी सार्वजनिक भी होते हैं, जिनको लेकर हम दूसरों से बात कर सकते हैं, उनसे परामर्श ले सकते हैं, उन्हें समझने में दूसरों से सहायता ले सकते हैं। मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण-प्रणाली हमारी मनोऽवस्थाओं की इसी सार्वजनीनता को पूर्वगृहीत करती है, यों नैतिक बोध और चित्त-वृत्ति-निरोध का प्रयत्न ये सब भी मनोऽवस्थाओं के इस रूपान्तरण को

पूर्वगृहीत करते हैं। इन वृत्तियों की सदसद्रूपता की प्रमा के लिए श्रुति, स्मृति और सदाचार को, और सबसे बढ़कर आत्म-प्रत्यक्ष को प्रमाण कहा गया है। इनकी यह प्रमाणता : आत्म-प्रत्यक्ष सहित : उसी प्रकार परतः प्रमाण या प्रमेय होती है जिस प्रकार हमारे इन्द्रिय विषयों की। एक लेख [५] में हमने रामकृष्ण परमहंस का उदाहरण दिया था कि किस प्रकार वे अपने अनुभवों की युक्तता के निर्धारण के लिए शास्त्र का साक्ष्य देखते थे। यहाँ एक अन्तर्विरोध है जिसका चेतना को अतिक्रमण करना होता है : चेतना जबकि द्रष्टृभाव को वैयक्तिक रूप से ही सिद्ध कर सकती है, उसे इस भाव की सिद्धि के लिए वैयक्तिकता का उपाधिरूपेण अतिक्रमण करना होता है। यों यह अतिक्रमण चेतना के आत्मचेतन होने की भी पूर्वापेक्षा है, इसलिए यह मनुष्य मात्र में भी न्यूनाधिक सिद्ध रहता है, किन्तु यह प्रयत्न से अधिकाधिक साध्य भी होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि मानवीय ज्ञान के अनेक आयाम हैं और उन आयामों के अनुसार अनेक प्रमेय और उनके प्रमाण हैं। दार्शनिकों ने प्रमाण- विचार में केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों और उनके विषयों को ही विषय बनाया है।

पी 51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, जयपुर-302015

यशदेव शल्य

---

५ *'अवभासित अर्थ और उनका सत्ता-सम्बन्ध'*, पूर्वोल्लिखित।

अध्याय : एक



प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी तंत्र-बद्धता और प्रतितंत्र के प्रति सहिष्णुता रही है। यहाँ पर आरम्भ से ही विभिन्न प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदायों का अस्तित्व रहा है जो अपने कुछ आधारभूत एवं मूलगामी मान्यताओं के साथ विकास के स्वकीय प्रारूप में विकसित होते रहे हैं। विकास की ऐसी बहुध्रुवीय लेकिन तंत्रकेन्द्रित गतिशीलता में भारतीय दर्शनों की विकासमानता ऊपर से दिखाई नहीं पड़ती। इसी कारण कुछ लोग इसे स्थावर हो गई परम्परा मान बैठते हैं। वास्तविकता जबकि यह है कि सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक, टीका एवं प्रकरणादि ग्रन्थों के माध्यम से भारतीय परम्परा में व्याख्याओं, पुनर्व्याख्याओं, यहाँ तक कि वैकल्पिक दृष्टियों के विकास की अन्तर्धारा युक्तिमत् रूप से अनवरत बर्द्धमान रही हैं। ब्राह्मण और बौद्ध विचारधारा के मध्य एक हजार से अधिक वर्षों का वैचारिक संघर्ष इसका ज्वलंत उदाहरण है। भारतीय दर्शन के समग्र विकास की दृष्टि से इस काल-खण्ड को स्वर्णिम युग कहा जा सकता है। इसी दौरान भारतीय दर्शन को चूड़ान्त समृद्धि एवं प्रखर आलोचनात्मकता प्राप्त हुई है। सत् विषयक दो भिन्न प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि[१] का प्रतिनिधित्व करती हुई दोनों परम्परायें आरम्भ से ही न केवल एक दूसरे के विरोध में पनपती रहीं बल्कि परस्पर एक दूसरे को विकास एवं परिष्कार की नई-नई प्रेरणायें भी प्रदान की हैं। बौद्ध धर्म का आविर्भाव ही यद्यपि वैदिक परम्परा के प्रति कुछ मूलभूत असहमतियों को लेकर हुआ है लेकिन दोनों परम्परा के दार्शनिक सम्प्रदायों के बीच खण्डन-मण्डन की संसदीय शुरूआत कुछ परवर्ती घटना है। बौद्ध पक्ष से इसकी स्पष्ट शुरूआत नागार्जुन से मानी जा सकती है। नागार्जुन से पूर्व बौद्ध दर्शन का विकास

उसके विभिन्न निकायों एवं सम्प्रदायों द्वारा अपने-अपने पक्ष में बुद्ध वचनों की अंध-रंजना और नग्न-व्यंजना तक सीमित था। नागार्जुन के आविर्भाव के साथ बौद्ध दर्शन पहली बार एक दार्शनिक पूर्वपक्ष की भूमिका में बाहर झांका और अपने चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय की सर्वसंहारक शैली में उस समय तक सूत्रबद्ध एवं प्रचलित ब्राह्मण और बौद्ध दर्शन के सम्प्रदायों की स्थापनाओं को ग्रास बना लिया। नागार्जुन से प्रारम्भ हुए इस ऐतिहासिक वाद-विवाद का अन्त कई एक स्तरों से गुजरते हुए रत्नकीर्ति के 'उदयन निराकरणम्' नामक ग्रन्थ में होता है। नैयायिकों के पक्ष से 'उदयन निराकरणम्' का प्रत्युत्तर दिया जाना अभी शेष है और इस तरह परस्पर संवाद की यह प्रक्रिया इस बिन्दु पर आकर स्थगितप्राय हो गई है।

I

ब्राह्मण परम्परा के दर्शनों में न्याय दर्शन ने न केवल इस ऐतिहासिक वैचारिक संघर्ष को लम्बे समय तक जीवन्त रूप में कायम रखा बल्कि सर्वाधिक प्रभावित भी हुआ है। न्याय दर्शन का बौद्ध दर्शन के साथ संघर्ष का व्यवस्थित इतिहास जितना महत्त्वपूर्ण और पसरा हुआ है उतना किसी अन्य दर्शन का नहीं। इसीलिए न्याय दर्शन का विकास और परिष्कार बौद्धों के प्रभाव में सबसे अधिक हुआ है। वैसे ही एक समय के बाद बौद्ध दर्शन का विकास और परिष्कार भी स्पष्ट रूप से न्याय दर्शन के प्रभाव में हुआ प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन और बौद्ध दर्शन के बीच खण्डन-मण्डन के प्राचीन सन्दर्भ यत्र-तत्र बिखरे हुए प्राप्त होते हैं परन्तु अन्य दर्शनों जैसे मीमांसकों एवं अद्वैतवेदान्तियों का महत्त्वपूर्ण योगदान इस संघर्ष को बाद में मिला। इस परस्पर विकास और परिष्कार के जड़ों की दार्शनिक गहराई को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारत से बौद्धधर्म का पलायन हो गया लेकिन बौद्ध दर्शन अपनी विशिष्टताओं के चलते भारतीय दार्शनिक वाङ्मय का अवियोज्य अंग बन गया है। वस्तुस्थिति यह है कि ब्राह्मण परम्परा और बौद्ध परम्परा के दार्शनिक निहितार्थ एवं निकष को एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में ही पूरे तौर से समझा जा सकता है।

इस पूरे संघर्ष प्रकरण में ब्राह्मण परम्परा की ओर से न्याय दर्शन ने केन्द्रीय और निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया है। यद्यपि उसे अपने शैशव काल से प्रौढ़ावस्था पर्यन्त दो प्रकार के प्रबल बौद्ध पक्षीय प्रहारों का सामना करना पड़ा लेकिन हर एक स्तर पर उसने अपना परिमार्जन करते हुए प्रतिवादों के आगे अपने तंत्र की प्रतिष्ठा की है। इसमें पहला प्रहार नागार्जुन के द्वारा हुआ जिसके स्पष्ट सन्दर्भ विग्रहव्यावर्त्तनी और वैदल्यसूत्र नामक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। यह प्रतिवाद अपनी प्रकृति में तार्किक पूर्वपक्ष और ऐतिहासिक पूर्वपक्ष नामक दोनों ही रूपों में जितना विस्थापक उतना ही विध्वंसात्मक भी था। नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्त्तनी एवं शून्यतासप्तति की रचना अपने पक्ष में सम्भावित युक्तिविरह और आगम विरोध के प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए किया था लेकिन इसी क्रम में उसने नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा की मूल भित्ति 'मानाधीना मेयसिद्धिः' का खण्डन चारों तरफ से घेरकर किया है। वैदल्यसूत्र में नागार्जुन ने गौतम कृत लक्षण निर्देशक न्यायसूत्रों का शब्दशः और सूत्रानुसारी रूप में खण्डन

करते हुए नैयायिकों के सम्पूर्ण वैचारिक ढाँचे को ही विप्रतिषेध युक्त बताया है। इस ग्रन्थ के प्रतिज्ञा वाक्य में ही कहा गया है कि "तर्क और ज्ञान के अभिमान से जो (नैयायिक) वाद करना चाहते हैं, उनके इस अहंकार नाश के लिए मैं (नागार्जुन) वैदल्यसूत्र की रचना करता हूँ।"[२] नागार्जुन के प्रतिवादों की विस्थापकता पर गहराई से विचार करते हुए कहा जा सकता है कि इसके फलस्वरूप नैयायिकों को अपने तंत्र एवं स्थापनाओं को पुन:रचित और पुनर्गठित करना पड़ा है। यह महान कार्य सम्भवत: वात्स्यायन ने न्यायसूत्रों पर भाष्य लिखते हुए आत्मगोपन पूर्वक किया है। विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्र तथा न्यायसूत्र एवं न्यायभाष्य के अन्त:पदीय तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट रूप से प्रकाश में आती है।[३]

पुन: बौद्ध दर्शन के पक्ष से न्यायदर्शन और उसके कुछ सजातीय तंत्रों के प्रति दूसरे स्तर का विरोध तर्कपुंगव दिङ्नाग से प्रारम्भ होता है। इस विरोध की प्रकृति नागार्जुनीय प्रतिवादों की तरह विध्वंसात्मक नहीं बल्कि संशोधनात्मक रही है। दिङ्नाग के विरोध को संशोधनात्मक कहने का तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा प्रतितंत्र में दोषोद्भावन पूर्वक स्वपक्ष की युक्तिपुरस्सर प्रतिष्ठा की गई है। इसके परिणामस्वरूप बौद्धों एवं नैयायिकों के मध्य अन्त:पदीय समझदारी के साथ एक सघन वाद-प्रतिवाद की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ और दोनों ही दर्शनों का अभूतपूर्व उत्तरोत्तर विकास हुआ है। दिङ्नाग ने अपने "प्रमाण समुच्चय" में नैयायिकों को लक्ष्य करते हुए उन्हें 'कुतर्कसंभ्रान्तजन' कहा है[४] और गौतम के आधारभूत प्रमाणशास्त्रीय अभ्युपगमों का इस तरह खण्डन किया कि उद्योतकर भारद्वाज की गौतमोद्धार के लिए 'न्यायवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ का प्रणयन करना पड़ा। उद्योतकर ने बौद्धों को कुतार्किक[५] कहा और उनकी अज्ञान निवृत्ति को ही अपने न्यायवार्त्तिक ग्रन्थ का प्रयोजन बताया है। धर्मकीर्ति ने पुन: 'प्रमाण समुच्चय' पर 'प्रमाणवार्त्तिक' लिखकर नैयायिकों के साथ मीमांसकों को समेटते हुए उनका खण्डन किया और उद्योतकर के आक्षेपों से आगे अपने पक्ष की प्रतिष्ठा की है। धर्मकीर्ति[६] ने प्रमाणवार्त्तिक के प्रणयन का उद्देश्य बताते हुए कहा है कि "प्राय: पृथक्जनों की आसक्ति न्यायादि प्राकृत शास्त्रों में होती है। सौगत सुनिबन्धों के ग्रहण की शक्ति भी उनमें नहीं। इतना ही नहीं, बौद्ध-सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थों से वे द्वेष भी रखते हैं। अत: हमारे इस सुनिबन्ध के द्वारा उनका कुछ ज्ञान-लाभादि उपकार होगा, ऐसी स्वप्न में भी सम्भावना नहीं। हाँ, मैं (धर्मकीर्ति) तो दीर्घकाल से जिस विषय का अभ्यास और मन्थन कर रखा है, उसके प्रचार-प्रसार की लालसा से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह मात्र कर रहा हूँ।" यहाँ अवधेय कि मीमांसकों के पक्ष से बौद्धमत का खण्डन करनेवाला महान ग्रन्थ 'श्लोकवार्त्तिक' धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक से पहले रचा गया प्रतीत होता है। श्लोकवार्त्तिक में यत्र-तत्र न्यायविद् पद से दिङ्नाग का ही सम्बोधन एवं उसकी उपस्थापनाओं का खण्डन भी प्राप्त होता है। धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणवार्त्तिक में कुमारिल की पंक्तियों का अक्षरश: खण्डन किया है। तदनन्तर न्याय पक्ष से वाचस्पति मिश्र की अप्रतिम कृति 'न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका' उद्योतकर के

पुनरोद्धार में प्रणीत हुई है। वाचस्पति मिश्र[७] ने बौद्ध कुतार्किकों के दुस्तर पंक में निमग्न उद्योतकर की वाग्गायों का समुद्धार ही अपनी तात्पर्य टीका का प्रयोजन बताया है। इसके पश्चात् प्रज्ञाकर गुप्त ने 'प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य' लिखकर तथा शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' नामक महान ग्रन्थ की रचना कर वैदिक परम्परा के सभी दर्शनों की समीक्षा करते हुए बौद्धमत की महती प्रतिष्ठा की है। न्याय परम्परा में पुन: वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका पर उदयन ने 'परिशुद्धि' नामक विवृतात्मक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'आत्मतत्त्वविवेक' नामक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विशेष रूप से बौद्धमत के खण्डनार्थ ही लिखा है। न्याय परम्परा में इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि 'बौद्धधिक्कार' के रूप में हुई है। नैयायिक इसे ही बौद्ध प्रतिवाद हेत्वर्थक अन्तिम वाक्य समझते है। यद्यपि ज्ञानश्री मिश्र का पंक्तिश: खण्डन उदयनाचार्य की रचनाओं में मिलता है[८] तथापि रत्नकीर्ति ने 'उदयन निराकरणम्' नाम से एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही लिखा है। अतएव आज यदि इस रुकी हुई संवाद परम्परा को फिर से आगे बढ़ाना है तो नैयायिकों से ही यह अपेक्षा की जाती है कि आगे आयें और 'उदयन निराकरणम्' का निराकरण करते हुए बौद्धों के समक्ष एक नई चुनौति को उपस्थापित करें।

इस प्रकार दिङ्नाग से आरम्भ हुए 'न्याय-बौद्ध-वाद-विवाद' की उपर्युक्त रूप-रेखा से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतीय दर्शन के क्षितिज पर दिङ्नाग का उदय किस प्रकार से एक उपष्टम्मक की भूमिका में होता है। साथ ही साथ 'प्रमाण समुच्चय' ग्रन्थ की प्रभावमत्ता कितनी अधिक रही होगी कि उसके बाद न्याय और मीमांसा दर्शन के अधिकांश आकर ग्रन्थ संकल्प पूर्वक उसकी प्रतिक्रिया में प्रणीत हुए हैं। भाष्य, वार्त्तिक एवं टीका ग्रन्थों की परम्परा में अपनी स्वायत्तता होती है, लेकिन दो परम्परा में ऐसे ग्रन्थों का प्रतिक्रियात्मक प्रणयन पूर्वपक्ष की परस्पर शक्तिमत्ता को ही द्योतित करता है। इससे इस बात पर भी पर्याप्त रूप से प्रकाश पड़ता है कि वाद-विवाद के इस ऐतिहासिक प्रकरण ने भारतीय दर्शन के सम्पूर्ण विकास को समेकित और सम्पोष्य रूप से प्रभावित किया है।

II

इस परिप्रेक्ष्य में दिङ्नाग का महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है जब हम उसकी पहलकारी भूमिका को नागार्जुनीय प्रतिवाद से जोड़कर देखते हैं। इसके लिये यद्यपि सीधे-सीधे कोई ग्रन्थगत साक्ष्य नहीं प्रस्तुत किये जा सकते परन्तु वैचारिक विकास के क्रम में देखने पर यह तथ्य दिङ्नाग की रचनात्मक भूमिका को द्विगुणित कर देता है। नागार्जुन की मौलिकता इस बात में निहित है कि उसकी शैली सर्वसंहारक है। वह दृष्टिमात्र की परीक्षा करता है और सभी दृष्टियों अथवा सिद्धान्तों के ऐतिहासिक रूप या उनके तार्किक अवधारण के समक्ष संशोधन का प्रस्ताव नहीं करता बल्कि उन्हें सर्वतोभावेन् निरस्त ही करता है। यही कारण है कि परम्परा में समवेत रूप से नागार्जुन के प्रभावों को बहुत सकारात्मक रूप से आत्मसात् नहीं किया गया और वह अपने ढंग का एक अकेला व्यक्ति बनकर रह जाता है। उसका दर्शन एक ऐसे दर्शन के रूप में सामने आता है जो निन्दित अधिक हुआ और थोड़ा ही सम्मानित।[९] इसके बावजूद भी

यदि नागार्जुन के प्रभावों को दूरवर्ती रूप से रेखांकित करने का प्रयास किया जाय तो इस संदर्भ में दो-तीन महत्त्वपूर्ण बातें कही जा सकती हैं। इसमें पहला तो यह कि नागार्जुनोत्तर काल में विवर्त्तवादी दार्शनिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला है। इसे योगाचार के विज्ञानाद्वैत, वैयाकरणों के शब्दाद्वैत और अद्वैत वेदान्त के ब्रह्माद्वैत के विकास में देखा जा सकता है। यह सम्भव है कि इन दर्शनों की विवर्त्तवादी प्रवृत्तियों को नागार्जुन से ही प्रेरणा प्राप्त हुई हो। दूसरा यह कि नागार्जुन की खण्डनात्मक शैली से प्रेरणा पाकर परवर्ती काल में दो प्रकार की वैतण्डिक पद्धतियों का जन्म हुआ, जिसके पुरस्कर्त्ता जयराशि भट्ट और श्रीहर्ष माने जा सकते हैं। यह बात अलग है कि दोनों ने इसका विनियोग अपनी-अपनी साम्प्रदायिक निष्ठा के अन्तर्गत किया है तथापि तीनों के बीच पद्धतिमूलक समानता की अनदेखी नहीं की जा सकती। तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि नागार्जुनोत्तर काल में प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के क्षेत्र में आमूल पुन:रचना की आवश्यकता महसूस की गई, क्योंकि 'प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि' की सर्वतंत्र स्वतंत्र समझी जाने वाली प्रमाणमीमांसा का नागार्जुन के द्वारा विग्रहव्यावर्त्तनी और वैदल्यसूत्र में जिस तरह से खण्डन किया गया है उससे प्रमाणमीमांसा पर आगे विचार करने के सारे रास्ते एक तरह से अवरूद्ध हो गये थे। नागार्जुनोत्तर काल में प्रमाणमीमांसा के पुनरोद्धार का प्रश्न भारतीय दर्शन के इतिहास में एक अत्यन्त अहं प्रश्न है। वास्तव में देखा जाय तो नागार्जुन के सर्वसंहारक पूर्वपक्ष से दिङ्नाग की बौद्धपक्षीय रचनात्मक भूमिका इसी प्रश्न के आगे प्रसूत होती है।

द्रष्टव्य है कि नागार्जुन प्रमाणों की परीक्षा करते हुए उनकी नि:स्वभावता को प्रकट करता है और उनके औचित्य को सांवृत्तिक धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है। सांवृत्तिक अभ्युपगमों का कोई परिनिष्ठित सिद्धान्त-पक्ष नहीं होता बल्कि व्यावहारिक व्यवस्था के रूप में उन्हें यथा-तथा अपनी सुविधा के अनुसार अपना लिया जाता है।[१०] इस रूप में प्रमाणों की भूमिका लोक-व्यवहार तक सीमित हो जाती है और समस्त प्रमाण-व्यापार तत्त्व-निर्णय और उनकी सिद्धि के वास्तविक अधिकार से वंचित हो जाते हैं। नागार्जुन की ऐसी उपस्थापना उस परम्परा के लिए बहुत ही चुनौतिपूर्ण कही जा सकती है जिसमें सैद्धान्तिक रूप से 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थिति:' और सांस्कृतिक रूप से 'प्रमाणं प्राणनिलय: प्राणभृत प्राणजीविन:' को स्वीकार किया गया हो। परन्तु न्याय परम्परा ने इस चुनौति को उतने ही गम्भीरता से लिया है, ऐसी बात नहीं कही जा सकती। वात्स्यायन ने न्यायसूत्रों पर भाष्य लिखते हुए अवश्य ही विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्र में उठाये गये विप्रपत्तियों का स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया है लेकिन सद्य: प्रस्तुत पूर्वपक्ष का गोपन उनके प्रयास की न्यूनता को भी संकेतित करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमाणों की सांवृत्तिकता को न्याय परम्परा ने अपने लिए बहुत कष्टकर नहीं माना। चन्द्रकीर्ति भी अपनी प्रसन्नपदा व्याख्या में सांवृत्तिक रूप से न्यायसम्मत् 'प्रमाण चतुष्टय' का अनुमोदन करने से विशेष परहेज नहीं करते।[११] यहाँ नागार्जुन के द्वारा उत्थापित एक प्रश्न प्रमाणों के लोकसम्मत औचित्य के लिए भी

महत्त्वपूर्ण बना ही रहता है और वह है - 'प्रमाणसिद्धि' का प्रश्न। अवधेय है कि नागार्जुन ने 'मानाधीना मेयसिद्धि:' के अभ्युपगम में 'मानसिद्धि' को लेकर मूलोच्छेदक अनवस्था को दिखाया है। न्यायपरम्परा में इसके लिए 'मानसिद्धिश्च लक्षणात्' की पद्धति अपनायी गई और पूरी परम्परा ने इसे बड़े गर्व के साथ स्वीकार किया है। यह माना गया कि एक-एक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने से ऋषि भी पदार्थों के अन्त तक नहीं पहुँच सकते हैं, किन्तु हम नैयायिक लोग सिद्ध पदार्थों के लक्षण की सहायता से पदार्थों के अन्त तक पहुँच जाते हैं। यद्यपि परवर्ती काल में जयराशि भट्ट और श्रीहर्ष के लक्षणोच्छेदी अभियान के समक्ष नैयायिकों की लक्षण पद्धति की इयत्ता अपने आप प्रकट हो जाती है। कुल मिलाकर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि नैयायिकों ने नागार्जुनीय पूर्वपक्ष को उतने गम्भीरता से नहीं लिया जितने गम्भीरता और विस्थापक अभिप्राय से उसे प्रस्तुत किया गया था। येन-केन प्रकार से न्याय दर्शन का स्वकीय विकास स्वारूढ़ प्रारूप में ही अपनी निरन्तरता को बनाये रखा है। उदयनाचार्य जैसे महान नैयायिक भी माध्यमिकों की विचार सरणी को एक विचित्र प्रकार की मानसिक भ्रान्ति से ग्रस्त चिन्तन मानते हैं। यह नागार्जुन की उपेक्षा नहीं बल्कि उसके प्रति स्वकीय उदासीनता ही है।

III

अब यदि नागार्जुनोत्तर काल में प्रमाणमीमांसा की दिङ्नागीय पुन:रचना पर विचार करें तो कहा जा सकता है कि दिङ्नाग के पूर्व बौद्ध प्रमाणशास्त्र की कोई स्पष्ट रूप-रेखा स्थापित नहीं हुई थी। अज्ञात कर्तृक 'तर्कशास्त्र' एवं 'उपायहृदय' तथा असङ्गकृत 'योगाचारभूमि' और वसुबन्धुकृत 'वादविधि' नामक ग्रन्थों में प्रमाण विषयक जो बीज-प्रत्यय प्राप्त होते हैं, उन्हें वाद-परम्परा से सम्बन्धित चिन्तन कहा जा सकता है। यह न्यूनाधिक रूप से उसी प्रकार का चिन्तन है जैसा कि ब्राह्मण परम्परा में मनु, कौटिल्य और चरक इत्यादि में वाद-विधि से सम्बन्धित विचार मिलते हैं। इसे एक साधारण कोटि का तर्कशास्त्रीय चिन्तन कहना अनुचित नहीं होगा जिसका विकास ब्राह्मण एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में पहले हुआ और बाद में प्रमाणशास्त्र का सम्यक् विकास हुआ है। यद्यपि प्रमाणशास्त्र के विकास में वाद-परम्परा के मूलभूत प्रत्ययों का भरपूर उपयोग भी हुआ है तथापि ऐतिहासिक विकासक्रम में दोनों के उद्देश्यों को अलग-अलग रेखांकित किया जाना अधिक समीचीन दृष्टि हो सकती है। इसमें पहले का लक्ष्य एक लोकोपयोगी संसदीय विचार पद्धति है तो दूसरे में एक विशेष प्रकार के तत्त्वमीमांसीय लक्ष्य को संरक्षित करने का व्यापक उद्देश्य चरितार्थ हुआ है। यदि इसे स्वीकार नहीं किया जाय तो भारतीय दर्शन में प्रमाणमीमांसा के सम्प्रदाय केन्द्रित विकास और उसके निहितार्थ को समझा नहीं जा सकता।

दिङ्नाग वह पहला व्यक्ति है जिसने बौद्ध सम्मत प्रमाणमीमांसा की परिच्छेदित रूप-रेखा बनायी और उसे अन्यव्यावृत्त स्वायत्तता में स्थापित करने का प्रयास किया है। एक ओर दिङ्नाग के समक्ष नैयायिकों का समृद्ध प्रमाणमीमांसीय चिन्तन लम्बित था तो दूसरी ओर नैयायिकों को सम्मिलित करते हुए प्रमाणमीमांसा मात्र को लक्ष्य करनेवाला नागार्जुन का अत्यन्त विस्थापक पूर्वपक्ष। नैयायिकों की

प्रमाणमीमांसा आत्मवाद और स्थैर्यवाद का पोषण करती है और नागार्जुन की समीक्षा समस्त प्रमाण-व्यापार को सांवृत्तिक भूमिका तक सीमित कर देता है। इसलिए दिङ्नाग ने 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा' को अपना स्वयुथ्य पक्ष बनाया और उसे अनात्मवाद तथा क्षणिकवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। ऐसा करते हुए दिङ्नागीय प्रमाणमीमांसा एक ओर नैयायिकों के 'मानाधीना मेयसिद्धि:' के विरोध में खड़ा होता है तो दूसरी ओर नागार्जुन द्वारा 'मानाधीना मेयसिद्धि:' के चतुर्दिक खण्डन का उचित विकल्प प्रस्तुत करता है। यहाँ अवधेय है कि विग्रहव्यावर्त्तनी में नागार्जुन ने 'प्रमाण से प्रमेय सिद्धि' का खण्डन तो स्वतंत्र रूप से किया है लेकिन 'प्रमेय से प्रमाणसिद्धि' का खण्डन उन्होंने स्वतंत्र रूप से न कर 'प्रमाण से प्रमेयसिद्धि' के खण्डन को ही पुष्ट करने के लिए किया है। नागार्जुन के सन्दर्भ में प्रमाणमीमांसा के दिङ्नागीय प्रस्थान को उचित रूप में समझने के लिए विग्रहव्यावर्त्तनी के इस आकर स्थल को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है।[१२] दिङ्नाग जब यह कहता है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक विषय द्वैविध्य के चलते प्रमाण न तो एक और न तृतीयादि बल्कि प्रत्यक्ष और अनुमान नामक दो ही हो सकते हैं तो इस अभ्युपगम की मूल समस्या प्रमाणसिद्धि विषयक मूलोच्छेक अनवस्था नहीं रह जाती है बल्कि प्रमाण निरपेक्ष विषय द्वैविध्य की उपस्थापना उसकी केन्द्रीय समस्या बन जाती है। बौद्ध नैयायिक इसका समाधान 'द्वैराश्य भेद' के सिद्धान्त द्वारा करते हैं। यह बौद्ध न्याय का एक ऐसा स्थल है जिस पर अभी और गहराई से विचार किया जाना अपेक्षित है।

इस प्रकार भारतीय दार्शनिक चिन्तन में दिङ्नाग से प्रमाणमीमांसा के एक नवीन प्रस्थान का प्रारम्भ होता है। इसे प्रमाणशास्त्र के गौतमीय प्रस्थान के समानान्तर 'बौद्धप्रस्थान' कहा जाना अधिक उचित होगा। दिङ्नागोत्तर काल में न्याय-बौद्ध-संघर्ष के परिणामस्वरूप इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। बौद्ध परम्परा में इसकी प्रतिष्ठा एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में हुई है जिसे स्वतंत्र विज्ञानवाद अथवा युक्तानुयायी विज्ञानवाद के नाम से जाना जाता है। यह स्वाभाविक है कि इनका प्रमाणमीमांसीय चिन्तन प्रथम दृष्ट्या इनकी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि में मूलित है परन्तु लाघव दृष्टि से इसे बौद्ध दर्शन के सभी सम्प्रदायों के लिए, थोड़े बहुत मतभेदों के साथ, उपादेय कहा जा सकता है। प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन की कुछ अपनी तथ्यात्मकतायें और अपेक्षायें होती हैं। इस कारण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति की प्रमाणमीमांसा बाह्यार्थवादी वैभाषिक, सौत्रान्तिक से निकलता हुआ निरालम्बनवादी योगाचार के विज्ञप्तिमात्रतावाद की ओर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है।[१३] बाद में माध्यमिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी सांवृत्तिक धरातल पर दिङ्नाग, धर्मकीर्ति के प्रमाणद्वित्ववाद को ही स्वीकृति मिली है।

अवधेय है कि प्रमाणमीमांसा के सभी प्रश्नों का समाहार प्रमाणों की संख्या, लक्षण, विषय और फल के निर्धारण में होता है। कोई भी प्रमाणमीमांसा इन्हीं प्रश्नों के अन्य व्यावृत्त निर्धारण में अपने वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करती है। दुर्वेक मिश्र[१४] ने भारतीय दर्शन में प्रमाण विषयक संख्या, लक्षण, विषय और फल सम्बन्धी विप्रतिपत्तियों

को बड़े ही सुन्दर ढंग से इस प्रकार रेखांकित किया है - *"तथा हि संख्या विप्रतिपत्तिस्तावत् प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति लोकायतिकानाम् । प्रत्यक्षानुमानाप्त-वचनानि त्रीण्येव प्रमाणानीति सांख्यानाम्। आर्षज्ञानस्य प्रतिभापरनाम्न: कदाचिदिह लौकिकानामुत्पद्यमानस्य प्रत्यक्षा नुमानयोरेकत्राप्यन्तर्भावा प्रदर्शनात्प्रत्यक्षा नुमानार्षाण्येवेति चिरन्तन वैशेषिकाणाम् । प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा एवेति नैयायिकानाम् । प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्तय एवेति प्राभाकराणामिति । प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दार्थापत्त्यभावा एवेति कौमारिलानाम् । लक्षणविप्रतिपत्तिरपि-सविकल्पकमेव प्रत्यक्षमिति वैयाकरणबार्हस्पत्यादीनाम् । सविकल्पकं निर्विकल्पकं चेति नैयायिक मीमांसकादीनाम् । पीतशंखादिविज्ञानं भ्रान्तमपि प्रत्यक्षमित्यंशसंवाद-वादिनाम् । एकलक्षणहेतुजमनुमान-मित्यह्लीकाणाम् । षड्लक्षणहेतुजमिति पूर्वयौगानाम् । पन्चलक्षणहेतुजं चतुर्लक्षणहेतुजं चेति नैयायिकानाम् । विषयविप्र-पत्तिरपि—सामान्य विषये प्रत्यक्षानुमाने इति नैयायिकमीमांसकादीनाम् । फल विप्रतिपत्तिरपि—सर्वेषां प्रमाण व्यतिरिक्तमेव प्रमारूपं फलमिति ।"*

दुर्वेक मिश्र का यह निरूपण उस समय तक प्रचलित दार्शनिक मतों को ध्यान में रखते हुए किया गया है। परन्तु भारतीय दर्शन के अन्यान्य सम्प्रदायों को भी उपर्युक्त चतुर्विध विप्रतिपत्तियों और तत्सम्बन्धी वैकल्पिक निर्धारणों में सम्मिलित किया जाय तो इसे और भी विस्तार देना पड़ेगा। बौद्ध नैयायिकों ने इन सभी प्रश्नों पर अपने पक्ष को बहुत ही मौलिक ढंग से रखा है। संख्या सम्बन्धी विप्रतिपत्ति की समीक्षा करते हुए बौद्ध न्याय में 'प्रमाणद्वित्व' को अन्तिम रूप से स्वीकार किया गया है।[15] पुन: इस संन्दर्भ में बौद्ध नैयायिकों ने प्रमाण सम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था तथा प्रमाणान्तर्भाव की समस्या पर गम्भीरता से विचार किया है। दिङ्नागोत्तर काल में इन दोनों समस्याओं का विकास एक स्वतंत्र प्रमाणमीमांसीय प्रकरण के रूप में हुआ है। लक्षण विषयक विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में बौद्ध यावत् निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष और निखिल सविकल्पक ज्ञान को अनुमान की कोटि में रखते हैं। विषय विप्रतिपत्ति की समीक्षा करते हुए बौद्ध नैयायिकों ने प्रत्यक्ष को स्वलक्षण विषयक तथा अनुमान को सामान्यलक्षण विषयक माना है। अवधेय है कि बौद्ध नैयायिकों का स्वलक्षण न तो नैयायिकों का विशेष पदार्थ है और न हि सामान्यलक्षण उनके सामान्य पदार्थ के समतुल्य है। पुन: इस समस्या पर और अधिक गहराई से विचार करते हुए प्रत्येक प्रमाण के ग्राह्य-विषय और अध्यवसेय-विषय का अन्तर किया गया है। भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में बौद्ध नैयायिकों का यह विचार बिलकुल ही अभिनव प्रकार का है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण है लेकिन उसका अध्यवसेय सामान्यलक्षण होता है। उसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण है लेकिन उसका अध्यवसेय स्वलक्षण होता है। फलविषयक विप्रपतिपत्ति के सम्बन्ध में भी बौद्ध नैयायिकों का विचार अत्यन्त ही मौलिक है। बौद्धेत्तर सभी दर्शनों में जहाँ प्रमाण और प्रमाण फल के भेद को स्वीकार

किया गया हैं वहीं एक मात्र बौद्ध नैयायिक ही प्रमाण और प्रमाण-फल में अभेद की स्थापना करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध न्याय में प्रमाणमीमांसा के आधारभूत प्रश्नों पर आरम्भ से ही बिलकुल अलग दृष्टिकोण अपनाया गया है। इन प्रश्नों को लेकर बौद्धेत्तर दर्शनों के बीच भी कम मतभेद नहीं रहे हैं लेकिन बौद्ध नैयायिकों के एतद्विषयक अन्यव्यावर्त्तक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जाने से भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय मतभेदों को और अधिक स्पष्टता प्राप्त हुई है। इसके परिणाम स्वरूप प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में नये-नये प्रश्नों की उद्भावना हुई और उनके उत्तर के प्रयास में वैकल्पिक सैद्धान्तिक निर्धारणों का विकास हुआ है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दिङ्नागोत्तर काल में भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन अधिक संगठित और योजनाबद्ध रूप में सामने आया है। इस योजनाबद्धता के चलते ही कुछ प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्त दार्शनिक सम्प्रदायों की सम्प्रदाय केन्द्रित निष्ठा से ऊपर अपनी स्वायत्तता को स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं। प्रकारान्तर रूप से विकसित ऐसे सिद्धान्तों की पहचान वैसे प्रमाणमीमांसीय प्रकरणों के रूप में की जा सकती है जिनका सरोकार भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों से होता है और उन सभी के लिए तद्विषयक स्वपक्ष स्थापन एवं परपक्ष खण्डन अनिवार्य समझा जाता है। मौटे तौर पर ऐसे प्रकरणों को संवित्प्रकाशवाद, ज्ञानाकारवाद, विषयतावाद, प्रामाण्यवाद, ख्यातिवाद, सन्निकर्षवाद, प्राप्यकारित्ववाद, प्रमाणसम्प्लववाद, प्रमाणान्तर्भावविवाद, व्याप्तिवाद इत्यादि के रूप में इंगित किया जा सकता है। यद्यपि प्रमाणमीमांसीय प्रकरणों की यह सूची न तो क्रमबद्ध है और न ही अन्तिम, बल्कि इनकी संख्या और अधिक बढ़ाई जा सकती है। यहाँ तक कि कुछ नये प्रकरणों की पहचान और पुराने को और अधिक विकसित किया जाना भी सम्भव है। इन प्रकरणों का महत्त्व इस बात में निहित है कि ये प्रमाणों की संख्या, लक्षण, विषय और फल सम्बन्धी मतभेदों की पृष्ठभूमि में पार्श्व-सिद्धान्त की तरह होते हैं। इनके अधिकरणत्व में ही प्रमाणमीमांसीय मतभेदों को सैद्धान्तिक आधार प्राप्त होता है और तद्विषयक वैकल्पिक निर्धारण आकार ग्रहण करते हैं। अतएव इन्हें अधिक उचित रूपमें प्रमाणदार्शनिक अवधारणायें अथवा अधिप्रमाणमीमांसीय सिद्धान्त कहा जा सकता है।

IV

अब यहाँ भारतीय दर्शन में प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के स्वरूप से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थापित होता है कि प्रमाणमीमांसा के आधारभूत प्रश्नों और निष्कर्षों में जो भेद और वैकल्पिकता दिखाई पड़ती है, उसे किस प्रकार समझा जाय ? इन भेदों की प्रकृति न तो आनुभाविक है और न ही उन्हें उनसे सम्बन्धित प्रश्नों की तार्किक संरचना की सीमा में ही समझा जा सकता है। ऊपर से देखने पर किसी प्रमाणामीमांसा की वैकल्पिकता और उसके भेदपूर्ण निहितार्थ दृष्टिगत भी नहीं होते, क्योंकि दृष्टिकोणों की वैकल्पिकता वास्तव में तुलनात्मक चेतना में प्रतिफलित होती है। परन्तु दो या दो से अधिक दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के आधारभूत मतभेदों

को जब मूलगामी रूप से समझने का प्रयास किया जाता है तो हमें उनके नेपथ्य में झांकना पड़ता है और तब वहाँ सारे मतभेदों का पर्यवसान वैकल्पिक तत्त्वमीमांसीय पूर्वग्रह में होता है। कोई भी प्रमाणमीमांसा अपने विकसित रूप में अवश्य ही कुछ ऐसे तत्त्वों और तज्जन्य प्रभावों को अन्तर्गृहीत किये रहती है जिनकी व्याख्या प्रमामीमांसीय उपकरणों और उनके बनावट की ऊपरी ढ़ाँचे में आनुभविक रूप से सम्भव नहीं होता। वास्तव में ऐसे तत्त्वों और तज्जन्य प्रभावों की प्रकृति अधितार्किक और अधिप्रमाणमीमांसीय होती है। कोई भी प्रमाणमीमांसा इस प्रकार के अधितार्किक और अधिप्रमाणमीमांसीय प्रभावों को अनिवार्यत: अपने तत्त्वमीमांसीय स्रोतों से अवाप्त कर उन्हें आत्मसात् करती है और इस तरह अपने विशिष्ट स्वरूप को अधिकाधिक सुसंगत रूप में प्रतिष्ठापित करती है। संक्षेप में हमारा अभिप्राय यह है कि प्रमाणमीमांसा को तत्त्वमीमांसा से वियुक्त नहीं किया जा सकता। यदि हम कोई तात्त्विक पूर्वकल्पना नहीं कर लेते हैं तो हम अपने ज्ञान का विश्लेषण करना भी नहीं जानते हैं। सम्पूर्ण प्रमाण-व्यापार की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। हम इसी से आरम्भ करते हैं और इसी में लौट आते हैं। हम अपने प्रमाण-सिद्धान्त के द्वारा लोकानुभव और लोकप्रतीति को व्यवस्थित एवं ससम्मान व्याख्यायित करते हुए उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचते हैं जो हमारी तत्त्वमीमांसा के अनुकूल होते हैं।

भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रमाणमीमांसा की इस नियति को बौद्ध नैयायिकों ने स्पष्टतया स्वीकार किया है जबकि बौद्धेत्तर प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हुए नैयायिक इस तथ्यात्मकता को स्वीकार करने में संकोच करते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में वैकल्पिक दृष्टियों और तत्सम्बन्धी निर्धारणों की तंत्रकेन्द्रित प्रतिबद्धता का प्रत्यकश: विश्लेषण एवं तुलना करते हुए उन्हें उनकी तत्त्वमीमांसा में खोला जा सकता है। वस्तुत: किसी प्रमाणमीमांसा का विश्लेषण और तुलना के द्वारा उसे उसकी तत्त्वमीमांसा में खोलना एक प्रमाणदार्शनिक क्रिया है, जिसका पद्धतिमूलक पक्ष अधिप्रमाणमीमांसीय विश्लेषण होता है। अधिप्रमाण-मीमांसीय विश्लेषण को प्रमाणमीमांसा की वैकल्पिक दृष्टियों के मध्य वैकल्पिकता के द्वन्द्व में चरितार्थ होने वाला एक उच्चस्तरीय प्रतिवर्ति चिन्तन से अभिहित किया जा सकता है। इसे तुलनात्मक दर्शन का एक कल्प विशेष भी कहना अनुचित नहीं होगा जो तुलनात्मक प्रमाणमीमांसा के रूप में फलिभूत होता है। तुलनात्मक चेतना वैकल्पिकता के द्वन्द्व की एक पृष्ठभावी क्रिया होती है और इसके फलस्वरूप वैकल्पिक दृष्टियों की निजता, उनकी प्रातिस्विकता पहचानी जाती है कि कोई विकल्प ऐसा ही क्यों है, क्यों नहीं अन्यथा है। यह प्रतिवर्ति चिन्तन अथवा विमर्शात्मक चेतना की अपेक्षाकृत एक उच्च अवस्था होती जहाँ दृष्टियों की प्रातिस्विकता के निर्धारक घटकों का प्रकटीकरण सम्भव हो पाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'प्रमाण दर्शन' पद का प्रयोग हमने अधिप्रमाणमीमांसीय विश्लेषण-पद्धति के उपर्युक्त अर्थों में ही किया है। इस अभिगम का अनुप्रयोग करते हुए

हमने बौद्ध प्रमाणशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों को केन्द्रीय सन्दर्भ बनाया है और आद्यन्त रूप से यह दिखाने का प्रयास किया है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन किस प्रकार लोकानुभव का समादर करते हुए 'तत्त्वमीमांसा' को विरासत भाव से अनुगृहीत किये रहती है। इस दृष्टि से प्रमाणमीमांसीय अनुवीक्षा और कुछ नहीं बल्कि अपने मूलगामी स्वरूप में 'तत्त्वमीमांसा' जो मानवीय चेतना में आध्यात्मिक प्रवृत्ति और गोत्र-भेद के साथ सहज रूप में अन्तर्विष्ट रहती है, उसके प्रति आत्मचेतन होने का उपक्रम है। यही कारण है कि भारतीय दर्शनों का प्रमाणमीमांसीय पक्ष अपने विकासमान स्वरूप में उत्तरोत्तर अन्यव्यावृत्त तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही उजागर करता है। अतएव निष्कर्षात्मक रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के प्रमाणमीमांसीय निर्धारणों एवं निष्कर्षों में अन्तहीन भेद तत्त्वमीमांसा मूलक हैं और भेदपूर्ण तत्त्वमीमांसीय अभिवृत्ति को व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों अथवा गोत्रमूलक भेद की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। 'बौद्धप्रमाण दर्शन' नामधेय इस कृति का अवधारणात्मक एवं पद्धतिमूलक मूल्य भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के ऐसे ही मूलगामी अन्तरार्थों के उद्घाटन में निहित है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. *प्रो. टी. आर. वी. मूर्ति ने ब्राह्मण एवं बौद्ध परम्परा की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को आत्मवादी और अनात्मवादी पद से अभिहित किया है। आत्मवादी दृष्टि सत्ता को कूटस्थ प्रतिमान में निरूपित करती है तो अनात्मवादी दृष्टि में सत्ता के क्षणिक प्रतिमान को स्वीकार किया गया है। द्रष्टव्य-दि सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म, पृ. १०*
पुन: प्रो. विश्वम्भर पाही ने वैदिक परम्परा और बौद्ध परम्परा की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को नित्यवादी एवं सन्तानवादी रूप से निरूपित किया है। वैदिक परम्परा पुन: याज्ञवल्कीय धारा और काणादीय धारा में विभाजित हो जाती है। इसमें याज्ञवल्कीय धारा सत्ता के प्रतिमान को विषय एवं विषयी के आत्यन्तिक भेद में निरूपित करती है तो काणादीय धारा में सत्ता के प्रतिमान को धर्म-धर्मी-भेद पर आधृत किया गया है। द्रष्टव्य-वैशेषिक पदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श-पृ.१

२. *वैदल्य सूत्र - १ - सेम्पा दोरजे द्वारा तिब्बती से पुनर्रचित, तिब्बती-हिन्दी केन्द्र वाराणसी,*
तर्क ज्ञानाभिमानेन वादं य: कुर्त्तुमिच्छति।
तस्याहंकार हानाय वच्मि वैदल्यसूत्रकम्॥

३. *द्रष्टव्य-मेरा आलेख 'वैदल्यसूत्र एवं न्यायसूत्र के अन्त:सम्बन्ध पर कुछ विचार' - समाज धर्म एवं दर्शन, वर्ष १८, अंक ३-४- अक्टू. २००० मार्च २००१।*

४. *प्रमाण समुच्चय - १- प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगतायतायिने।*
कुतर्कसम्भ्रान्त जनानुकम्पया प्रमाणसिद्धिर्विधिवत् विधीयते॥

५. *न्यायवार्त्तिक - १/१/१- यदक्षपाद: प्रवरोमुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।*
कुतार्किकाज्ञान निवृत्तिः हेतुः करिष्येत तस्य मया निबन्धः॥

६. प्रमाणवार्त्तिक - १/२- प्राय: प्राकृतसक्ति प्रतिबल प्रज्ञो जन: केवलम् ।
नानर्थ्येव सुभाषितै: परिगतो विद्वेष्टपीर्ष्या मलै: ॥
तेनायं न परोपकार इति नश्चिन्तापि चेतश्चिरम् ।
सूक्ताभ्यास विवर्धित व्यसनमित्यत्रानुबद्धस्पृहम् ॥

७. न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका - १/४- इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तर कुनिबन्ध पंकमग्नानाम् । उद्योतकर गवीनामतिजरनीनां समुद्धरणात् ॥

८. द्रष्टव्य एवं तुलनीय - ज्ञानश्री मित्र - नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्बाधके बलिनि मध्य नये जयश्री: । नोचेदनिन्द्यमिदमद्वयमेव चित्तं चेतो निराकृतिमतस्य तु कोऽवकाश: ॥ और उदयनाचार्य - नाग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्री: । नो चेदनिन्द्यमिदमीदृसमेव विश्वं तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाश: ॥

९. द्रष्टव्य है कि खण्डन-मण्डन की भारतीय परम्परा बहुत ही समृद्ध रही है लेकिन ब्राह्मण परम्परा में नागार्जुन के खण्डन को उद्देश्य बनाकर कोई एक भी स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा गया है । आधुनिक युग में केवल यशदेव शल्य ने "नागार्जुन कृत मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्त्तनी : युक्तिपरीक्षा और सिद्धान्त विमर्श" नामक ग्रन्थ लिखा है जो इस कमी को पूरा करता है ।

१०. मध्यमकशास्त्रम् (पी.एल. वैद्य) - २४/८ पृ. २४० -... अथवा संवृत्ति : संकेतो लोकव्यवहार इत्यर्थ: । स च अभिधानाभिधेय ज्ञानज्ञेयादिलक्षण: । ..... सर्व एवायमभिधानाभिधेय ज्ञानज्ञेयादि व्यवहारोऽशेषे लोकसंवृत्ति सत्य मित्युच्यते। न हि परमार्थ एते व्यवहारा: सम्भवन्ति ।

११. मध्यमकशास्त्रम् (पी.एल. वैद्य) - १/३- पृ. २८ - परोक्षविषयं तु ज्ञानं साध्याव्यभिचारि लिंगोत्पन्नमनुमानम् । साक्षादतीन्द्रियार्थविदामाप्तानां यद्वचनं स आगम: ॥
सादृश्यादननुभूतार्थाधिगम उपमानं गौरिव गवय इति यथा ॥
तदेवं प्रमाणचतुष्टयाल्लोकस्यार्थाधिगमो व्यवस्थाप्यते ॥

१२. विग्रहव्यावर्त्तनी - ४३ - यदि प्रमेयाण्यपेक्ष्य प्रमाणानि सिध्यन्ति नेदानीं प्रमाणान्यपेक्ष्य प्रमेयाणि सिध्यन्ति किं कारणम् । न हि साध्यं साधनं साधयति साधनानि च किल प्रमेयाणां प्रमाणानि ।

१३. प्रमाणवार्त्तिक - २/३९८ और इस पर मनोरथनन्दी टीका - एवं तर्हि विज्ञाननय एव सर्वव्यवस्थानम विरोधात्, कथमाचार्येण बहिरर्थपेक्षया ज्ञान द्विरूपतोक्ता? इत्याह - अस्त्येष सर्वव्यवस्थासु विज्ञप्तिमात्रता प्रतिपादको विदुषां न्यायदर्शिनां योगाचाराणां वाद: । सौत्रान्तिकैरिष्टं बाह्यमर्थमाश्रित्य ज्ञानस्य द्वैरुप्यमाचार्येण वर्ण्यते । तच्च द्वैरूप्य सहसंवेदन नियमात् सहोपलम्भ नियमात् सिध्यन्ति, भेदेऽपि सति तदभावात् ।

१४. धर्मोत्तर प्रदीप (पण्डित दलसुखभाई मलवणिया) - पृ. ३५, के. पी. जायसवाल इन्स्टी., पटना

१५. प्रमाणद्वित्व की उपस्थापना को लेकर बौद्ध नैयायिकों के कई प्रकार के अभिकथन प्राप्त होते हैं लेकिन इस बात को प्रमाणान्तर्भावकार (अकलंक) ने बड़े ही युक्तिपुरस्सर ढंग से कहा है- प्रत्यक्षं चानुमानं च प्रमाणमिदमेव हि । प्रमाणसम्प्लवायोगात् प्रमेयद्वयसंगते: ॥ प्रमाणान्तर्भाव (सम्पा. एस. सी. न्यायाचार्य), दि एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९६९, पृ. १ ।

अध्याय : दो



तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा का उपोद्घात

भारतीय दर्शन में, विशेषकर आस्तिक परम्परा के प्राय: सभी दर्शन, इस बात को सर्वतंत्र-स्वतंत्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से होती है। सिद्धि शब्द[1] को अवबोधार्थक मानकर इस अभ्युपगम की वैधता पर कोई प्रश्न नहीं उठाता। वास्तव में उठाया भी नहीं जाना चाहिए, क्योंकि प्रमाणमीमांसा अपने मूलगामी स्वरूप में प्राग्विमर्शी अनुभव के प्रति आत्मचेतन होने का एक व्यापक अवसर है। प्रेक्षकभावापन्न यही आत्मचेतना मानवीय स्तर पर प्रमाणवृत्ति के सामान्य और विशेष आकारों को ग्रहण करती है। यद्यपि चेतना के अपकर्ष और उत्कर्ष भेद के साथ न्यूनाधिक रूप में प्रमाणवृत्ति प्राणिमात्र में पायी जाती है लेकिन मानवीय स्तर पर इसका स्वचेतन व्यापार होना इसकी मौलिक विशिष्टता है। इसी के चलते मानवमात्र में प्रमा के अन्वेषण और अप्रमा के निवारण की चेष्टा आद्यन्त रूप से दृष्टिगोचर होती है। अतएव प्रमेयावगाहन के प्रति प्रमाणवृत्ति की प्राथमिकता इस दृष्टि से स्वाभाविक ही है। परन्तु इस विचार को 'विमर्श' के एक दूसरे धरातलपर भी देखा जा सकता है। वह यह कि जब हम इस अभ्युपगम पर एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में विचार करते हैं तो प्रकृत प्रश्न का पूरा कलेवर ही बदल जाता है। दूसरे शब्दों में ज्ञातृत्व की तत्त्वमीमांसीय प्राग्पेच्छाओं के सापेक्ष जब तंत्र केन्द्रित मानवीय प्रमाणवृत्ति वैकल्पिक प्रारूपों में तंत्रबद्ध होती है, अर्थात् प्रमाणवृत्ति जब एक विचार-संस्थान का रूप धारण करती है तो वह प्रमेयावगाहन के प्रति अपनी प्राथमिकता के दावे को एक तरह से न्योछावर करते हुए तत्त्वमीमांसीय आश्रयता में ही अपने विशिष्ट

स्वरूप का प्रकाशन करती है। इस पर यह कहा जाना कि ज्ञान की दृष्टि से 'प्रमाण' प्रथम और 'प्रमेय' तदनन्तर तथा सत्ता की दृष्टि से 'प्रमेय' प्रथम और 'प्रमाण' तदनन्तर भावी होते हैं, अत्यन्त साधारण दृष्टिकोण है।[2] वस्तुत: प्रमाण-प्रमेय के पूर्वापरभाव का निर्धारण उतना सरल नहीं जितना कि ऊपरी तौर पर समझा जाता है। अन्तत: यह प्रश्न प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के गौण-प्रधान भाव और एक दूसरे पर प्रभावमत्ता की व्यापक अवधारणात्मक योजना में पर्यवसित हो जाता है। प्रमाण दर्शन की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करने का उचित धरातल भी यही है।

I

अवधेय है कि भारतीय दार्शनिक अपने-अपने प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के लोक-सम्मत होने का दावा तो करते हैं लेकिन क्या इस दावे को तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थ कहा जा सकता है ? वास्तव में देखा जाये तो अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से लोकानुभव को संस्कारित करते हुए उसी तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता में लोकानुभव की व्याख्या करना उनका स्वीकार्य पक्ष प्रतीत होता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में प्रमाण की अवधारणा (स्वरूप, संख्या,विषय, विनियोग) पर सर्वत्र तत्त्वमीमांसीय अधिशासन की छाया दिखती है। भारतीय दर्शनों का प्रमाणमीमांसीय पक्ष वाकोवाक्यम्, वादविधि, आन्वीक्षिकी विद्या, हेतु विद्या-के रूप में जैसे-जैसे विकसित होता गया[3] वैसे-वैसे उस पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार बढ़ता ही गया है। इसके विपरीत कुछ लोगों का यह मानना है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का इतिहास तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता से मुक्त होने की दिशा में विकासोन्मुख रहा है। परन्तु यह दृष्टि मुझे उचित प्रतीत नहीं होती। भारतीय दर्शन की विशिष्टता के साथ तभी न्याय किया जा सकता है जब उसके तत्त्वमीमांसीय, प्रमाणमीमांसीय एवं पुरुषार्थमीमांसीय पक्षों की व्याख्या एक आन्तरिक सम्बद्धता और परस्पर समंजस रूप में किया जाय। इसके लिए आवश्यक है कि प्रमाणमीमांसीय दृष्टि में तत्त्वमीमांसा को विरासत भाव से गृहीत किया जाय। ध्यातव्य है कि सांख्य दर्शन से लेकर नव्यन्याय पर्यन्त 'प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि' के प्रति एक आम सहमति बनी रही, लेकिन इस बीच अन्दर ही अन्दर इस अभ्युपगम पर बढ़ते हुए तत्त्वमीमांसीय अधिभार की न तो समीक्षा की गई और न ही व्यक्त रूप से इस बात को स्वीकार किया गया कि प्रमाणशास्त्र का उद्दिष्ट लक्ष्य स्वयूथ्य की तत्त्वमीमांसा का संरक्षण करना है। इस लम्बे अन्तराल में नागार्जुन, जयराशिभट्ट एवं श्रीहर्ष के द्वारा व्यक्त रूप में इस अभ्युपगम का प्रबल विरोध भी हुआ परन्तु 'प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि' के समर्थकों पर इसका कोई विशेष प्रभाव पड़ा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता जबकि यह है कि नागार्जुन, जयराशिभट्ट एवं श्रीहर्ष का विरोध और खण्डनात्मक युक्तियाँ सन्देहवादी प्रकार के आक्षेपों से भी ज्यादा विस्थापक प्रकृति की रही हैं। अतएव 'प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि' के अभ्युपगम पर फिर से विचार करना

आवश्यक प्रतीत होता है। इसकी जाँच-पड़ताल से भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के स्वरूप एवं उसके निहितार्थ पर एक नया प्रकाश पड़ सकता है। क्या यह एक ऐसा अभ्युपगम तो नहीं है जिसे गतानुगतिक रूप से स्वीकार किया जाता रहा है? यह प्रश्न बहुत व्यापक है और हमारे लिए यहाँ सम्भव भी नहीं कि हम उसी व्यापकता में इस पर विचार करें। एतदर्थ यहाँ हम प्रमाण की अवधारणा को आधारभूत सन्दर्भ बनाकर उस पर पड़ने वाले तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे।

II

साधारणतया प्रमाणों की परिभाषा यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के साधन के रूप में की जाती है। इसे 'ज्ञान के सत्यापन में सहायक ज्ञान' इस प्रकार भी परिभाषित किया जा सकता है। बौद्ध परम्परा में ठीक इसके विपरीत 'प्रमेयकार्यं प्रमाणम्'[४] के रूप में एक अप्रचलित परिभाषा का सन्दर्भ प्राप्त होता है। यह कोई अविचारित परिभाषा भी नहीं, बल्कि बौद्धों की दृष्टि से ठीक ही है। यह बात भी सही है कि प्रमाणों को परिभाषित होना चाहिए और परिभाषा को लेकर विवाद भी हो सकते हैं, लेकिन इस पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि प्रत्येक स्वीकारोक्ति अथवा निषेध में प्रमाणीकरण की अपेक्षा आवश्यक रूप से निहित होती है। परन्तु हम यहाँ पूछ सकते हैं कि उन साक्ष्यों अथवा प्रमाणों का स्वरूप क्या है जो हमारे अभिकथनों अथवा निर्णयों को सही या गलत ठहराते हैं। इससे भी आधारभूत प्रश्न यह हो सकता है कि ऐसे साक्ष्यों अथवा प्रमाणों को हम किस प्रकार प्राप्त करते हैं? फिर उन साक्ष्यों अथवा प्रमाणों की प्रामाणिकता क्या है? एक बार जब हम किसी साधन से प्राप्त होने वाले ज्ञान की प्रामाणिकता स्वीकार कर लेते हैं तो उसकी सीमा में आने वाली सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है। परन्तु इस रूप में प्रमाणों का आह्वान स्वयं में प्रमाण विषयक विवादों को भी उपस्थापित करता है। यदि प्रमाणों के उपलब्ध होने के पश्चात् प्रमाणों के सम्बन्ध में ही विवाद उत्पन्न हो जाय तो क्या स्वयं प्रमाण ही इस विवाद को सुलझा सकते हैं?

उपर्युक्त प्रश्न अपने स्वरूप में न तो प्राक्कल्पना मात्र हैं और न ही इन्हें प्रश्न के लिए मात्र प्रश्न कहा जा सकता है। ये सभी प्रश्न प्रमाण की अवधारणा से आधारभूत रूप में सम्बन्धित हैं। अतएव इन्हें आवश्यक रूप से उठाया जाना चाहिए। यद्यपि ऐसे प्रश्नों को बिरले ही उठाया जाता है क्योंकि अक्सर हम दिखे-दिखाये रास्ते पर प्रमाणों के विनियोग के लिए अभ्यस्त कर दिये जाते हैं। ये प्रमाण स्वयं में क्या हैं, न तो इस पर विचार करते हैं और न ही उनके नेपथ्य में झांकते हैं, जहाँ ये प्रमाण अपने प्रामाण्य को अवाप्त करते हैं। वास्तव में प्रमाण की खोज कोई आनुभविक अन्वेषण नहीं है। इनकी खोज एवं उपलब्धि को आगमनात्मक सामान्यीकरण की पद्धति भी नहीं कहा जा सकता। यदि एक बार हम यथार्थ ज्ञान का कोई निकष बना लें तो उस मानदण्ड के

आधार पर प्रमाणों को आगमनात्मक रूप से उपलब्ध किया जा सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति में प्रमाणों का सारा दारोमदार उस निकष पर आधृत हो जायेगा, और तब यथार्थ ज्ञान के उस निकष को प्रमाणाश्रित कहा जाना भी सम्भव नहीं हो सकेगा। पुन:, यथार्थ ज्ञान के निकष पर आश्रित प्रमाण और उन प्रमाणों पर आश्रित यथार्थ ज्ञान एक प्रकार से चक्रक दोष से भी ग्रसित हो जायेगा। अतएव यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान के मानदण्ड को कम से कम प्रमाण-निरपेक्ष स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।

यदि हमें यथार्थ ज्ञान का कोई निकष उपलब्ध भी हो जाता है, तो पुन: हम पूछ सकते है कि वे कौन और कैसे प्रमाण हैं जो इसके अनुरूप यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि कराते हैं ? यहाँ कोई कह सकता है कि वह जो यथार्थ वस्तु है; उसका उचित रूप में प्रतिनिधित्व करने वाला ज्ञान यथार्थ ज्ञान होता है। किन्तु तब यथार्थ वस्तु को उस रूप में पहले ही ज्ञात होना चाहिए। इस तरह यह पुन: प्रमाण-निरपेक्ष हो जायेगा। परन्तु इस रूप में हम यथार्थता को कैसे जान सकते हैं ? यह किस प्रकार निर्धारित और निरूपित किया जा सकता है कि यथार्थता का स्वरूप ऐसा है जिसकी अनुरूपता में यथार्थ ज्ञान को निरूपित होना है ? इसलिए यह स्पष्ट है कि यथार्थता विषयक इस प्रकार के निर्धारण को प्रमाणों से उत्प्रेरित नहीं कहा जा सकता। इसे प्रमाण-पूर्ववर्ती ही होना चाहिए, क्योंकि इसी रूप से वह प्रमाणों के प्रकार और उनके प्रमाणत्व का निर्धारक हो सकता है। अतएव कहा जा सकता है कि यदि यथार्थता ऐसी है तो उसके अनुरूप 'यह' ज्ञान यथार्थ ज्ञान होगा और यदि 'यह' ज्ञान यथार्थ है तो उसकी प्राप्ति जिन साधनों से होगी उसे ही प्रमाण की कोटि में सम्मिलित किया जाना सम्भव होगा।

प्रमाण-निरपेक्ष यथार्थता की ज्ञान-पूर्ववर्तिता को किसी रहस्यानुभव के रूप में भी अधिगृहीत नहीं किया जा सकता। ऐसी यथार्थता स्वयं ही और स्वरूपत: प्रमाणमीमांसीय समीक्षा से बाहर होती है, क्योंकि प्रमाणों का उससे किसी प्रकार का योगायोग ही सम्भव नहीं होता। हाँ, इस समस्या के समाधान के लिए यथार्थता को एक तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु यथार्थता का इस रूप में निर्धारण भी अनुभाविक न होकर प्रागनुभविक ही होगा। तब प्रमाणों के सम्पूर्ण उपक्रम का एक जाने पहचाने विश्वास के बौद्धिकीकरण अथवा बनी-बनायी तात्त्विक पूर्वकल्पना के विवेचन मात्र में पर्यवसित हो जाना स्वाभाविक ही है। वास्तव में दर्शन के किसी सम्प्रदाय विशेष में जिस प्रकार से हम प्रमाणों का विनियोग करते हैं उस पर गम्भीरता से विचार करने पर प्रमाण उस दर्शन की तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पनाओं के 'पैराफ्रेज़' ही ठहरते हैं। आश्चर्य है कि उस दर्शन में स्वीकृत प्रमाण उस दर्शन की तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पना पर निर्भर करते हैं और स्वयं के लिए उससे पूर्ववर्ती होने का दावा भी करते हैं! अतएव यह कि प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि होती है - इस अभ्युपगम के प्रति प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका को तटस्थ नहीं कहा जा सकता।

भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रमाणविषयक अनेकानेक विवाद सर्वविदित हैं। यदि प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थ होती तो प्रमाणों के सम्बन्ध में इस प्रकार का विवाद नहीं होना चाहिए था। ऐसी स्थिति में प्रमाणों का सर्वथा निर्दुष्ट मानदण्ड अथवा उनका कोई सर्बस्वीकृत आदर्श स्वरूप स्वीकार किया जा सकता था। इस पर भी किसी को आपत्ति नहीं होती कि ऐसे प्रमाण समस्याओं के सर्वमान्य समाधान का सामर्थ्य रखते हैं या नहीं! परन्तु ऐसा न कभी हुआ और न होगा। दार्शनिकों के मध्य प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय और फल को लेकर असमझौतापूर्ण मतभेद रहे हैं और आगे भी वैसे ही रहेंगे। ऐसे मतभेद इस तथ्य को आवश्यक रूप से उद्घाटित करते हैं कि प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका तात्त्विक विवक्षा में तटस्थ नहीं है, जैसाकि 'प्रमेय सिद्धि: प्रमाणाद्धि' के समर्थक इन्हें स्वीकार करते हैं।

यहाँ विचारणीय है कि यदि प्रमाणों के स्वरूप और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में ही विवाद उत्पन्न हो जाय तो इस विवाद का समारम्भ और समापन क्या स्वीकृ त प्रमाणों की अध्यक्षता में हो सकता है? इस बहस को आगे बढ़ाते हुए उसे एक निर्णय तक पहुँचाने के लिए स्वयं उन्हीं प्रमाणों को प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि विवाद प्रमाण विषयक होने से वह 'प्रमाण' ही अभियोग के कठघरे में है। हम किसी अतिरिक्त प्रमाण का आह्वान भी नहीं कर सकते, क्योंकि वह अतिरिक्त प्रमाण भी उसी विवाद का हिस्सा हो जायेगा जिस विवाद को सुलझाने के लिए उसका आह्वान किया गया है। इसके लिए किसी अधिकाधिक आधारभूत प्रमाण की शरण में भी नहीं जाया जा सकता, क्योंकि ऐसा कोई आधारभूत प्रमाण सम्भव ही नहीं जिसे अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अधिक आधारभूत और साथ ही अधिक प्रामाणिक कहा जा सके। वस्तुत: इस रूप में प्रमाणों की खोज अपने को एक आवर्तीय अपर्याप्तता में पतित करना है जिससे बाहर निकलना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

यह बात ठीक है कि स्वीकार की गयी किसी प्रमाण-योजना में कोई एक प्रमाण आधारभूत नहीं होता जो अन्य प्रमाणों की प्रामाणिकता को निर्धारित करे। किन्तु इसके बदले किसी आकारिक सत्य की संकल्पना को तो स्वीकार किया जा सकता है? आकारिक सत्य स्वत: सिद्ध और स्वत:प्रमाण होते हैं। इनके प्रति हमारी स्वीकारात्मक अभिवृत्ति भी सहज ही होती है। इन्हें प्रवृत्तिमूलक दृढ़ विश्वासों से आयातित सत्य भी कहा जा सकता है। हमारी विचारणा में इस प्रकार से कुछ तथ्य आवश्यक रूप में अन्तर्निहित होते हैं। उदाहरण के लिए 'विरोध के नियम' को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस नियम के अनुसार कोई वस्तु साथ-साथ सत्य और असत्य नहीं हो सकती। विरोध के नियम को तब तक अस्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि हम अस्वीकृति के लिए किसी दूसरे सुसंगत सिद्धान्त को पूर्वकल्पित न कर लें।

उपर्युक्त समस्या विषयक इस पहल से यदि ज्यादा नहीं तो इतना अवश्य आपादित हो सकता है कि यथार्थता के विषय में कुछ न जानते हुए इतना तो हम अवश्य जान रहे होते हैं कि यथार्थ को, कम से कम, आत्मसंगत होना चाहिए।

यद्यपि स्वयंसिद्ध और आत्मसंगत सत्य का दृष्टिकोण उपर्युक्त विवक्षा के लिए आपाततः उपादेय प्रतीत हो सकता है तथापि इससे उत्पन्न होने वाली गड़बड़ी की आशंका के प्रति भी हमें सतर्क रहना चाहिए। यह सम्भव है कि ऐसा कुछ शुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वयंसिद्ध प्रतीत हो, लेकिन उसे दार्शनिक दृष्टि से उपयोगी नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी अत्यधिक अन्तरंगता के चलते कोई वस्तु अथवा दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट रूप से अवभासित होता है, लेकिन फिर भी प्रामाणिकता की तार्किक अपेक्षा से वैसे विषयों का कुछ भी लेन-देना नहीं होता। परन्तु उपर्युक्त सन्दर्भित 'विरोध के नियम' को इतने तुच्छ अर्थ में स्वयंसिद्ध नहीं माना जा सकता। यह एक तार्किक सिद्धान्त है जो भाषा के सामान्य नियमों से अधिशासित होता है। जहाँ तक हम भाषा का आभिप्रायिक प्रयोग करते हैं वहाँ तक ऐसे नियमों की आवश्यकता होती है। अवधेय है कि न केवल तार्किक नियम बल्कि गणित के मूलभूत सम्प्रत्यय और कोटियाँ भी भाषा की संरचना में अन्तर्निहित बताये जा सकते हैं। यहाँ भाषा के नियम से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर ध्यान दिया जाना उपयोगी हो सकता है। इस विशेषता के द्वारा प्रमाण की अवधारणा के सम्बन्ध में 'विरोध के नियम' जैसे तार्किक नियमों की अनुपयोगिता को सहज ही उजागर किया जा सकता है। भाषा के नियम उस विषय-वस्तु को निर्धारित नहीं करते जिसके विषय में भाषा प्रयुक्त होती है। उस विषय-वस्तु के सम्बन्ध में कैसी भाषा प्रयुक्त हो, भाषा के नियम केवल इतना ही बताते हैं। उदाहरण के लिए शतरंज के नियम हमारी अगली पहल को निर्देशित नहीं करते। इसी प्रकार 'विरोध का नियम' वस्तुस्थिति की यथार्थता को इस प्रकार निर्धारित नहीं करता कि वह कैसी और क्या है ? इससे केवल इतना ही प्रतिपादित किया जा सकता है कि यदि 'यही कुछ' वस्तुस्थिति है तो यह अन्यथा नहीं हो सकती। परन्तु इस प्रकार के आकारिक निर्धारण को वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इसके द्वारा हम यथार्थता विषयक किसी नवीन ज्ञान को अग्रसारित भी नहीं कर पाते हैं। यह जानना कि 'वर्षा होना' और 'वर्षा नहीं होना' एक साथ घटित नहीं हो सकता, स्वयं 'वर्षा हो रही है अथवा नहीं' के विषय में कुछ भी नहीं जानना है। वस्तुतः प्रमाण वस्तुस्थिति की प्रातिस्विकता में प्रयुक्त होकर ही प्रामाण्य के धारक होते हैं। 'विरोध का नियम' अथवा ऐसे ही कुछअन्य आकारिकता एवं सामान्यीकृत होने के कारण प्रामाण्य नहीं हो पाते।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष से बच नहीं सकते कि किसी भी विकसित प्रमाणमीमांसा में कुछ ऐसे तत्त्व आवश्यक रूप से सम्मिलित होते हैं जिनकी व्याख्या

प्रमाणमीमांसा के ऊपरी धरातल पर और उस प्रमाणमीमांसा के स्वीकृत उपकरणों की सीमा में नहीं की जा सकती। हमें ऐसे तत्त्वों अथवा समस्याओं की व्याख्या के लिए उस सीमा से बाहर जाना पड़ता है, क्योंकि ऐसे तत्त्व, वास्तव में, अपनी प्रकृति में 'अधिप्रमाणमीमांसीय' होते हैं। कोई प्रमाणमीमांसा अपने में ऐसे अधिप्रमाणमीमांसीय तत्त्वों को अक्सर तत्त्वमीमांसीय आयाम से आयातित कर लेती है। एक विशेष प्रकार का तत्त्वमीमांसीय पूर्वग्रह ही वह अभ्युपगम है जो विशेष प्रकार के प्रमाणों की प्रतिस्वीकृति को अधिशासित करता है। यदि यह प्राक्कल्पना सही है तो इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि किसी दर्शन विशेष की प्रमाणमीमांसीय योजना में तत्त्वमीमांसीय भेद ही परिलक्षित होते हैं। कालीदास भट्टाचार्य ने ठीक ही कहा है कि "तर्कशास्त्र अथवा प्रमाणमीमांसा के माध्यम से तत्त्वमीमांसा अपने को परिभाषित करती है।" यह बात भारतीय दर्शन के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में निर्विवाद रूप से प्रतिपादित होते हुए देखी जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि प्रमाणमीमांसा से सम्बन्धित अधिकांश प्रकरणों पर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा जिस तरह से विचार किया गया है उसके माध्यम से उन-उन दर्शनों के तत्त्वमीमांसीय भेदों का ही पुनरावर्तन हुआ है। भारतीय दर्शन में इस प्रवृत्ति का विस्तार न केवल प्रमाणमीमांसा तक बल्कि भ्रम विषयक सिद्धान्तों एवं भाषा-दर्शन और उससे आगे तर्कशास्त्रीय प्रकार के चिन्तन तक भी देखा जा सकता है।

III

द्रष्टव्य है कि हमारी उपर्युक्त समीक्षा के समानान्तर प्रमाणमीमांसीय विचार-सारणी का एक दूसरा विरोधी पक्ष भी प्रस्तावित किया जा सकता है। इस दूसरी दृष्टि के अनुसार कोई यह कह सकता है कि भारतीय परम्परा के अन्तर्गत न्याय दर्शन में, कम से कम, प्रमाणमीमांसा का विकास तत्त्वमीमांसीय अधिभारों से मुक्त रूप में हुआ है। दूसरे शब्दों में न्याय दर्शन मूलत: यद्यपि एक प्रमेयशास्त्र है लेकिन इस दर्शन की प्रमाणमीमांसा पूरे तौर से प्रमेय-अवग्रहपूर्वक विकसित नहीं हुई है। इसीलिए नैयायिकों को पहले लक्षणैकचक्षुक और बाद में प्रमाणैकचक्षुक कहा जाता है। वस्तुत: 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थिति:' की मूलभूत दृष्टि के सन्दर्भ में प्रमाणमीमांसा का विकास इसी रूप में होना भी चाहिए, लेकिन इस दृष्टि की कुछ अपनिष्पत्तियाँ भी हैं। और फिर नैयायिकों के प्रमाणचिन्तन में यह दृष्टि कितनी फलित हुई है, यह भी विचारणीय है। प्रमेय-अवग्रह से मुक्त प्रमाणमीमांसा के विकास का तात्पर्य है-प्रमाणों के स्वरूप को एक 'अकारिक संस्थान' के रूप में सुनिश्चित करना। परन्तु यह बात आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में न्यायशास्त्र की मूलभूत परिभाषा 'प्रत्यक्षागमाश्रितं चानुमानम्, सान्वीक्षा। तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी, न्यायविद्या।' से मेल नहीं खाती। क्योंकि यह परिभाषा स्पष्ट रूप से आगमप्रोक्त तत्त्वमीमांसीय अवग्रह को स्वीकार करती प्रतीत

होती है। न्याय-परम्परा में वार्त्तिककार उद्योतकर भारद्वाज ने आन्वीक्षिकी विद्या को बिल्कुल भिन्न तरीके से परिभाषित किया है-'संशयादिभेदानुविधायिनी आन्वीक्षिकीति।'[५] कदाचित् इस परिभाषा को आधार बनाकर प्रमाणमूलक न्यायशास्त्रीय पद्धति को आकारिक युक्त्याभिगम 'फॉरमलाइज़ेशन ऑफ प्रूफ प्रिसीडेन्स' से एक सीमा तक जोड़ा जा सकता है और प्रमाणों के स्वरूप को वस्तुस्थिति से तटस्थ एक आकारिक संस्थान के रूप में अवधारित भी किया जा सकता है।

दृष्टव्य है कि गौतमीय न्यायशास्त्र के विकास के विभिन्न सोपानों पर गम्भीरता से विचार करने पर ऐसे कोई संकेत प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर यह कहा भी जा सकता है कि एक स्थिति के बाद गौतमीय प्रमाणमीमांसा का विकास प्रमेय-निरपेक्ष ढंग से अग्रसारित हुआ है। वास्तव में विकास की यही दिशा नव्यन्याय को प्राचीन न्याय से अलग करती हुई प्रतीत होती है। फिर भी, इस रूप में भी नव्यनैयायिकों के तर्कशास्त्रीय प्रमाण-चिन्तन का विकास हमें यह कहने की खुली छूट नहीं देता कि यह विकास ठीक वैसा ही है जैसाकि अरस्तूवादी आधुनिक सांकेतिक तर्कशास्त्र का, अथवा वैसा जैसा कि विगत.दशकों में जे.एफ. स्टॉल, कार्ल पॉटर एव इंगाल्स इत्यादि अमरीकी तर्कशास्त्रियों ने दावा किया है।[६]

यहाँ विचारणीय है कि गौतमीय न्यायशास्त्र की संरचना में निहित वह कौन सा मूलभूत प्रश्न रहा है जिसने नैयायिकों को आकारिक तर्कशास्त्रीय प्रमाण-चिन्तन की एक विशेष दिशा में अपने चिन्तन को विकसित करने के लिए प्रेरित किया है। ऐसे कई एक आधारभूत प्रश्नों को रेखांकित किया जा सकता है जिसका सामना लगभग एक हजार वर्ष तक बौद्ध आलोचना के रूप में नैयायिकों को करना पड़ा है।[७] यदि हम उन सभी विध्वंसात्मक और संशोधनात्मक प्रश्नों को छोड़ भी दें और गौतमीय न्यायशास्त्र की मूलभूत दृष्टि 'मानाधीना मेयसिद्धिः' पर विचार करें तो कहा जा सकता है कि यही दृष्टि अपनी चरम परिणति में प्रमाणों की अवधारणा प्रमेय-निरपेक्ष रूप में अथवा एक आकारिक संस्थान के रूप में करने की अपेक्षा लिए हुए है। यदि सब कुछ प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए तो सब कुछ के अन्तर्गत प्रमाण भी आते हैं, अत: प्रमाणों को भी इतर अथवा अवान्तर प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए। जहाँ तक प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि होने की बात है तो यह लोकप्रसिद्ध भी है, लेकिन स्वयं प्रमाण ही जब अन्य प्रमाण (अनुमान) से अपनी सिद्धि करने लगेंगे तो या तो अनवस्था दुर्निवार होगी या फिर प्रमाण 'प्रमेय' होने लगेंगे और तब प्रमाण तथा प्रमेय की भेदपूर्ण स्थिति ही समाप्त हो जायेगी, जिस पर नैयायिक अपनी प्रमाणमीमांसा का ढाँचा खड़ा किये हुए हैं।

यहाँ मूलभूत प्रश्न 'अनवस्था' का है और वह दुर्निवार है, क्योंकि इसके परिहार के लिए जो आवश्यक है उसे नैयायिक स्वीकार नहीं कर सकते। अत: अनवस्था को

उन्हें प्रदत्त स्थिति के रूप में स्वीकार करना होगा और ऐसा स्वीकार करना विशुद्ध तार्किक दृष्टि से सम्भव भी है, क्योंकि तार्किक विश्लेषण की प्रक्रिया का कोई निश्चित अन्त हो यह आवश्यक नहीं, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसा कोई तार्किक अणु नहीं जिसके और विभाजन की कल्पना न की जा सके। इस प्रकार अनवस्थित स्थिति अथवा अनवस्था की अविश्रान्त अवस्था को प्रदत्त मानकर भी व्यवहार सम्पादन और प्रवृत्ति-साफल्य के द्वारा प्रामाण्य निर्धारण की व्यवस्था सम्भव हो सकती है[८], लेकिन प्रमाण-सिद्धि के लिए प्रमाणान्तर की आवर्तीय अपेक्षा एक ओर प्रमाणों को वस्तुस्थिति से स्वतन्त्र आकारिक संस्थान में पर्यवसित करती जाती है तो दूसरी ओर उन्हें प्रत्येक स्थिति में सिद्धान्ततः और अन्ततः असिद्ध भी छोड़ देती है।

पुनः द्रष्टव्य है कि नैयायिकों ने प्रमाणों के प्रमेय-निरपेक्ष, अर्थात् आकारिक स्वरूप को निर्धारित करने के लिए 'लक्षणमीमांसा' को आधारभूत महत्त्व प्रदान करते हुए 'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' और 'मानसिद्धिश्च लक्षणात्' के अभिगम को प्रस्तावित किया है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ तक प्रमेयों की सिद्धि का प्रश्न है, उसे प्रमाणपूर्वक ही होना चाहिए, लेकिन स्वयं प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणान्तर से न होकर लक्षणपूर्वक होती है। मानाधीना मेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात् - यहाँ सिद्धि का तात्पर्य प्रमाणों के स्वरूप निर्धारण से है और वह भी ऐसा स्वरूप जो प्रमेय-निरपेक्ष अथवा वस्तुस्थिति से तटस्थ हो। नैयायिकों के इस पहल के विरूद्ध अनेक प्रश्न खड़े किये जा सकते हैं, जैसे (१) प्रमाण अपने स्वरूप में प्रमेय-निरपेक्ष आकारिक संस्थान हैं तो ऐसे प्रमाण वास्तविक जगत् से किस प्रकार सम्बद्ध होते हैं ? (२) क्या नैयायिकों को वास्तविक जगत् के दो स्वरूप मान्य हैं - एक वास्तविक और दूसरा तार्किक ? (३) फिर दोनों में सम्बन्ध क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर न्यायदर्शन में चाहे जिस प्रकार भी दिया गया हो, इतना तो स्पष्ट है कि नैयायिक लक्षणमीमांसा के द्वारा प्रमाणों के स्वरूप को एक आकारिक संस्थान के रूप में निर्धारित करने के लिए अग्रसर दिखाई पड़ते हैं। ज्ञान को निराकार मानकर शब्दाकार एवं वाक्याकार में उसे निरूपित करने के लिए संसर्गता, प्रकारता एवं विशेष्यता इत्यादि की संकल्पनाओं के द्वारा नैयायिक वस्तु-जगत् के वास्तविक और तार्किक आकार को ही सम्बद्ध करते हुए प्रतीत होते हैं। पुनः, नैयायिकों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में लक्षणमीमांसा का महत्त्व इससे भी विदित होता है कि जयराशिभट्ट एवं श्रीहर्ष ने नैयायिकों का खण्डन इसी मूलभूत अभ्युपगम पर कुठाराघात करते हुए किया है। दूसरे शब्दों में , जयराशिभट्ट एवं श्रीहर्ष का लक्षणोच्छेदी अभियान वास्तव में लक्षणमीमांसा पर आधारित प्रमाणमीमांसा का ही खण्डन है।

यहाँ विचारणीय है कि लक्षणमीमांसा पर आधारित प्रमाणों के स्वरूप-निर्धारण का ऐसा उपक्रम जो किसी वस्तुस्थिति विशेष अथवा अन्तर्वस्तु से तटस्थ हो, एक

प्रकार से नैयायिकों के प्रमाण-चिन्तन को सर्वतन्त्र स्वतंत्र स्वरूप प्रदान करता है। किन्तु तब उन्हें किसी विशेष प्रकार की प्रमेय-व्यवस्था में अभिनिवेश नहीं रखना चाहिए। लेकिन फिर भी नैयायिक पूरी कट्टरता के साथ एक विशेष प्रमेय-तन्त्र के प्रति अभिनिवेश रखते ही हैं।[९] अतएव उन्हें इसका प्रबल विरोध भी सहना पड़ा है। इस विरोध का पहला रूप प्रमेय-तन्त्रात्मक है, जिसे न्याय, बौद्ध और वेदान्त के बीच के ऐतिहासिक खण्डन-मण्डन के रूप में देखा जा सकता है। अवधेय है कि खण्डन-मण्डन के मूलभूत मुद्दे प्रायश: प्रमेयमूलक ही रहे हैं। इस विरोध का एक दूसरा रूप 'लक्षणमीमांसा' के खण्डन से सम्बन्धित है जो नैयायिकों की मूलभूत मान्यता को ही सर्वतोभावेन निरस्त करता हुआ प्रतीत होता है। इसके अग्रदूत नागार्जुन, जयराशि भट्ट एवं श्रीहर्ष कहे जाते हैं। यद्यपि यह विरोध बहुध्रुवीय होने से बहुत संगठित नहीं रहा है फिर भी इसके मूलभूत सूत्रों के परिप्रेक्ष्य में न्यायशास्त्र के प्रमाणमीमांसीय और तर्कशास्त्रीय विकास के फलाफल एवं निहितार्थ को भलीभाँति समझा जा सकता है। हम यहाँ इसकी विस्तृत चर्चा न कर संक्षेप में ही कुछ बिन्दुओं को उभारने का प्रयास करेंगे और यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि लक्षणमीमांसा का अभ्युपगम भी अन्तत: तत्त्वमीमांसीय लंगर से बंध ही जाता है।

न्याय-परम्परा में प्रमाणमीमांसा के पूर्वसूत्र के रूप में लक्षणमीमांसा के प्रति आत्मविश्वास इतना अधिक रहा है कि कभी-कभी परम्परा में गर्वपूर्ण उक्तियाँ देखने को मिलती हैं। ऐसी ही एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है - 'ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वत:। लक्षणेन तु सिद्धांनामन्तं यान्तिविपश्चिता:।'[१०] एक-एक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने से ऋषि भी पदार्थों के अन्त तक नहीं पहुँच सकते हैं, किन्तु विद्वान लोग सिद्ध पदार्थों के लक्षण की सहायता से पदार्थों के अन्त तक पहुँच जाते हैं। 'व्यावृत्तिव्यवहारो हि लक्षणस्य प्रयोजनम्'-साधारणतया व्यावृत्ति और वाग्व्यवहार को लक्षण का प्रयोजन माना जाता है।[११] इस रूप में 'लक्षण' वह लोकप्रसिद्ध आकार है जो लक्ष्य में रहता है और लक्ष्य को उसके सजातीय तथा विजातीयों से अलग करता है। यदि ऐसा ही है तो लक्षणमीमांसा को प्रमाणमीमांसा के लिए तभी उपकारी बताया जा सकता है जब इसे प्रमाण और प्रमेय से पहले प्रयुक्त किया जाय, जो सम्भव नहीं दीखता। इसलिए जयराशि भट्ट एवं श्रीहर्ष ने लक्षण की संकल्पना को सर्वतोभावेन आत्माश्रय, चक्रक एवं अनवस्था आदि दोषों से युक्त बताया है। बिना किसी प्रमेय या प्रमाण को माने लक्षण नहीं किया जा सकता और बिना लक्षण किये प्रमाण और फिर प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकते। अत: इतरेतराश्रय-दोष लक्षण की संकल्पना में विद्यमान हो जाता है। लक्षण सम्भव नहीं होने से निर्वचन-व्यापार भी सम्भव नहीं, तब अनिर्वचनीयता-प्रसक्ति आवश्यक हो जाती है। इस तरह किसी विषय का न तो लक्षण हो सकता है, न ही ज्ञान और तब न तो प्रमाण और न प्रमेय ही सिद्ध हो सकते हैं।

न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ ने इस अनिष्ट प्रसंग का समाधान करते हुए कहा है कि लक्षण की संकल्पना में आत्माश्रय, चक्रक एवं अनवस्था आदि दोषों की उद्भावना उचित नहीं है, क्योंकि जहाँ सन्देह होता है वहीं किसी लक्षण के द्वारा लक्ष्य के स्वरूप-निर्धारण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए हम अपने साधारण अनुभव के द्वारा ही किसी असाधारण लक्षण के द्वारा बहुत सी गायों के बीच अपनी गाय को पहचान लेते हैं। यद्यपि इस तरह से किसी असाधारण गुण के द्वारा अपनी गाय की पहचान, उस गुण को गाय का तर्कत: पुष्ट या शुद्ध लक्षण नहीं बनाती तथापि इससे व्यवहार चलता ही है। अतएव लोकव्यवहार में हम कहीं से अपनी ज्ञान-यात्रा प्रारम्भ करते हैं और वहीं से आगे बढ़कर प्रमाण-प्रमेय विवेचन तक पहुँचते हैं। यद्यपि हम बाद में अपने उपक्रम की परीक्षा भी करते हैं, तथापि उसी उपक्रम के द्वारा हमारा सारा ज्ञान विकसित होता है। भासर्वज्ञ विशेष, लक्षण, चिह्न, अंक को पर्यायवाची मानते हैं और उनके माध्यम से लक्ष्य की पहचान करते हैं। उनका कहना है कि सन्देह-स्थलों में भी विशेष का संदर्शन होने से सन्देह दूर हो जाता है। इस प्रकार 'विशेष' लक्षण का कार्य करता है। वह अपने लक्ष्य को निश्चित कर देता है। इस पर यदि कहा जाय कि ऐसे लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त हुआ करते हैं तो ठीक नहीं,क्योंकि ऐसे लक्षण से भी लक्ष्य की पहचान तो हो ही जाती है। उदाहरण के लिए मैं अपनी गाय को विलक्षण सींग से पहचान लेता हूँ। यद्यपि विलक्षण सींग एक अतिव्याप्त लक्षण है, तथापि वह अपना कार्य कर देता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ मुख्य मुद्दा लक्ष्य के बोध का है और वह जिसके द्वारा होता है वही लक्षण है। लक्षण चाहे प्रकृत में दुष्ट और निर्दुष्ट जो भी हो, सामान्यत: लक्ष्य का बोध होने पर लक्ष्य उससे अप्रभावित ही रहता है। अत: लक्षण करना सम्भव है, व्यवहारोपयोगी है और उसकी निर्दुष्टता एवं सदोषता के लिए परीक्षा-परिष्कार का द्वार सदैव खुला हुआ है।

अब यहाँ प्रसंगत: विचारणीय हो जाता है कि लक्षण स्वयं में कोई प्रमाण है या नहीं ? इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र का मानना है कि लक्षण-वाक्य केवलव्यतिरेकी हेतु वचन हैं और इस प्रकार उन्हें केवलव्यतिरेकी अनुमान के अन्तर्गत रखा जा सकता है। परन्तु केवलव्यतिरेकी के रूप में लक्षण को अनुमान मान लेने पर कठिनाई यह हो सकती है कि तब लक्षण उसके पहले से ही प्रमाणित और सिद्ध होना चाहिए। जब तक अनुमान का लक्षण न हो, फिर केवलव्यतिरेकी अनुमान का लक्षण न हो, तब तक दोनों उत्पन्न नहीं हो सकते। इस परिस्थिति से बचने के लिए पुन: भासर्वज्ञ का मानना है कि लक्षण केवलव्यतिरेकी तो है लेकिन वह प्रमाण-विषयक न होकर प्रमेय-विषयक है। उनका तात्पर्य यह है कि लक्षण स्वयं में प्रमाण तो नहीं किन्तु प्रमाण का सहकारी है। यह एक सोपान है जिसकी सहायता से हम प्रमाण-प्रमेय विचार का आरम्भ कर सकते और उस तक पहुँच सकते हैं।

नैयायिकों ने इस लक्षणमीमांसा का प्रयोग अपने प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में बहुधा किया है। इन लोगों ने प्रमाणों को जिस रूप से परिभाषित किया है वे सभी प्रमाणों के स्वरूप-लक्षण कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनके द्वारा प्रमाणों के प्रातिस्विक अर्थात् प्रतिविषय नियत विशेषताओं पर प्रकाश नहीं डाला गया है, बल्कि उन प्रमाणों के सामान्य रूपों की खोज की गई है। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, अनुमान वह है जो व्याप्ति और पक्षधर्मता के समुचित ज्ञान से उत्पन्न होता है, शब्द वह है जो व्यक्त शब्द से उत्पन्न होता है। इन सभी परिभाषाओं को तत्तद् प्रमाणों का सामान्यलक्षण कहा जाता है, जो अपने स्वरूप में प्रमेय-निरपेक्ष, वस्तुस्थिति से तटस्थ अर्थात् तत्तद् प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान की प्रातिस्विक स्थितियों से सम्बद्ध नहीं हैं। नव्यन्याय परम्परा में ऐसे लक्षणों की भरमार है। वे लोग केवल नये लक्षणों को ही सामने नहीं लाये बल्कि उन्होंने पुराने लक्षणों का परिष्कार भी किया है। इसके चलते न्याय-परम्परा में एक कहावत प्रचलित हुई कि 'बुद्धया यदुपपन्नं तन्न्यायमतम्'। वस्तुत: सामान्यीकरण एवं विश्लेषण की प्रवृत्ति प्राचीन न्याय में भी विद्यमान रही, लेकिन वह प्रमेय सम्बन्धी विचारों से मानों अभिभूत सी हो गयी थी। लेकिन नव्यनैयायिकों ने लक्षणमीमांसा को प्रमेय-निरपेक्ष ढंग से आगे बढ़ाया है। यदि न्यायदर्शन के विकास को शुद्ध भारतीय तर्कशास्त्र की दिशा में देखने का प्रयास किया जाय तो इसी दिशा में और इसी आधारभूमि पर उसे समझा जा सकता है। बी. के. मतिलाल, जे.एन. मोहन्ती, पी.के. मुखोपाध्याय, विश्वम्भर पाही नारायण शास्त्री द्रविड़ इत्यादि ने अरस्तुवादी तर्कशास्त्र से भिन्न न्याय-परम्परा में हिन्दू तर्कशास्त्र के विकास को इसी रूप में देखा है। वस्तुत: जब ज्ञान आवश्यक रूप से भाषा में अभिव्यक्ति पाता है तो उसमें कुछ तार्किक आकार अन्तर्निहित होते हैं, क्योंकि तार्किकता का जन्म ही मानो भाषा के प्रयोग के साथ होता है। अत: नैयायिक अभिधेयत्व एवं ज्ञेयत्व की व्याप्ति मानकर भाषा में निहित उन सामान्य आकारों को उद्घाटित करते हैं जो वास्तव में तार्किक आकार भी कहे जा सकते हैं। इससे भिन्न तार्किक आकार कुछ हो भी नहीं सकते। नैयायिक जब किसी वस्तु का सामान्य-लक्षण निर्धारित करते हैं तो उसका निहितार्थ ऐसा ही होता है।

IV

प्रकृत प्रसंग में मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षणमीमांसा पर आधारित प्रमाणमीमांसा का एक तर्कशास्त्र के रूप में विकास भी तत्त्वमीमांसीय अवग्रह से मुक्त नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: इसके दो महत्त्वपूर्ण कारण हैं। पहला यह कि लक्षणमीमांसा को एक पद्धति के रूप में इतनी स्वायत्तता प्राप्त ही नहीं हो सकती। दूसरा यह कि कोई सामान्य लक्षण विश्वतोमुखीन हो, यह आवश्यक नहीं क्योंकि वैकल्पिक सामान्यलक्षण भी सम्भव हैं और फिर एक ही परम्परा में लक्षणों के परिष्कार

का इतिहास बिल्कुल भिन्न आशय का द्योतन कराता है। इसमें पहले पक्ष को लें तो लक्षणमीमांसा की पद्धति की स्वायत्तता के विरूद्ध कुछ आधारभूत प्रश्न खड़े किये जा सकते हैं। प्रमाणमीमांसा को लक्षणमीमांसा पर आधारित करने का तर्क यह हो सकता है कि प्रमाणों का विचार आवश्यक रूप से प्रमाणों के लक्षण अथवा परिभाषा के विचार को पूर्वापेक्षित करता है। परन्तु यह बात अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर उचित प्रतीत नहीं होती, जहाँ एक सामान्य व्यक्ति भी प्रमाणों को सुनिश्चित रूप से परिभाषित किये बिना ही उनका भली-भाँति प्रयोग कर रहा होता है। हाँ, विमर्शात्मक अनुभव के धरातल पर जहाँ हम प्रमाण व्यापार के प्रति आत्मचेतन होकर अवधारणीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हैं वहाँ प्रमाणों को सुविचारित रूप से परिभाषित करने की आवश्यकता होती है। अतएव विमर्शात्मक अनुभव के धरातल पर लक्षणमीमांसा को कथंचित् प्रमाणों को परिभाषित कर उनके स्वरूप-निर्धारण हेतु उपादेय माना जा सकता है, क्योंकि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव आदि दोषों से रहित किसी वस्तु का लक्षण ही उसका निजी स्वरूप होता है। यहाँ विचारणीय है कि जब प्रमाण हमें अनुभव के प्राग्विमर्शी स्तर पर किसी न किसी रूप में उपलब्ध हो जाते हैं तब उनके लक्षण या परिभाषा की जरूरत पड़ती है। प्रमाणों के उपलब्ध होने से पूर्व, या कहें उनको उपलब्ध करने के लिए, उनके लक्षण या परिभाषा की जिज्ञासा क्या काकदन्त-परीक्षा के समान व्यर्थ नहीं है? एतदर्थ प्रमाणों की परिभाषा अथवा लक्षण से ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो प्रमाणों की उपलब्धता का है। अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर हमें प्रमाण उपलब्ध हो जाते हैं तो अपनी सुविधानुसार उनका लक्षण बनाया जा सकता है और उनके समुचित विनियोग से बहुत सारी समस्याओं का समाधान भी किया जा सकता है, परन्तु इस प्रक्रिया में प्रमाणों के उपलब्ध होने के पश्चात् यदि उनकी प्रामाणिकता को लेकर प्रश्न खड़े हो जाँय तो उन्हें सुलझाने में न तो लक्षणमीमांसा से मदद मिलती है और न ही कोई दूसरा प्रमाण उसकी मध्यस्थता कर सकता है। पुनः, अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर प्रमाण जिस रूप में प्रथमतया उपलब्ध होते हैं वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि वे प्रमेय-निरपेक्ष एवं वस्तुस्थितियों से तटस्थ होते हैं। वहाँ तो उनका स्वरूप प्रतिविषय नियत रूप में ही उपलब्ध होता है। यह बात सही है कि नैयायिक अपनी लक्षणमीमांसा से प्रमाणों के उस सामान्यलक्षण को सामने लाने का प्रयास करते हैं जो वस्तुस्थिति से तटस्थ हो, लेकिन प्रमाणों के ऐसे स्वरूप की अवधारणा क्या अननुप्रयुक्त प्रमाण की अवधारणा नहीं है? कोई भी प्रमाण जब अनुप्रयुक्त रूप में, अपनी प्रातिस्विक स्थिति में, व्यवहार्य होता है तब प्रमेय-निरपेक्ष नहीं हो सकता, अर्थात् अपने स्वरूप में तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को आत्मसात् करने लगता है। कम से कम दर्शनशास्त्र में तो तत्त्वमीमांसीय प्रभाव से सर्वथा मुक्त प्रमाणों की अवधारणा ही नहीं की जा सकती। लेकिन नैयायिक इस बात को मानने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे। उन्हें

मनवाना यद्यपि मुश्किल कार्य है तथापि यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना चाहेंगे। नैयायिकों ने प्रमाणों का और प्रमेयों का भी सामान्यलक्षण प्रस्तुत किया है, लेकिन उनकी परम्परा में ही उन लक्षणों के वैकल्पिक रूप भी प्राप्त होते हैं। इसे वे परिष्कार कहेंगे कि हमने बहुत परिश्रम से लक्षणों का परिष्कार किया है। वैयाकरण जैसे एक मात्रा के लाघव से पुत्रोत्पत्ति के सुख का अनुभव करते हैं वैसे ही एक लक्षण-परिष्कार भी नैयायिकों के लिए बड़ा ही हर्ष का विषय होता है। परन्तु परिष्कार का इतिहास कुछ और भी कहता है। यदि न्याय परम्परा में प्रत्यक्ष के लक्षण के परिष्कार को क्रमबद्ध और आन्तरिक विकास की दृष्टि से देखा जाय तो 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' से लेकर 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' तक के परिष्कार को उत्तरोत्तर तत्त्वमीमांसीय प्रभावों को आत्मसात् करने वाला, उनसे अनुकूलता स्थापित करने वाला परिष्कार कहा जा सकता है। एतत्सम्बन्धी सभी परिष्कारों का मुख्य उद्देश्य प्रत्यक्ष के लक्षण में जाति-सत्ता और ईश्वर-प्रत्यक्ष को समाविष्ट करना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है।[13] पुनः, अनुमान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ है जबकि अनुमान को प्रत्यक्ष की अपेक्षा और अधिक तार्किक विशुद्धता में प्रस्तावित किया जाता है। गंगेशोपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि के व्यधिकरण प्रकरण में चतुर्दश प्रकार के व्याप्ति-लक्षणों का खण्डन कर अपने सिद्धान्त-लक्षण को प्रतिपादित किया है। उन चौदहों लक्षणों में कोई विशेष दोष नहीं है, लेकिन वे सभी प्रधान रूप से इसलिए अव्याप्त कहे गये हैं कि केवलान्वयी को व्याप्त नहीं करते। प्रश्न उठता है कि केवलान्वयी के प्रति इतना मोहग्रस्त होने के पीछे क्या कारण है और क्यों सिद्धान्त-लक्षण का चूड़ान्त स्वरूप नैयायिकों को केवलान्वयी व्याप्ति में ही प्राप्त होता है? इसका उत्तर स्पष्ट रूप से यही हो सकता है कि केवलान्वयी व्याप्ति के बिना 'सर्वं अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वम्' की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। अतएव कहा जा सकता है कि केवलान्वयी व्याप्ति तक अनुमान का विस्तार नैयायिकों के वस्तुवाद के लिए तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि अद्वैतवेदान्ती केवलान्वयी अनुमान का खण्डन करते हैं, क्योंकि यदि उनके मत में केवलान्वयी अनुमान को वैध मान लिया जाय तो 'विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्' उससे बाहर हो जाता है; जो उनके विचार-सरणी के लिए आधारिक है। वास्तव में विषय रूपेण आत्मा की अज्ञेयता को 'सर्वं ज्ञेयं' का अपवाद मानना अद्वैतवेदान्तियों की एक और गहरी सूझ या आधारभूत तत्त्वमीमांसीय मान्यता है।

इस प्रकार यहाँ हमने नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा से सम्बन्धित कुछ चुने गये उदाहरणों के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया है कि लक्षणों के स्वरूप-निर्धारण में तात्त्विक दृष्टि का निर्दिष्ट हस्तक्षेप होता है लेकिन इस बात को भारतीय प्रमाणमीमांसा के अधिकांश प्रकरणों की व्याख्या करते हुए दिखाया जा सकता है कि किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय में स्वीकृत प्रमाण अपनी अवधारणात्मक योजना में एक विशेष

प्रकार की तत्त्वमीमांसा से संरक्षण पाते हैं और विरासत भाव से उससे निर्देशित भी होते हैं। यह बात अलग है कि कोई इसे प्रकट रूप से स्वीकार करता है किन्तु दूसरे उसे न स्वीकार करते हुए भी उससे प्रभावित तो रहते ही हैं। यह तथ्य तब उभर कर सामने आता है जब भारतीय दर्शन में प्रमाणमीमांसीय प्रकरणों की वैकल्पिक व्याख्याओं को देखते हुए हम प्रश्न उठायें कि कोई विशेष दार्शनिक सम्प्रदाय किसी प्रमाणमीमांसीय प्रकरण की ऐसी ही व्याख्या क्यों करता है, क्यों नहीं वह अन्यथा करता है ? इसके उत्तर में हम यही पाते हैं कि प्रमाणमीमांसीय प्रकरणों की वैकल्पिक व्याख्याओं के माध्यम से दो या दो से अधिक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही दुहराते हुए उसे स्पष्टता एवं दृढ़ता प्रदान करते हैं।

अन्त में नैयायिकों की 'लक्षणमीमांसा' और 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थिति:' के सम्बन्ध में एक और प्रश्न उठाकर हम इस उपोद्घात को समाप्त करना चाहेंगे। यदि यह मान भी लिया जाये कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से होती है और प्रमाण स्वयं में लक्षण से सिद्ध होते हैं तो भी इससे प्रमाणों की प्राथमिकता अनिवार्य रूप से सिद्ध नहीं होती, वह भी इस अर्थ में कि तत्त्वमीमांसा ही प्रमाणमीमांसा का अनुगमन करती है। अवधेय कि अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर जहाँ प्रमाण हमें अपने प्रातिस्विक रूप में प्राप्त होते हैं (जैसाकि भासर्वज्ञ ने स्वीकार किया है) और उनका विश्लेषण तथा सामान्यीकरण करते हुए हम उनके लक्षण का निर्धारण करते हैं, वहीं हम तात्त्विक कोटियों को भी अनुभव में अन्तर्निविष्ट रूप से प्राप्त कर उनका भी विश्लेषण एवं सामान्यीकरण करते हुए उनके लक्षण निर्धारित कर सकते हैं। इस तरह कोई तात्त्विक कोटियों को प्रथमतया निर्धारित कर प्रमाणों को ही उनकी अनुरूपता में निरूपित कर सकता है। बौद्ध नैयायिकों ने नागार्जुनोत्तर काल में अपनी प्रमाणमीमांसा का ढाँचा इसी प्रारूप में विकसित किया है। वस्तुत: नागार्जुन कृत प्रमाण-समीक्षा के उपरान्त यही एक सुरक्षित रास्ता था। अत: यह मानते हुए भी कि हमें प्रमेयों का ज्ञान किसी न किसी प्रमाण से ही प्राप्त होता है, प्रमाण-प्रमेय के अवधारणीकरण में प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार अथवा तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा की व्याख्या की जा सकती है। प्रमाणों की संज्ञानात्मक और साधनात्मक प्राथमिकता का कम से कम भारतीय दर्शन में यही अर्थ नहीं है कि प्रमाणमीमांसा आधारभूत रूप से तत्त्वमीमांसा की पूर्वगामी है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. *युक्तिदीपिकाकार ने सांख्य-सम्मत 'प्रमेय सिद्धि: प्रमाणाद्धि' की अवधारणात्मक योजना में 'सिद्धि' शब्द में एवकार प्रयुक्त कर उसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए तीन विकल्पों को उठाया है। पहला यह कि 'प्रमेयस्यैव सिद्धि:' अर्थात् प्रमेय की ही सिद्धि होती है। दूसरा यह कि 'प्रमाणेभ्य एव' अर्थात् प्रमाणों से ही प्रमेय की सिद्धि होती है। तीसरा यह कि 'सिद्धिरेव', अर्थात् प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होगी ही। इन तीनों विकल्पों में युक्तिदीपिकाकार ने*

'प्रमाणेभ्य एव' को ही सांख्य दृष्टि के लिए संगत बताया है। परन्तु विचारणीय है कि सांख्य-परम्परा में सांसिद्धिक ज्ञान को तथा आर्ष ज्ञान को चित्तवृत्ति रूप प्रमाण की कोटि में रखा जा सकता है या नहीं? वाचस्पति मिश्र ने 'एतच्चलौकिक प्रमाणाभिप्रायेन' कहते हुए 'प्रमाणेभ्य एव' को लौकिक दृष्टि की सीमा में स्वीकार करते हुए आर्ष एवं सांसिद्धिक ज्ञान को उससे बाहर ही रखा है। ऐसी स्थिति में लौकिक प्रमाणों का भी अपनी आधारभूत संरचना में आर्ष एवं सांसिद्धिक प्रकार के अलौकिक ज्ञानों से संगत होना तंत्रगत संगति के लिए आवश्यक हो जाता है। यह वास्तव में और कुछ नहीं बल्कि लौकिक प्रमाणों पर अलौकिक ज्ञान के माध्यम से पड़ने वाला तत्त्वमीमांसीय अधिभार ही है। (विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य -लेखक का "सांख्य सम्मत प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि की समीक्षा" नामक आलेख-उन्मीलन, वर्ष १७,अंक १ जनवरी, २००३)

२. इसे साधारण दृष्टिकोण इसलिए कहा गया है कि यह निर्धारण 'काल' को प्रमाण और प्रमेय की उपाधि बनाकर किया जाता है। प्रमाण-प्रमेय की कालोपाधिक पूर्ववर्तिता अथवा अनुवर्तिता प्रमाण-प्रमेय के गौण-प्रधान भाव की निर्धारक नहीं हो सकती।

३. भारतीय परम्परा में युक्ति पुरस्सर प्रमाणशास्त्र के विकास को पाँच चरणों में विभाजित किया जा सकता है। इसका प्रारम्भिक रूप उपनिषदों के ब्रह्मोद्य, महाभारत के जनक अष्टावक्र और जनक-सुलभा संवाद एवं मिलिन्द- पन्नहो की संवाद विधियों में प्राप्त होता है। इसका व्यवस्थाभिमुख रूप वादविधि के रूप में कौटिल्य के अर्थशास्त्र और चरक इत्यादि में प्राप्त तन्त्रयुक्तियों एवं सिद्धवाक्यों की उद्दिष्ट विधि में प्राप्त होता है। इसका व्यवस्थित रूप न्यायसूत्र एवं न्यायभाष्य इत्यादि में आन्वीक्षिकी विद्या अथवा तत्त्वनिर्णय हेत्वर्थक न्यायशास्त्र के रूप में प्राप्त होता है। इसके विकासाभिमुख रूप को बौद्ध एवं जैन परम्परा के एतद्विषयक प्रारम्भिक ग्रन्थों में देखा जा सकता है। इसका विकसित रूप हमें दिङ्नाग, धर्मकीर्ति एवं न्याय-परम्परा के उत्तरकालिक एवं नव्यन्याय के ग्रन्थों में देखने को मिलता है। युक्तिपुरस्सर प्रमाणशास्त्र के विकास में व्यवस्थाभिमुख सोपान तक यह नहीं कहा जा सकता कि उसके सामने किसी तत्त्वमीमांसा के संरक्षण का उद्दिष्ट लक्ष्य सामने रहा हो लेकिन व्यवस्थित, विकासाभिमुख और फिर विकसित अवस्थापर्यन्त भारतीय प्रमाणशास्त्र का विकास किसी न किसी तत्त्वमीमांसा के उद्दिष्ट संरक्षण में ही हुआ है।

४. न्यायबिन्दु टीका, २/४८

५. न्यायवार्त्तिक, पृ. १४

६. द्रष्टव्य - वी. भारद्वाज-फार्म एंड वैलिडिटी इन इंडियन लॉजिक, प्रथम एवं द्वितीय अध्याय

७. नैयायिकों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन पर पहला विध्वंसात्मक प्रहार नागार्जुन के द्वारा हुआ था जिसे विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्र में देखा जा सकता है और संशोधनात्मक प्रहार से हमारा तात्पर्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति इत्यादि बौद्ध नैयायिकों के द्वारा प्रस्तुत प्रमाणमीमांसीय परिष्कार और समीक्षा से है।

८. प्रामाण्य ज्ञान पर आधारित प्रवृत्ति-साफल्य और प्रवृत्ति-साफल्य पर आधारित प्रामाण्य एक अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग है जिसका समाधान उद्योतकर ने यह कह कर किया है कि अनादि संसार में दोनों इसी क्रम से एक दूसरे को आगे बढ़ाते हैं।

९. कुछ लोगों का यह मानना है कि नव्य न्याय की ओर बढ़ते हुए न्याय दर्शन अपने प्रमेय तन्त्रात्मक अभिनिवेश के प्रति कट्टर नहीं रहा है - विश्वनाथ पंचानन कहते हैं "एते च पदार्थाः वैशेषिक नये प्रसिद्धाः नैयायिकानामप्यसिद्धा"और न्यायलीलावतीकार ने भी ऐसे ही नैयायिकों को "अनियतपदार्थवादिनः" कहा है। पुनः, न्याय शास्त्र को 'प्रदीपः सर्वविद्यानाम्, कहना भी उसे एक विचारपद्धति के रूप में ही प्रस्तुत करता है। परन्तु ऐसे सभी वक्तव्यों को न्याय दर्शन की मुख्य धारा से एकदेशीय रूप में ही जोड़ा जा सकता है।

१०. भीमाचार्य, न्यायकोश, पृ. ६९७

११. पदार्थ का लक्षण करने में लक्षण का प्रयोजन केवल शब्द-व्यवहार है जबकि पदार्थ के अतिरिक्त अन्य सभी के लक्षण में व्यावृत्ति और शब्द-व्यवहार नामक दोनों प्रयोजन उद्दिष्ट होते हैं। पदार्थ लक्षण के साथ व्यावृत्ति रूप प्रयोजन के उद्दिष्ट नहीं होने का कारण यह है कि पदार्थ केवलान्वयी धर्म है।

१२. प्रत्यक्ष के लक्षणों में परिष्कार के अतिरिक्त नैयायिकों ने प्रमा के लक्षण का भी निर्धारण अपनी तात्त्विक दृष्टि को ध्यान में रखते हुए किया है। इस सम्बन्ध में उदयन द्वारा न्याय कुसुमाञ्जली में ईश्वर को ध्यान में रखकर प्रमा के लक्षण में 'अबाधितत्व' का खण्डन विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

अध्याय : तीन



प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि प्रत्युत प्रमाणसिद्धिः प्रमेयाद्धि

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का एक बहुत बड़ा भाग प्रमाणमीमांसीय चिन्तन से सम्बद्ध है। प्रमाणमीमांसा के अधिकांश प्रश्न प्रमाणों के लक्षण, संख्या, विषय, फल एवं विनियोग से सम्बन्धित माने जाते हैं। कुछ एक ऐसे भी प्रश्न हैं जिनका सम्बन्ध प्रमाणों के स्वरूप की आधारिक संरचना से होता है। प्रमाणों के विनियोगादि से भिन्न ऐसे प्रमाण-दार्शनिक प्रश्नों की विशिष्टता उनका आधारिक एवं मूलगामी प्रकृति का होना है। इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में इस तथ्य का उद्घाटन सम्भव हो पाता है कि कोई प्रमाण अपने स्वरूप एवं विनियोग में क्यों ऐसा ही है, अन्यथा क्यों नहीं है ? दूसरे शब्दों में स्वीकृत प्रमाणों को उनके नेपथ्य में देखना सम्भव हो पाता है, जहाँ वे निज प्रामाण्य को आवाप्त करते हैं। भारतीय दर्शन के इतिहास में 'मानाधीना मेयसिद्धिः' और 'मेयाधीना मानसिद्धिः' को प्रमाण-दर्शन से सम्बन्धित ऐसे ही दो आधारभूत प्रश्नों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुत: ये दोनों प्रश्न अपनी प्रकृति में प्रस्थानमूलक हैं जो भारतीय दर्शन की दो भिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचना को प्रस्तावित करते हैं। दोनों प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचनाएँ अपने-अपने तरीके से तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा के पारस्परिक सम्बन्ध को व्याख्यायित करते हुए प्रमाणों की प्रस्थिति एवं भूमिका को निर्धारित करती हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हमारा उद्देश्य 'मानाधीना मेयसिद्धिः' और 'मेयाधीना मानसिद्धिः' के निर्धारक पूर्वग्रहों एवं निष्पत्तियों को विश्लेषित करते हुए यह दिखाना होगा कि वास्तव में प्रमाणों का कार्य क्या है ? क्या प्रमाणों की भूमिका अन्वेषणात्मक है अथवा प्रमाण केवल पूर्वगृहीत तत्त्वमीमांसा का

बौद्धिक निदर्शन कराते हैं ? इस मूलभूत प्रश्न की समीक्षा करते हुए हम यह भी दिखाने का प्रयास करेंगे कि प्रमाणों से प्रमेयसिद्धि अथवा प्रमेयापादन का दावा वैसा ही नहीं है जैसा कि समझा जाता है। प्रत्येक प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। हमारा प्रमाणमीमांसीय चिन्तन उसी पृष्ठभूमि से आरम्भ होता है और अन्ततः हमें उसी में लौटना होता है। अलग-अलग प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचनाओं की विशिष्टता केवल इस बात में निहित होती है कि ये भिन्न-भिन्न प्रकार की तात्त्विक दृष्टि या सत् विषयक प्रतिमानों को निदर्शित करते हुए उनके पारस्परिक भेदों को प्रतिपादित करने में सहायक हुआ करते हैं।

I

प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों में 'मानाधीनामेयसिद्धिः' को सर्वतंत्र-स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। सांख्यवादियों का 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणासिद्धि'[1] और वात्स्यायन का 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्'[2] इतिविषयक प्रस्थानमूलक अभिकथन के रूप प्रसिद्ध हैं। गङ्गेश उपाध्याय तो इससे भी आगे बढ़कर ''प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः'' का उद्घोष करते हैं।[3] सामान्यतया इनकी प्रमाणमीमांसा का समारम्भ इस प्रश्न से होता है कि अमुक-अमुक प्रमाण उपलब्ध हैं और इनसे हम क्या सिद्ध कर सकते हैं जो वास्तव में अस्तित्ववान है। उपलब्ध प्रमाणों की संख्या तो निश्चित की जा सकती है लेकिन प्रमेयों के सम्बन्ध में ऐसा किया जाना सम्भव नहीं। अतएव नैयायिकों को अन्ततः अपने आप को अनियतपदार्थवादी ही स्वीकार करना पड़ता है।[4] न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने सम्भवतः इसीलिए प्रमाणविषयक सूत्रों को प्रथम स्थान पर रखा है। चूँकि इनकी दृष्टि में प्रमाण ही समस्त पदार्थों का व्यवस्थापक हुआ करता है, एतदर्थ प्रमाणमीमांसा को प्राथमिकता देते हुए नैयायिकों ने 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' को प्रमाण का सामान्यलक्षण स्वीकार किया है, क्योंकि प्रमाण-प्रवृत्ति के बिना प्रमेयविषयक प्रमा की उपलब्धि नहीं होती। अभिधेय और ज्ञेय के रूप में पदार्थों का सामान्यलक्षण भी प्रमाणमीमांसा की प्राथमिकता को ही सूचित करता है। यहाँ अवधेय है कि नैयायिकों ने प्रमाणों की गणना भी षोडश पदार्थों के अन्तर्गत की है। इस दृष्टि से प्रमाण भी प्रमेय कोटि में समाहित हो जाते हैं। ऐसा अभिमत अन्ततः प्रमाण-प्रमेय के मौलिक भेद को धूमिल करता हुआ प्रतीत होता है। नागार्जुन[5] ने अपने विग्रहव्यावर्त्तनी और विशेषकर वैदल्यसूत्र में प्रमाण-प्रमेय के लक्षणों का परस्परतः सम्प्लव दिखाते हुए इस सम्बन्ध में अनेक आपत्तियों को उद्भावित किया है। इस पर आगे के अध्यायों में हम प्रसंग प्राप्त होने पर विचार करेंगे।

'मानाधीनामेयसिद्धिः' मानने वालों के लिए स्वयं प्रमाणसिद्धि का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यदि सब कुछ प्रमाण से ही सिद्ध होना चाहिए तो प्रमाण ही किस प्रकार स्वयंसिद्ध हो सकते हैं। प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणान्तर के द्वारा मानने पर

अनवस्था की प्रसक्ति स्वाभाविक ही है। अनवस्था-ग्रस्त होने से जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे की सिद्धि का हेतुत्व किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? यदि प्रमाण की सिद्धि लक्षण के द्वारा मानी जाय[६] तो लक्षण का ज्ञान भी प्रमाणपूर्वक ही होगा और फिर वही अनवस्था पूर्ववत् आसन्न रहेगी। प्रमाण-निरपेक्ष लक्षण जैसी कोई चीज़ 'स्वलक्षण' तो हो सकती है किन्तु वह यहाँ अभिप्रेत नहीं। अतएव लक्षण का प्रमाणमुखेन होना एक अनिवार्य स्थिति है और ऐसा होने से उसका अनवस्थापाती होना भी उतना ही अनिवार्य है। इस प्रकार के आधारभूत आपत्तियों से बचने के लिए कुछ लोगों ने प्रमाणों को 'प्रदीपवत्'[७] और कुछ लोगों ने ज्ञान को 'स्वत:प्रकाश' मानते हुए ज्ञानमात्र को नित्य आत्मा का धर्म स्वीकार किया है। न्यायाभिमत में आत्मा और ज्ञान के मध्य समवाय सम्बन्ध होता है। यहाँ आत्मा की चेतनता और ज्ञान से उसका समवाय सम्बन्ध ज्ञानस्वरूपत्वेन नहीं बल्कि ज्ञानाधिकरणत्वेन विवक्षित है। मीमांसकों की दृष्टि में आत्मा और ज्ञान के मध्य भेदसहिष्णु-अभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध होता है। अद्वैतवेदान्त में आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप ही है। उपर्युक्त मतभेदों के बावजूद बौद्धेतर दार्शनिकों ने आत्मगत ज्ञान को प्रमाणफल तथा प्रमाणों को इस फल-निष्पत्ति का साधन मानकर प्रमाण और प्रमाणफल को साधन-साध्य रूप से व्यवस्थित किया है। यदि प्रमाण ज्ञानरूप नहीं तो हम कह सकते हैं कि जब-जब हमें ज्ञान होता है तब-तब किस माध्यम से वह उपलब्ध हुआ, इसका भी ज्ञान आनुषंगिक रूप से होना ही चाहिए। अत: ज्ञान की उपलब्धि मात्र से ही प्रमाणों का साधनत्व सिद्ध हो जाता है। इसके लिए प्रमाणान्तर की कल्पना व्यर्थ है।[८] प्रमाणान्तर की आवश्यकता तो तब होती जब प्रमाण को ही ज्ञानरूप माना जाता। प्रमाण और ज्ञान में भेद मान लेने के कारण ही यह सम्भव हुआ कि एक ही प्रकार के प्रमेय की उपलब्धि विभिन्न प्रमाणों से एवं एक प्रमाण से भिन्न-भिन्न प्रमेयों की उपलब्धि हो सकती है।[९] इस प्रकार 'मानाधीनामेयसिद्धि:' का सिद्धान्त मानने वालों के लिए प्रमाण और प्रमाणफल का पार्थक्य, प्रमाणफलरूपी ज्ञेयोपलब्धि के आश्रय के रूप में नित्य आत्मा की सत्ता तथा प्रमाणसम्प्लव इत्यादि की स्वीकृति आवश्यक हो जाती है।

पुन:, यदि प्रमाण साधन है तो उसके माध्यम से एक ओर प्रमा का साधन होता है तो दूसरी ओर प्रमा के विषय की सिद्धि भी होती है। ऐसी स्थिति में आत्मगत ज्ञान और विषय को जोड़ने के लिए सदैव प्रमाण की आवश्यकता होगी। आत्मा का सीधे विषय से सम्पर्क नहीं हो सकता। यदि इन्द्रियाँ इस सम्पर्क के लिए माध्यम का काम करती हैं तो इस सम्बन्ध में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की जटिल समस्या उत्पन्न होती है। इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का सिद्धान्त नैयायिकों एवं मीमांसकों के लिए बहुत ही उपादेय है। परन्तु इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी भी हैं, इसके लिए भी बहुत प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[१०] इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मान लेने पर 'इन्द्रियार्थ

सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्क्षम्' ही अनुपपन्न हो जाता है।[11] पुन: जब हमने एक बार किसी माध्यम को प्रमाण मान लिया तो उस माध्यम के दोषमुक्त प्रयोग से जो कुछ उपलब्ध होगा उसको भी प्रामाण्य ज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा। इसीलिए शब्द को प्रमाण मान लेने पर श्रुतियों में उल्लिखित सब कुछ की प्रामाणिकता सर्वतोभावेन् स्वीकार करनी पड़ती है। ध्यातव्य है कि श्रुतियों को लेकर भारतीय दर्शन में पर्याप्त मतभेद रहे हैं। यह मतभेद कतिपय अन्य प्रकार की कठिनाइयों एवं निष्पत्तियों को भी प्रस्तावित करता है।

'मानाधीनामेयसिद्धि:' के सिद्धान्त की मुख्य परिणति इस बात में होती है कि आत्मा में अवभासित होने वाले सभी वस्तुओं को पदार्थ की कोटि में प्रतिष्ठित करना अनिवार्य हो जाता है। आत्मगत ज्ञान के विषय को कभी भी काल्पनिक संरचना से अभिहित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में एक ओर विषय को ज्ञान से परे और पृथक् होना पड़ेगा तो दूसरी ओर ज्ञाता को ज्ञान में अपनी तरफ से कुछ जोड़ने का अधिकार नहीं होगा। यावत् उपलब्धियों को प्रमाण-प्रदत्त होना चाहिए। ज्ञान में ऐसा कुछ भी स्वीकार नहीं किया जा सकता जो प्रमाणों के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम से उद्भूत हुआ हो। अत: विषय की आत्मा से पृथक् स्थिति, ज्ञान में प्रतिभासित यावत् वस्तुओं का विषयगत प्रामाण्य और आत्मा के विकल्पादि द्वारा विषयकर्त्तृत्व का सम्पूर्ण निषेध इत्यादि बातें 'प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि' की आवश्यक निष्पत्तियाँ हैं। बौद्धेतर दार्शनिकों की प्रमाणमीमांसा अपने सामान्यरूप में उपर्युक्त निष्पत्तियों का ही एक दार्शनिक चक्रव्यूह है।

II

अब यहाँ विचारणीय है कि 'मानाधीनामेयसिद्धि:' की उपर्युक्त निष्पत्तियों की पृष्ठभूमि में प्रमेयसिद्धि विषयक प्रमाणों की साधनात्मक भूमिका और प्रस्थिति का क्या तात्पर्य है ? इसका मतलब यह कदापि नहीं हो सकता कि प्रमाण से सिद्ध होना प्रमेय का अस्तित्व में आना है। इस अभिमत में जानना और अस्तित्व लाभ करना परस्पर निरपेक्ष प्रक्रियाएँ हैं। ज्ञान के जनक और अस्तित्व के कारण को एक दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान होने की प्रक्रिया में किसी वस्तु का पहले अस्तित्व में आना और बाद में उसका ज्ञापन नहीं होता। वस्तुएँ सत्तासमवाय से स्वयं में ही सत्तावान् होती हैं। जब हम यह कहते हैं कि प्रमाणों से ही प्रमेय की सिद्धि होती है तो उपर्युक्त अभिप्रायों को अवश्य ही ध्यान में रखा जाना चाहिए।

'मानाधीनामेयसिद्धि:' के समर्थक दार्शनिक सत्ता की अज्ञात अवस्था को स्वीकार करते हैं। यह उनकी वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा के लिए आवश्यक भी है। सत्ता की अज्ञात अवस्था, अर्थात् जब वह प्रमाणों की विषय न बनी हो, तब उसे एक अविभेदित स्थिति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस अवस्था में वह सत्तावान् भले ही हो लेकिन उसका अन्यों से भेद प्रतिपादित नहीं रहता है। दूसरी ओर

हम चित्त की एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं जो विषयाभिमुख होते हुए भी किसी वस्तु के ग्रहण में प्रवृत्त न हुआ हो। सत्ता की अविभेदित स्थिति से उसकी विषयरूपेण और अन्य व्यावृत्त उपलब्धि के लिए विषयाभिमुख चित्त का उससे सम्बन्धित होना आवश्यक है। नैयायिकों के अभिमत में' जैसा कि जयन्त भट्ट ने स्पष्ट किया है, अर्थसंवेदन के अतिरिक्त चैतन्य का और कोई अर्थ नहीं (नार्थसंवेदनाच्चैतन्यं नाम विद्यते)। यह सम्बन्ध अनिवार्य नहीं अपितु संयोगात्मक ही होता है। चित्त विषय से सम्बन्धित होकर सर्वप्रथम उसे अन्यों से विभेदित करता है। सत्ता की ज्ञानात्मक उपलब्धि चित्त द्वारा सम्पादित इस विभेदीकरण का ही परिणाम अथवा फल है। सांख्य, वेदान्त, और न्यायदर्शन में इसी को ज्ञान की 'परिच्छेद्यता' कहा गया है। अतएव स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्रमेयसिद्धि में प्रमाणों की साधनात्मक भूमिका एवं प्रस्थिति का तात्पर्य उसे अन्यों से परिच्छेदित करना है। परिच्छेदन की शक्ति आत्मा या मन में निहित होती है। क्या प्रमाणों के द्वारा परिच्छेदित वस्तु का ग्रहण उस वस्तु का आपादन है? अवधेय है कि सत्ता को अन्यों से विभेदित करते हुए उसे वस्तु विशेष के रूप में जानना प्रमाण के द्वारा किया गया कोई अस्तित्वात्मक अवदान नहीं। नैयायिकों के मत में ज्ञान अपनी प्रकृति में प्रापक नहीं बल्कि निरूपक होता है। वह अपनी तरफ से विषय में न तो कुछ जोड़ता है, न ही विषय की विशिष्टता को प्रभावित करता है। यह सम्भव है कि सत्ता अपनी सम्पूर्णता में हमारे ज्ञान की विषय न बनी हो। ऐसी स्थिति में हमारा ज्ञान अपूर्ण और अपर्याप्त होगा। यह अपर्याप्तता और अपूर्णता हमारे ज्ञान में होती है। सत्ता को इससे कुछ भी लेना देना नहीं। यह हमारे दोषपूर्ण प्रमाण-व्यापार को सूचित करता है, जिसे ज्ञान के साधनों की सम्यक् प्रयुक्ति से दूर किया जाना सम्भव है। अतएव सत्ता अपनी स्थिति में वैसी ही रहती है लेकिन तद्विषयक ज्ञान के दोषपूर्ण अथवा सही होने में भूयोदर्शनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस प्रकार प्रमेयोपलब्धि में प्रमाणों की परिच्छेदात्मक भूमिका को प्रमेयापादन या प्रमेयान्वेषण समझना एक असंगत संकल्पना है।

न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा आदि वस्तुवादी दर्शनों की एक प्रमुख मान्यता यह है कि ज्ञान सदैव सविषयक होता है। इसका भी यह मतलब नहीं है कि ज्ञान संपूर्ण रूप से विषय की अवस्थिति पर निर्भर करता है। कम से कम एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ में तो ज्ञान को विषय से स्वतन्त्र कहा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि बहुत से मतभेदों के बावजूद बौद्धेतर दर्शनों में ज्ञान को आत्मा या चित्त की एक क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका आरम्भ आत्मा या चित्त में ही होता है। आत्मा या चित्त को इस ज्ञान-रूप क्रिया का स्वतन्त्र कर्त्ता कहा जा सकता है। किसी वस्तु का ज्ञान आत्मा या चेतना में जानने की स्वतन्त्र इच्छा रूप व्यवसाय का ही फल है। नैयायिकों ने ज्ञानारम्भण का हेतु सन्देह और इच्छा को स्वीकार किया है। इनके अभिमत में ज्ञान की प्रक्रिया

क्षणिक नहीं है। यह सत्ता से सम्बद्ध और उसमें प्रवृत्त होकर ही पूर्ण होती है। अतएव ज्ञान अपने आरम्भण में विषय से तो स्वतन्त्र है लेकिन इसकी पूर्णता अन्ततः विषयाश्रित ही होती है। संभवतः इसीलिए शंकराचार्य को भी ज्ञान की वस्तुतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी थी (ज्ञानं वस्तुतंत्रम्)। इसी तरह प्रमाणों की सम्पादनात्मकता भी प्रमेयतन्त्रात्मक ही है। यह 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के दावे को अन्ततः कमजोर बना देता है।

'मानाधीनामेयसिद्धिः' की निष्पत्तियों की विवेचना के प्रसंग में ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रमेयसिद्धि का प्रश्न केवल ज्ञप्ति तक ही सीमित नहीं बल्कि प्रामाणिकता को भी उसमें सम्मिलित किया जाना चाहिए। पूर्वमीमांसक एवं उत्तरमीमांसकों की दृष्टि में ज्ञान का प्रामाण्य स्वयं ज्ञान में निहित होता है। यह अपनी प्रामाणिकता को कहीं बाहर से आयातित नहीं करता। प्रामाणिकता ज्ञान में प्रागनुभविक रूप से प्रदत्त होती है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान अपनी प्रामाणिकता को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। मीमांसकों ने ज्ञान की उत्पत्ति और प्रामाण्य में कारणैकत्व को स्पष्टतया स्वीकार किया है।[१२] मीमांसकों की ऐसी धारणा बहुत हद तक वेदप्रामाण्य की धार्मिक भावना से अनुप्राणित रही है। इसकी समीक्षा विशुद्ध ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से करते हुए कहा जा सकता है कि प्रामाणिक ज्ञान में विषय की पूर्वापेक्षा आवश्यक रूप से निहित रहती है। आत्मा में ज्ञान की प्रक्रिया का आरम्भ जिस सीमा तक विषय से स्वतन्त्र स्वीकार किया जा सकता है उसी सीमा तक ज्ञान की प्रामाणिकता को विषय-निरपेक्षता प्रदान नहीं की जा सकती। यदि विषय की अध्यक्षता में ही स्वतःप्रामाण्यवादी ज्ञान की प्रामाणिकता के प्रश्न को सुलझाना चाहें तो कम से कम उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान ही नहीं हो सकता जिसका अस्तित्व नहीं हो। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जिस किसी वस्तु का ज्ञान होता है उसका अस्तित्व ज्ञान से स्वतन्त्र होता है। परञ्च ऐसी मान्यता को अंतिम रूप से स्वीकार किया जाना सम्भव नहीं। यदि स्वीकार कर भी लिया जाये तो साथ में यह भी मानना पड़ेगा कि ज्ञान की उत्पत्ति और प्रामाणिकता दोनों का सम्पादन एक अज्ञात चरम वैषयिक अध्यक्षता में होता है। ऐसे स्वतःप्रामाण्यवाद में तथाकथित प्रमाणों की क्या भूमिका हो सकती है ? प्रामाण्यसिद्धि के अधिकार से प्रमाण सर्वथा वंचित हो जाते हैं। यदि अप्रामाण्य के परतः निर्धारण में प्रमाणों की भूमिका को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाये तो यह छलावा मात्र है, क्योंकि वास्तव में अप्रामाण्य वहाँ है ही नहीं।[१२-अ]

नैयायिकों ने उपर्युक्त कठिनाइयों का परिहार करते हुए ज्ञान की प्रामाणिकता विषयक अपनी अवधारणा का परिष्कार किया है। ज्ञान की प्रक्रिया का आरम्भ आत्मा या चित्त की विषयात्मक विचक्षणा से होता है। यह विचक्षणा मात्र ही ज्ञान की पूर्णता नहीं। इस स्थिति में ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न नहीं उठता। न्याय-अभिमत में ज्ञान

की प्रामाणिकता का प्रश्न ज्ञानक्रिया और उसके द्वारा विषयपरिच्छेदन-व्यापार से भी सम्बन्धित नहीं है। यह पूर्णतया प्रवृत्तिसाफल्य से प्रतिबन्धित होता है।[13] अतएव ज्ञान का आरम्भ विषय से स्वतन्त्र होते हुए भी अपनी प्रामाणिकता के लिए प्रवृत्तिसाफल्य पर निर्भर करता है। यह प्रवृत्तिसाफल्य न तो ज्ञान है और न ही कोई ज्ञेय विषय है। ऐसी स्थिति में ज्ञान की प्रामाणिकता वास्तव में विषय और ज्ञान की पारस्परिक निर्भरता से परे ज्ञानवृत्तिक न होकर क्रियावृत्तिक हो जाती है। वस्तुत: नैयायिकों की दृष्टि में चेतना केवल ज्ञप्ति ही नहीं है बल्कि प्रवृत्ति-निवृत्ति मूलक व्यवहारपरकता भी है। ज्ञान की प्रामाणिकता का ऐसा निकष प्रकृत समस्या का भले समाधान प्रस्तुत करता हो लेकिन ऐसे समाधान को कम से कम प्रमाणमूलक तो नहीं ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार 'मानाधीनामेयसिद्धि:' की उपर्युक्त निष्पत्तियों की सामान्य समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ तक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है वह विषय से स्वतन्त्र होता है। विषय प्रदत्त होते हैं और ज्ञान का प्रदत्त विषय से कोई तनाव नहीं होता। प्रदत्त विषय की निजरूपता को ज्ञान सकारात्मक अथवा नकारात्मक रूप से प्रभावित भी नहीं करता है। ऐसी स्थिति में प्रमाणमीमांसा का कार्य तटस्थ निरूपण और विश्लेषण के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? 'प्रमेयसिद्धि' में प्रमाणों की भूमिका को किसी वस्तु को खोज निकालने के अर्थ में अन्वेषणात्मक समझना एक भूल है। हम यह नहीं कह सकते कि किसी वस्तु को हम इस रूप से जानते हैं इसीलिए वस्तु ऐसी है और वस्तुविषयक हमारा ज्ञान उसे उस रूप से निरूपित करता है। वास्तव में कहना तो यह चाहिए कि वस्तु ही ऐसी है, इसीलिए तद्वविषयक हमारा ज्ञान ऐसा है। एतावता 'प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि' की निष्पत्ति इस बात में होती है कि प्रत्येक प्रमाणमीमांसा के लिए एक तत्त्वमीमांसा आवश्यक है लेकिन प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के लिए प्रमाणमीमांसा पूर्वापेक्षित नहीं है। वस्तुत: तत्त्वमीमांसीय अधिशासन के बिना कोई प्रमाणमीमांसा प्रवर्तित ही नहीं हो सकती। यदि कभी-कभी कोई प्रमाणमीमांसा अपनी विकसित अवस्था में तत्त्वमीमांसीय प्रत्ययों का कुछ अंशों में काट-छांट करती है तो इसे तंत्रबद्ध प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में तत्त्वमीमांसा को आबद्ध करने की तत्त्वमीमांसीय प्रेरणा ही समझी जानी चाहिए।

III

अब यदि दूसरे पक्ष पर दृष्टिपात करें तो कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम 'मानाधीनामेयसिद्धि:' के विपरीत 'मेयाधीनामानसिद्धि:' की दार्शनिक सूझ बौद्ध नैयायिकों ने प्रस्तावित की है। दिङ्नाग के पूर्व बौद्ध दर्शन में इतिविषयक एक ऊहापोहात्मक स्थिति के संकेत मिलते हैं। विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्रम् में नागार्जुन ने 'मानाधीनामेयसिद्धि:' के सम्भव विकल्पों का बलपूर्वक खण्डन किया है। उन्होंने अपने खण्डन में अन्य विकल्पों को उद्भावित करते हुए

'मेयाधीनामानसिद्धिः' को भी चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय का ग्रास बना दिया है।[14] ध्यातव्य है कि नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्र में न्यायसूत्र को पूर्वपक्ष बनाया है और न्यायसम्मत 'मानाधीनामेयसिद्धिः' का खण्डन करते हुए उसके विकल्प रूप में ही 'मेयाधीनामानसिद्धिः' के पक्ष को उपस्थापित किया है और यहाँ उनका उद्देश्य वस्तुतः नैयायिकों के पक्ष में स्वज्ञान-व्याघाती विकल्प प्रस्तुत करना था न कि मेयाधीनामानसिद्धिः को स्वतंत्र पक्ष बनाकर उसका खण्डन। इसलिए इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि नागार्जुन को 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का मत स्वीकार्य था। नागार्जुन की तो कोई स्वमत प्रतिज्ञा ही नहीं है। किसी भी मत में स्वगत अन्तर्विरोध दिखाना ही नागार्जुन की विचार-प्रक्रिया है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैसे ह्यूम ने अपनी समीक्षा से काण्ट को अन्धविश्वास की तंद्रा से जगाकर मानवीय ज्ञान के स्वरूप और सीमा पर बिल्कुल नये ढंग से सोचने के लिए प्रेरित किया था उसी प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों को तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा के अभिनव संरचना की मूल प्रेरणा नागार्जुन से ही प्राप्त हुई होगी।

विज्ञप्तिमात्रतावादी वसुबन्धु 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के सिद्धान्त से आपाततः प्रभावित प्रतीत होते हैं। वसुबन्धु को आगम प्रमाण स्वीकार्य है।[15] यदि प्रमाणमूलक प्रमेयसिद्धि के बदले प्रमेयमूलक प्रमाणसिद्धि का पक्ष उन्हें स्वीकार्य होता तो विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि के लिए आगम को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्कता नहीं होती। विज्ञप्तिमात्रता को प्रमाण के बिना भी स्वतःसिद्ध माना जा सकता था। दूसरी ओर वसुबन्धु ने विंशतिका में विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है।[16] पुनः, विज्ञप्तिमात्रता को आधार बनाकर वसुबन्धु प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की अवास्तविकता प्रतिपादित करने का भी प्रयास करते हैं। इस दूसरे पक्ष में वसुबन्धु स्पष्टतः तत्त्वदृष्टि को आलम्बन बनाकर प्रमाण के स्वरूप पर विचार करते हुए प्रतीत होते हैं। अतएव स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' और 'मेयाधीनामानसिद्धिः' में वसुबन्धु को कौन सा मत स्वीकार्य था। वस्तुतः एतद्विषयक वसुबन्धु के पक्ष पर विचार करते हुए जो अस्पष्टता दिखाई पड़ती है, उसका कारण एक ओर आगम-प्रमाण को स्वीकार करना तथा पुनः आगमोक्त पदार्थ के लिए अनुमान प्रस्तुत करने के कारण है। जबकि वास्तविकता यह है कि बौद्ध परम्परा में वैदिक परम्परा की तरह आगम-प्रमाण का विनियोग नहीं होता बल्कि आगम-प्रमाण को परार्थानुमान रूप से प्रयुक्त किया जाता है। एत द्विषयक बौद्ध नैयायिकों की यह विशेष दृष्टि है।

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में 'मेयाधीनामानसिद्धिः' जैसा कोई स्पष्ट कथन नहीं मिलता है फिर भी ''मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्''[17] जैसे वचनों से 'मेयाधीनामानसिद्धिः' की प्रतिस्वीकृति द्योतित होती है। प्रज्ञाकर गुप्त के अनुसार

अभिमत पदार्थ की सिद्धि के लिए प्रेक्षावान् व्यक्ति प्रमाणों का अन्वेषण किया करते हैं। अन्यथा प्रमाणों का अन्वेषण एक व्यसन के अतिरिक्त और क्या हो सकेगा ?[१८] वस्तुत: प्रमेयमूलक प्रमाणमीमांसा ही बौद्धों के लिए उपादेय है। बौद्ध प्रमाणमीमांसा की शुरूआत ही इस प्रश्न से होती है कि हमारे ज्ञान की वह कौन सी अवस्थाएँ हैं, उनके कौन-कौन से प्रकार हैं, उनकी क्या-क्या विशेषताएँ हैं, जिनमें हम अपनी प्रमेयपृक्षा को व्यवस्थित कर सकते हैं ? सर्वत्र प्रमेय-दृष्टि की विशिष्टता ही प्रमाणमीमांसीय संरचना में अभिव्यक्त होती है। इस पृष्ठभूमि में 'अविसंवादी ज्ञानं प्रमाणम्' 'प्रमेयकार्यं हि प्रमाणम्'[१९] तथा 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्' आदि प्रतिपत्तियों से बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में 'मेयाधीनामानसिद्धि:' का ही अध्याहार होता है।

यदि अनात्मवाद और क्षणभंगवाद के परिप्रेक्ष्य में इस समस्या पर विचार किया जाय तो 'मेयाधीनामानसिद्धि:' का पक्ष ही सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन के लिए उपादेय प्रतीत होता है। प्रमाणों के द्वारा प्रमेयसिद्धि को स्वीकार करते हुए अनात्मवाद का पुरस्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में प्रमाणों के पूर्वाधार रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता हो सकती है। इस सम्भावित अन्तर्विरोध के कारण अनात्मवाद का त्याग अथवा प्रामाण्य ज्ञान की अस्वीकृति में से कोई एक ही विकल्प स्वीकार करना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि 'मानाधीनामेयसिद्धि:' के अभिगम को अग्रसारित करने पर उसका पर्यवसान एक आत्मतत्त्व की स्वीकृति में होता है जो समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार का पूर्वाधार और स्वयं सिद्ध हो। पुन: यदि उस आत्मतत्त्व को स्वत:सिद्ध न माना जाय तो प्रामाण्य ज्ञान की सम्भावना का ही मूलोच्छेद हो जाता है। अतएव उपर्युक्त दोनों विकल्पों में से किसी एक का भी त्याग बौद्ध दर्शन की प्रमाणमीमांसा के लिए संगत नहीं है। अतएव 'मानाधीनामेयसिद्धि:' का त्याग ही बौद्ध प्रमाणमीमांसा के लिए श्रेयस्कर है। क्षणभंगवाद की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त समस्या पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि प्रमेयविषयक सन्देह की स्थिति में ही प्रमेयसिद्धि का प्रश्न उठता है। सन्देह की अवस्था में प्रमाण की खोज और संदिग्ध वस्तु ही प्रमाणशास्त्र का विचार्य विषय होता है। सन्देह एक समान विचार-प्रक्रिया और एक कोटि में एक से अधिक विकल्पों का अवगाहन है। इसके लिए एक स्थिर आधार का होना आवश्यक है, जिसमें एक ही कोटि के अन्तर्गत एकाधिक विकल्पों का अवगाहन हो सके। क्षणभंगवाद में तत्त्वत: क्षणविषयक एक से अधिक विकल्पों का अवगाही ज्ञान सम्भव नहीं। एतावता क्षणभंगवाद में किसी क्षणिक प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण का आलम्बन ही असम्भव हो जाता है। यदि व्यावहारिक दृष्टि से क्षण-सन्तान में एकत्व का आरोप करके एक में अनेक विकल्पों का अवगाहन मान भी लिया जाय और उससे उत्पन्न सन्देह ही निवृत्ति के लिए प्रमाण को प्रमेयसिद्धि का असाधारण कारण भी कह लें तो भी प्रमाण से वास्तविक प्रमेय की सिद्धि नहीं होगी। प्रथमतया

सन्देह की सम्भावना को पैदा करने के लिए क्षण-सन्तानगत एकत्व का आरोप और द्वितीयत: उस क्षण-सन्तानगत एकत्व में अवगाह्यमान दो या दो से अधिक विकल्पों का आरोप, जिनके बारे में प्रमाणपूर्वक सन्देह की निवृत्ति अभिप्रेत है। इस प्रकार क्षणभंगवाद में प्रमाण से कल्पित प्रमेय की ही सिद्धि हो सकेगी और दोनों अवस्थाओं में प्रमाणशास्त्र व्यर्थ नहीं तो सांवृत्तिक अवश्य कहा जायेगा। एतावता 'प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि' के बदले 'प्रमेयाधीनाप्रमाणसिद्धि:' ही सामान्य रूप से बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में श्रेयस्कर प्रतीत होता है।[20]

बौद्ध नैयायिकों की वैचारिक योजना में ज्ञान और यथार्थ की परस्पर परकीयता और समानान्तर पृथक्ता नहीं है।[21] इस कारण भी उनकी प्रमाणमीमांसा में प्रमेयमूलकता का प्रवेश स्वाभाविक रूप से हो जाता है। बौद्ध नैयायिकों के लिए ज्ञान से परे और पृथक् किसी नितान्त बाह्य वस्तु की अनुभवारूढ़ सत्ता अमान्य है। ज्ञान से बाह्य प्रतीत होने वाली वस्तुएँ ज्ञान के ही आकार मात्र हैं। बाह्य जगत् में उनकी स्थिति एक विकल्पात्मक प्रक्षेपण और संरचना होती है। वस्तुत: ज्ञान का विश्लेषण ही अन्तत: हमें वैषयिक बाध्यता से सर्वथा मुक्त एक स्वसंवित् विज्ञान की ओर ले जाता है। यह स्वसंवित् विज्ञान कोई ज्ञान की ही कोटि न होकर तात्विक सत् है। यही सम्पूर्ण प्रमाणमीमांसा का तात्त्विक अधिष्ठान है। बौद्ध न्याय में स्वसंवित् विज्ञान की पृष्ठभूमि में ही ज्ञान का द्वैरूप्य, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान का विभाजन तथा ज्ञानों की संश्लेषणात्मक एकता इत्यादि के मूलभूत सम्प्रत्यय व्याख्यायित हुए हैं। तत्त्वमीमांसा की इसी आधारभूमि पर बौद्ध नैयायिकों ने स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण नामक विषय-द्वैविध्य तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक प्रमाण-द्वैविध्य की प्रमाणमीमांसा को स्थापित किया है। बौद्ध नैयायिकों की विज्ञानवादी तत्त्वमीमांसा के आलोक में उनकी प्रमाणमीमांसा का सुस्पष्ट एवं सुसंगत विवेचन थोड़ा दुरूह होता है, अतएव हमने यहाँ उसकी आधारभूत संरचना का संकेत भर किया है।

IV

वस्तुत: प्रमाणमीमांसा एक 'अनुवीक्षा' है और इस दृष्टि से 'मेयाधीनामानसिद्धि:' को ही सामान्य रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए। विषय अपनी सिद्धि के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते हैं। उनकी विधिरूप सत्ता को प्रमाणापेक्ष्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सिद्धि का सामान्य अर्थ आपादान होता है जो प्रमाणों के सन्दर्भ से सम्भव ही नहीं। 'प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि' के पक्षधर भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते कि प्रमाण से किसी प्रमेय का आपादान होता है। यदि सिद्धि का दूसरा अर्थ साक्ष्य के आधार पर वस्तुस्वरूप के अवधारण का निर्धारण माना जाय तो भी इस प्रकार के सिद्धि की अपेक्षा विषय को नहीं बल्कि प्रमाणपक्षीय स्पष्टीकरण से ही सम्बन्धित है। परन्तु इस स्थिति में भी साक्ष्य के चुनाव का आधार क्या होगा ?

इस रूप से वस्त्वावधारण की सिद्धि के लिए उससे निरपेक्ष रहकर प्रमाणों का अन्वेषण ठीक वैसा ही है जैसे क्या बनाना है, इसका ध्यान रखे बिना औज़ार की रचना करना। अत: प्रमाण जो साक्ष्य जुटाता है वह साक्ष्य भी प्रमेय के स्वरूप को ध्यान में रखकर ही संभव है। इसलिए वस्तुस्थिति तो यह है कि जो लोग प्रमाणों के द्वारा प्रमेय की सिद्धि करते हैं वे भी प्रमाण के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए प्रमेय के स्वरूपावधारण को पूर्वकल्पित किये रहते हैं; जिनकी देख-रेख में प्रमाणों का विनियोग और उनकी सम्पादनात्मकता चरितार्थ होती है। ''प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि होती है'' अतएव ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा का पूर्वगामी है;- यह सामान्य अनुभव और सामान्यजन की विचार-सरणी है। सामान्य अनुभव के धरातल पर जहाँ एक दूसरे से असहमत होने के लिए अवकाश ही नहीं वहाँ प्रमाण की दार्शनिक जिज्ञासा भी नहीं होती है। जब हम प्रमाणों पर एक दार्शनिक दृष्टि से प्रश्न उठाते हैं तो प्रमाणमीमांसा के मुखौटे पर सर्वत्र तत्त्वमीमांसा के भूत की छाया ही दिखाती है। यह पूछा जा सकता है कि जहाँ तक प्रमाणों के भाव से प्रमेयों के विधान का प्रश्न है तो इसे एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है परन्तु प्रमाणों का अभाव क्या प्रमेयाभाव का हेतु हो सकता है ? प्रमाणाभाव अधिक से अधिक प्रमेय विषयक सन्देह को ही सूचित करता है।[22] ऐसा सन्देह न तो अभाव है, न ही अपर्याप्त भाव, बल्कि प्रमाणों की सीमा है जो प्रमेय की व्यापकता और प्रमाण की व्याप्यता को प्रदर्शित करता है। प्रमेयों की व्यापकता को स्वीकार करते हुए 'मानाधीनामेयसिद्धि:' के सिद्धान्तानुसार प्रमेयान्वेषण या तो अपर्याप्त होगा, या फिर प्रमाणातिक्रामी तात्त्विक जिज्ञासा की पूर्ति के लिए प्रमाणमीमांसा को अतार्किक विस्तार देना होगा, या फिर किसी उच्चस्तरीय गुह्य प्रमाण-स्रोत को प्रमाणमीमांसा में सम्मिलित करना पड़ेगा। ये सभी बातें 'मानाधीनामेयसिद्धि:' मानने वाले दार्शनिकों की प्रमाणमीमांसा में यत्र-तत्र देखी जा सकती हैं। आखिर यह सब कुछ अपनी प्रमाणमीमांसा को अभिमत तत्त्वमीमांसा के अनुरूप बनाने के लिए ही तो किया जाता है। बौद्धेतर प्रमाणमीमांसा का ऐसा अतार्किक विस्तार प्रत्यक्ष के अलौकिक आयाम, जाति अर्थात् गोत्वादि का प्रत्यक्ष एवं अनुपलब्धि के द्वारा अभाव को पदार्थ मानने इत्यादि सन्दर्भों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। नैयायिक अपने प्रमाण-सिद्धान्त को करणोपकरणपूर्वक व्याख्यात करते हैं। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण के लिये अवश्यक षड्विध सन्निकर्ष की अवधारणा को लिया जा सकता है। यह षड्विध सन्निकर्ष पदार्थों के वस्तुगत सम्बन्धों का ही तो एक ताना-बाना है जिसमें पदार्थ भी उतने ही सत् हैं जितना कि उनके बीच का सम्बन्ध ? क्या पदार्थों के प्रकृत सम्बन्ध के बीच ही प्रत्यक्ष प्रमाण का फलित और उपलब्धिकारक होना प्रत्यक्ष की नितान्त प्रमेयमूलकता नहीं है? क्या प्राचीन और नव्यनैयायिकों का अनुमान विषयक सिद्धान्त दो वस्तुओं के मध्य अनिवार्य, सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध की तत्त्वमीमासीय अवधारणा पर आधारित

नहीं है ? क्या गङ्गेश का केवलान्वयी व्याप्ति के प्रति अत्यधिक मोह प्रदर्शित करना "अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वं पदार्थत्वम्" की पूर्वस्वीकृति के अनुरूप अपनी प्रमाणमीमांसा को तराशने का उत्कट प्रयास नहीं है ? क्या अद्वैतवेदान्तियों द्वारा केवलान्वयी का कट्टरता से खण्डन 'विज्ञातारं केन विजानीयात्' की प्रतिष्ठा मात्र नहीं है ? इस प्रकार के कतिपय अन्य उद्धरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनके द्वारा प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसा के कठोर अधिशासन को दिखाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त अधिकांश आस्तिक दर्शनों की प्रमाणमीमांसा में श्रुत्यादि आर्ष स्रोतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका देखी जाती है। आर्षज्ञान के रूप में शब्दप्रमाण को स्वीकार कर लेने मात्र से शब्दप्रमाण द्वारा प्रस्तावित परिसीमा में प्रत्यक्षादि प्रमाण अपनी क्रियाशीलता और अनुप्रयुक्त होने के लिए प्रतिबन्धित हो जाते हैं।[२३] ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की संपूर्ण भूमिका का 'अपेक्षापूर्ति' में रूपान्तरित हो जाना स्वाभाविक है। क्या यह आनुभविक प्रमाणों पर, जिनके संदर्भ में 'मानाधीनामेयसिद्धिः' को प्रस्तावित किया जाता है,एक उच्च स्तरीय प्रमाण के द्वारा तत्त्वमीमांसा का अन्दर ही अन्दर अधिपत्य नहीं है ? बौद्ध नैयायिक भी किसी न किसी रूप में बौद्धागम की प्रमाणता स्वीकार करते हैं तथापि उनके मत में बुद्धवचनों का आस्तिकों के शब्द-प्रमाण की तरह उपयोग नहीं किया गया है। धर्मकीर्ति ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से "प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोह निवर्तनम्" कहा है। प्रज्ञाकर गुप्त के अनुसार व्यवहार पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है कि शास्त्र मोह-निवर्त्तक है। पूर्वापर की विस्मरणमूलक असंगतियों की निवृत्ति शास्त्र से ही होती है।[२४] यदि बौद्ध नैयायिक अपनी प्रमाणमीमांसा को बुद्ध की सर्वज्ञता आदि अवधारणाओं से कहीं सम्पूरित करते भी हैं तो भी यह उनके अभिमत में विरोधाभास को उत्पन्न नहीं करता।[२५] अन्त में अवधेय है कि यदि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के पक्षधर अपनी प्रतिज्ञा के प्रति आद्यन्त रूप से ईमानदार हैं तो उनके प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों एवं निष्कर्षों में इतना भेद क्यों है ? क्यों नैयायिकों के लिए प्रत्यक्ष का विषय "सामान्य विशिष्ट व्यक्ति" और मीमांसकों के लिए "सामान्य और विशेष का आश्रय व्यक्ति" और वेदान्तियों के लिए "महासामान्य ब्रह्म" है ? प्रमाणमीमांसा के उत्तल धरातल पर दिखने वाले ऐसे भेद वास्तव में तत्त्वमीमांसीय ही हैं और तात्त्विक पृष्ठभूमि में ही इनकी व्याख्या की जा सकती है।

V

इस प्रकार उपर्युक्त समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के पक्षधर अन्ततः प्रमाणों का स्वरूप-निर्धारण एवं उनका विनियोग भी उसी रूप में करते हैं जैसी प्रमेय विषयक तत्त्वमीमांसीय अवधारणा को वे पूर्वकल्पित किये रहते हैं। अतएव 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के बदले 'प्रमाणसिद्धिः प्रमेयाद्धि' को ही एक ईमानदार प्रमाणमीमांसीय प्रयास के रूप में समादृत किया जाना

चाहिए। इसी के द्वारा प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के मध्य अधिकाधिक संवाद की स्थापना हो सकती है। भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदायों की प्रमाणमीमांसीय योजना में यह संवाद 'मानाधीनामेयसिद्धि:' के चलते कहीं-कहीं आधारभूत रूप से व्यभिचरित होता हुआ प्रतीत होता है। और जब वे पुन: इस कमी के प्रति जागरूक होते हैं तो संवाद स्थापित करने की प्रक्रिया में उनके प्रमाणचिन्तन पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार बढ़ने लगता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण ऐतिहासिक भी रहा है। वह यह कि आस्तिक न्यायशास्त्र उपनिषदों के 'वाकोवाक्यम्' से प्रारम्भ होकर 'वाद विद्या' से होते हुए 'आन्वीक्षिकी विद्या' के रूप में विकसित हुआ है। इस दीर्घकालिक विकासक्रम में एक निश्चित तत्त्वमीमांसीय लक्ष्य का अभाव ही था। पहली बार वात्स्यायन ने न्यायशास्त्र को आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में परिभाषित करते हुए उसे प्रमाणशास्त्र का रूप दिया और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से आगम में कही गई बातों को प्रमाणित करना उसका लक्ष्य निर्धारित किया गया।[२६] इस तरह आस्तिक दर्शनों की तत्त्वमीमांसा जैसे-जैसे स्पष्ट होती गई और उसके लिए प्रमाणशास्त्र की आवश्यकता महसूस हुई वैसे-वैसे ततद् दर्शनों के प्रमाणशास्त्र पर तत्त्वमीमांसा का प्रभुत्व स्थापित होता गया। अतएव प्रमाणमूलक प्रमेयसिद्धि की अवधारणा का विकास प्रमेयतन्त्रात्मक प्रमाण-विनियोग में पर्यवसित होने का इतिहास रहा है। बौद्ध प्रमाणमीमांसा का विकास बौद्धदर्शन के परवर्ती काल में हुआ है। उसके समक्ष एक ओर निश्चित तत्त्वमीमांसीय लक्ष्य था तो दूसरी ओर 'मानाधीनामेयसिद्धि:' की कमजोरियों से सावधान करने वाली नागार्जुन की विस्थापक युक्तियाँ भी थीं। इसी के चलते एक तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा का विकास सम्भव हो सका। भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में बौद्ध नैयायिकों की इस सूझ को एक क्रांतिकारी संशोधनात्मक पहल के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. *विज्ञानभिक्षु : सांख्यकारिका : ४*
२. *वात्स्यायन : न्यायभाष्य : अनुबन्धचतुष्टय प्रकरण : आरम्भिक पंक्ति।*
३. *गङ्गेश उपाध्याय : तत्त्वचिन्तामणि : प्रत्यक्षखण्ड।*
४. *वल्लभाचार्य : न्यायलीलावती, पृ. १२२ - नैयायिकानामनियतपदार्थवादित्वेन विरोधाभावात्।*
५. *नागार्जुन : विग्रहव्यावर्त्तनी ३१ से ५१ एवं वैदल्यसूत्र २ से १९ तक।*
६. *चित्सुखाचार्य : तत्त्वप्रदीपिका- मानाधीनामेयसिद्धि: मानसिद्धिश्च लक्षणात्।*
७. *गौतम : न्यायसूत्र २/१/१९ न प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धे:।*
८. *वात्स्यायन : न्यायभाष्य २/१/१९ न संविद्विषयनिमित्तानामुपलब्ध्या व्यवहारोपपत्ते:।*
९. *वही : १/१/३ प्रमातु: प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिसम्प्लव: असम्भवो व्यवस्थेति।*
१०. *दिङ्नाग : प्रमाणसमुच्चय : प्रत्यक्ष परि. (संस्कृत पुन:रचना, आयंगर) सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च। अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं न शक्तिर्विषये क्षणे॥*

११. उद्योतकर : न्यायवार्त्तिक १/१/४ : पूर्वपक्षेण दिङ्नागमत:, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं इत्ययुक्तं इन्द्रियस्यायप्राप्यकारित्वात् ।

१२. स्वत:प्रामाण्यवाद का निहितार्थ यह है कि किसी ज्ञान के प्रमात्व निश्चय में अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है । प्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति उस ज्ञान के बोधक जो सब कारण हैं उनके द्वारा ही हो जाती है । यह कैसे होता है, इस बात को लेकर पूर्वमीमांसकों यथा गुरुमत, भाट्टमत एवं मुरारी मिश्र में किंचित् भेद है । इन सबके मत में अप्रामाण्य परत: ही होता है ।

१२-अ. ध्यातव्य है कि ज्ञान की उत्पत्ति अप्रामाण्य रूप होती ही नहीं, इसीलिए तो प्रभाकर 'अख्याति' का प्रतिपादन करते हैं ।

१३. न्यायमतेन बहुधा उद्धृत-इदं ज्ञानं यथार्थं, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं । यद्यपि यहाँ अनुमान प्रस्तुत किया जाता है, तथापि यह एक प्रकार से अतिरेकताप्रसक्ति अथवा व्यर्थ है, क्योंकि सफल प्रवृत्ति हो जाने पर ज्ञान और प्रमाण दोनों ही अपने व्यापार से निवृत्त हो जाते हैं । "न हिं असंदिग्धेऽर्थे अनुमानं प्रवर्त्तते । सन्देहश्चार्थोऽनुमीयते " । इस दृष्टि से भी सफल प्रवृत्तिजनकत्व के उपरान्त अनुमान-प्रवृत्ति निरर्थक है ।

१४. द्रष्टव्य : विग्रहव्यावर्त्तनी : ३१ से ५१ तक ।

१५. वसुबन्धु : विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशतिका) २२ । कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्याबुद्धगोचर: ।

१६. वसुबन्धु : अनुमान का रूप : विज्ञप्तिमात्रमेवैतत्- प्रतिज्ञा, असदर्थाविभासनात्-हेतु, यथा तैमिरि-उदाहरण ।

१७. धर्मकीर्ति : प्रमाणवार्त्तिक २/१, इस वार्त्तिक में द्वैविध्यात् पंचमी विभक्ति है । पंचम्यन्त का प्रयोग हेतु भाव में होता है । अत: संपूर्ण पद का अर्थ विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाणद्वैविध्य विदित होता है ।

१८. प्रज्ञाकर गुप्त : प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य : २०४ -अमृत: प्रामाण्यादभिमतार्थ-सिद्धिभासादयेयमिति प्रमाणतान्वेषणपर: प्रेक्षावान् नान्यथा । व्यसनेन त्वन्यथा भवेत् ।

१९. धर्मोत्तर : न्यायबिन्दु टीका : २/४८ यह लक्षण बहुत प्रचलित नहीं है तथापि बौद्ध न्याय की दृष्टि से प्रमाण का यही सम्यक् सामान्य लक्षण होना चाहिए ।

२०. द्रष्टव्य : दार्शनिक त्रैमासिक : जनवरी १९८७ प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय : क्या दिङ्नाग और धर्मकीर्ति विज्ञानवादी हैं?

२१. दिङ्नाग : आलम्बन परीक्षा से प्रायश:उद्धृत : यदन्तर्ज्ञेयरूपं बहिर्वदवभासते ।

२२. धर्मकीर्ति : न्यायबिन्दु २/४८ प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थभावसिद्धिरिति ।

२३. द्रष्टव्य : प्रो.ए.के. चटर्जी : इन्साइट्स एण्ड पाराडॉक्स इन बुद्धिस्ट फिलॉसफी : आन्वीक्षिकी : दर्शन उच्चानुशीलन केन्द्र. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी,पृ. १८२ अंक ६, १९७३.

२४. प्रज्ञाकर गुप्त : प्रमाणवार्त्तिकालङ्कारभाष्य १/२२२ : व्यवहारपरामर्शाच्छास्त्रंमोहनिवर्तनम् । पूर्वापरस्यास्मरणं शास्त्रेणैववार्यते ।

२५. इतिविषयक बौद्ध प्रमाणमीमांसा की आधारिक संरचना पर उठने वाले पाराडॉक्स एवं समाधान के लिए द्रष्टव्य मेरा निबन्ध : प्रमाण सम्प्लव एण्ड प्रमाण व्यवस्था : जे.आई. सी.पी. आर. पृ. ८८ से ९०. अंक १४, नवम्बर २,१९९७.

२६. आस्तिक एवं नास्तिक तर्कविद्या की प्राचीन परम्परा एवं विकास के लिए द्रष्टव्य : फणिभूषण तर्कवागीश : न्यायदर्शनम् (बंगला), प्रथमखण्ड की भूमिका।

अध्याय : चार



प्रमेयाश्रित प्रमाण द्वैविध्य

प्रमाण-प्रमेय की पृथक्कृत एवं भेदपूर्ण स्थिति पर ही कोई प्रमाण-मीमांसा अवलम्बित होती हैं। प्रमाणों को भाव-साधन और प्रमेयों को साध्यर्थ मानकर ही दोनों की पृथक्ता एवं भेदरूपता को बनाये रखा जाता है। नागार्जुन के द्वारा वैदल्यसूत्र और विग्रहव्यावर्त्तनी में प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध की जैसी परीक्षा की गई है उससे दोनों की मूलभूत पृथक्ता एवं भेदरूपता ही समाप्त हो जाती है। नागार्जुन के अनुसार वस्तुत: प्रमाण से प्रमेय और प्रमेय से प्रमाण की सिद्धि होती है। फलत: दोनों की सापेक्षता की अवान्तर निष्पत्ति इस बात में होती है कि प्रमाण 'प्रमेय का प्रमेय' और प्रमेय 'प्रमाण का प्रमाण' हो जाता है।[1] इस तरह प्रमाण और प्रमेय के परस्पर परिवर्तनीय होने से दोनों की पृथक्ता एवं भेदरूपता पर अवलम्बित प्रमाणमीमांसा का ढाँचा ही क्षतिग्रस्त हो जाता है। तब एक-पर-एक दोषों की शृंखला का आरम्भ हो जाना स्वाभाविक ही है। नागार्जुन की परीक्षा में यह सब कुछ सुतरां देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए जब हम प्रमाणों की सिद्धि का प्रश्न उठाते हैं और उसके लिए प्रमाणान्तर की कल्पना करते हैं तो पूरी प्रक्रिया मूलोच्छेदक अनवस्था से ग्रस्त हो जाती है। यहाँ विचारणीय है कि प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उठाया जाना ही किस प्रकार सम्भव है ? साधारणतया सिद्धि का प्रश्न साधन से नहीं बल्कि साध्यर्थ से सम्बन्धित होता है। ध्यातव्य है कि भावसाधन की भूमिका वाले प्रमाणों की सिद्धि का प्रश्न तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक कि उन्हें प्रमेय के रूप में प्रतिस्थानापन्न न कर दिया जाये। अर्थात् प्रमाण को प्रमेय के रूप में प्रतिस्थानापन्न कर ही उसकी सिद्धि का प्रश्न उठाया जा सकता है। यह

प्रमाणसिद्धि के प्रश्न को उठाने की पूर्वापेक्षा है। इस प्रकार प्रमाण-प्रमेय की आनुषंगिक रूप से परस्पर परिवर्तनीयता को दिखाते हुए ही नागार्जुन अपनी परीक्षा को आगे बढ़ाते हैं और एतद्विषयक कई एक विकल्पों को उद्भावित करते हुए उन्हें दोषयुक्त बताते हैं।

I

अब यहाँ विचारणीय है कि यदि नागार्जुन के आक्षेप प्रमाण-प्रमेय की संरचना के प्रति मौलिक और आधारभूत हैं तो इसका कैसा प्रभाव दिङ्नाग-धर्मकीर्ति आदि बौद्ध नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित प्रमाणमीमांसा पर पड़ा है ? क्या दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के प्रमाणमीमांसीय चिंतन पर नागार्जुन के आक्षेप यथावत् लागू होते हैं अथवा उनके चिंतन को इन आक्षेपों से कथंचित् मुक्त कहा जा सकता है ? यदि बौद्ध नैयायिकों ने साँख्य, न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा इत्यादि दर्शनों के प्रमाण-विचार को स्पष्टतया पूर्वपक्ष बनाया है तो उन्हें नागार्जुनकृत प्रमाण-प्रमेय परीक्षा के प्रति भी अत्यधिक सचेष्ट रहना चाहिए था। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो यही समझा जायेगा कि नागार्जुन जिस प्रकार परयूथ्य के दार्शनिकों द्वारा तिरस्कृत हुए हैं उसी प्रकार स्वयूथ्य के दार्शनिकों द्वारा भी उनकी उपेक्षा हुई है।

यह प्रश्न नागार्जुनोत्तर काल में भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के विकास की दृष्टि से ऐतिहासिक और दार्शनिक महत्त्व का है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति अपने प्रमाणमीमांसीय चिंतन की रूपरेखा बनाते हुए नागार्जुन के आक्षेपों के प्रति सतर्क रहे हैं और साथ-ही-साथ उससे बचने का हर सम्भव प्रयास कई स्तरों पर किया है। उनके प्रमाणमीमांसीय चिंतन का निहितार्थ केवल बौद्धसम्मत प्रमाणशास्त्र का विकास करना ही नहीं था बल्कि ब्राह्मण दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय स्थापनाओं का खण्डन करते हुए एक ऐसी संशोधनात्मक प्रमाणमीमांसा का ढाँचा भी तैयार करना था जो नागार्जुन के संदेहवादी प्रकार और विस्थापक प्रकृति के आक्षेपों से यथासम्भव मुक्त भी हो। अवधेय है कि नागार्जुनकृत प्रमाण-प्रमेय परीक्षा का ऐतिहासिक पूर्वपक्ष नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा रही है जिसकी मूलभूत मान्यता 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितः' है।[2] नागार्जुन ने इसका खण्डन चारों तरफ से घेरकर किया है। नैयायिकों के 'मानाधीना मेयसिद्धिः' की परीक्षा करते हुए जहाँ प्रतिविकल्प के रूप में प्रमेय से प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उठाया गया है वहाँ भी इस विकल्प की दोषयुक्तता इस रूप में प्रदर्शित की गई है कि लोकबुद्धि में साधन (प्रमाण) से साध्य (प्रमेय) की सिद्धि मान्य है, साध्य से साधन की नहीं। अर्थात् 'मेयाधीना मानसिद्धिः' का निराकरण[3] वास्तव में ''मानाधीना मेयसिद्धिः'' का ही खण्डन करने के लिए किया गया है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। इसलिए बौद्ध नैयायिक ''मेयाधीना मानसिद्धिः'' को ही मूलभूत मान्यता बनाकर अपनी प्रमाणमीमांसा को खड़ा करने का

प्रयास करते हैं। नागार्जुन के चक्रव्यूह से निकलने का सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग भी यही हो सकता था। 'मेयाधीना मानसिद्धिः' की दृष्टि पर अवलम्बित प्रमाणमीमांसा में प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण और मूलभूत नहीं होता जितना कि प्रमाण निरपेक्ष प्रमेयों के अस्तित्त्व का प्रश्न आधारभूत होता है। ध्यातव्य है कि प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न और अनवस्था में उसकी परिणति ही 'मानाधीना मेयसिद्धिः' पर अवलम्बित प्रमाणमीमांसा को ध्वस्त कर देती है। नैयायिक इससे बचने के लिए प्रमाण-प्रमेय भेद को 'माप्य-मापक' रूप से बनाये रखने का प्रस्ताव करते हैं और अनवस्था से बचने लिए मूलोच्छेदक एवं व्यवहारोच्छेदक अनवस्था में भेद करते हुए अपने पक्ष की ऐसी व्याख्या करते हैं कि प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न मूलोच्छेदक अनवस्था के प्रसंग को उपस्थापित तो करता है लेकिन यह व्यवहारोच्छेदक नहीं होता। अतएव अनवस्थित स्थिति को प्रदत्त स्थिति मानकर भी प्रमाण-प्रमेय की व्याख्या की जा सकती है। इसके विपरीत बौद्ध नैयायिक प्रमाण-सिद्धि के प्रश्न में न उलझते हुए प्रमाण-निरपेक्ष प्रमेयों के अस्तित्त्व-व्यवस्थापन का प्रयास करते हैं। यह उनकी प्रमाण-मीमांसा का केन्द्रीय प्रश्न है, जिसका समाधान वे 'व्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद' की प्राक्कल्पना के आधार पर करते हैं। प्रसंगतः इसका विवेचन हम आगामी पृष्ठों में करेंगे। इसके बावजूद यदि कोई प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न उठाये तो इनके मत में प्रमाणान्तर की आवर्तीय अपेक्षा के चलते दुर्निवार अनवस्था की उपपत्ति नहीं होती, क्योंकि बौद्ध न्याय में चित्त की प्रत्येक अवस्था का आत्मसंवेदन से युक्त होना सर्वथा स्वीकृत है।[५]

इस प्रकार नैयायिकों की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानी जाने वाली 'मानाधीना मेयसिद्धिः' की अवधारणा और नागार्जुन द्वारा उसकी प्रसज्य-प्रतिषेधवादी समीक्षा से निकला हुआ बौद्ध नैयायिकों का प्रमाणमीमांसीय चिंतन एक नवीन प्रस्थान है। इसे हम 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा' का प्रस्थान कह सकते हैं। इसके चलते प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय, फल एवं विनियोग सम्बन्धी प्रश्नों एवं निष्कर्षों में भारी फेरबदल हुआ है। इस प्रस्थान ने अपनी संशोधनात्मक (नैयायिकों के सन्दर्भ में) एवं पुनर्रचनात्मक (नागार्जुन के सन्दर्भ में) प्रकृति में पूरे भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन को आन्दोलित किया है। वस्तुतः भारतीय परम्परा में प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन को इस नई दिशा में विकसित करने का सम्पूर्ण श्रेय दिङ्नाग को जाता है।

II

आचार्य दिङ्नाग अपने प्रमाणसमुच्चय में 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाण-मीमांसा' को प्रस्तावित करते हुए कहते हैं कि सिद्ध प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणों के दो ही प्रकार हैं। ये दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। इनके अतिरिक्त अन्य किसी को स्वतन्त्र प्रमाण का दर्जा प्रदान नहीं किया जा सकता।[६] प्रत्यक्ष और अनुमानजन्य ज्ञान अर्थ से

अव्यभिचरित होने के कारण क्रमशः अज्ञातार्थ-प्रकाशक और अविसंवादी होते हैं। इनके अर्थ से अव्यभिचारित्व की सिद्धि प्रत्यक्षत्व और अनुमानत्व धर्मों के द्वारा होती है। शब्दत्व इत्यादि अन्य धर्म वास्तव में अर्थ से अव्यभिचारित्व के प्रयोजक नहीं हो सकते, क्योंकि शब्दी ज्ञान का अर्थ से कोई तात्त्विक निबन्धन नहीं होता। ऐसा इसलिए कि स्वलक्षण और समान्यलक्षण नामक प्रमेय पदार्थों के दो ही प्रकार हैं। प्रमाणमीमांसीय उपागम में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा गृहीत होते हैं। दिङ्नाग के इस प्रस्ताव को 'प्रमेयान्तर्भाव एवं प्रमाणान्तर्भाव' की एक व्यापक अवधारणात्मक योजना के रूप में इस तरह देखा जा सकता है।

यहाँ विचारणीय है कि दिङ्नाग ने उपर्युक्त अभिकथन में प्रमेयों की संख्या का निर्देश नहीं किया है तथापि प्रमाणों की संख्या विषयक द्वैविध्य को क्यों उपलक्षित किया है? इस शंका का समाधान करते हुए कहा जा सकता है कि प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण-द्वैलक्षण्य को उपस्थापित करने पर प्रमाण-द्वैलक्षण्य से ही प्रमेय-द्वैविध्य का अध्याहार हो जाता है और सिद्ध प्रमेयों के अनुसार प्रमाण-विनियोजन का पक्ष भी अप्रभावित रहता है।[७] धर्मकीर्ति ने इस ऊह को और स्पष्ट करते हुए प्रमाणवार्त्तिक में 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' कहा है।[८] इस वार्त्तिक में 'द्वैविध्यात्' पद पंचमी विभक्ति है। पंचमी विभक्ति का प्रयोग हेतुभाव में होता है। इसलिए सम्पूर्ण पद से विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य का भाव ही द्योतित होता है।[९] विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य को स्वीकार करने पर प्रमाण-विषयक संख्या-विप्रतिपत्ति और प्रमाण-सम्प्लव का निराकरण स्वतः हो जाता है।

प्रमाण-प्रमेय की ऐसी संरचना के सन्दर्भ में बौद्ध नैयायिकों के समक्ष एक गम्भीर प्रश्न इस रूप में उपस्थापित होता है कि सिद्ध प्रमेयों की संख्या दो ही है, एक या दो से अधिक नहीं, इसका आधार क्या है? ध्यातव्य है कि इसका आपादान न तो प्रकाशित परम्परा और न आप्त के द्वारा ही सम्भव है। क्या न्यायवादी बौद्धों को आप्त और प्रकाशित परम्परा की प्रामाणिकता उसी रूप में स्वीकार्य है जिस रूप में बौद्धेतर दार्शनिकों ने इसका विनियोग किया है? यदि सिद्ध प्रमेयों को प्रमाण से आपादित स्वीकार किया जाय तो सद्यः वचन-विरोध की प्रसक्ति होगी। पुनः प्रमाणों से प्रमेय और प्रमेयों से प्रमाण का आपादन अन्योन्याश्रय दोष की तार्किक कठिनाई से भी ग्रसित हो जायेगा।

आचार्य धर्मकीर्ति एवं प्रज्ञाकर गुप्त ने इस केन्द्रीय समस्या को उठाते हुए इसका समाधान प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। समस्या के समाधान का सम्पूर्ण प्रयास वास्तव में प्रमेय-विषयक द्वैविध्य के व्यवस्थापन को प्रमाण-निरपेक्ष अभिगम प्रदान करना है। इसके लिए उन्होंने जिस सिद्धान्त को प्रस्तावित किया है उसे

'व्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद' की अवधारणा से अभिहित किया जा सकता है। हम इसकी सहायता से प्रमेयों के द्विविध प्रकार को प्रमाण-निरपेक्ष रूप से सुनिश्चित कर सकते हैं। हमारा सम्पूर्ण व्यवहार विरोध एवं स्वीकृति, विधि एवं निषेध पर आधारित होता है। धर्मकीर्ति ने सामान्य अनुभव में आसन्न द्वैराश्य को पुष्ट करने के लिए कतिपय मानदण्डों को उपस्थापित किया है।[10] ये मानदण्ड अपनी प्रकृति में हमारे अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र 'अस्ति-भाति' को व्याप्त करते हैं।

सर्वप्रथम, हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को प्रयोजन-पूर्ति के निकष पर शक्त और अशक्त के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। जो कुछ शक्त हैं, अर्थात् अर्थक्रिया में समर्थ है, उसी से हमारे प्रयोजन की सिद्धि होती है। वही साक्षात् ज्ञान-जनन में भी समर्थ होता है। जो कुछ अशक्त अर्थात् अर्थक्रिया में असमर्थ है, वह अपने स्वरूप में कल्पित ही हो सकता है। यह परम्परया ज्ञान-जनन में समर्थ होते हुए भी प्रवृत्ति-साफल्य का उपष्टम्भक नहीं होता।

द्वितीयतः, हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को सम्बन्धों के निकष पर सदृश और असदृश के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि जो कुछ असदृश अर्थात् सर्वतोव्यावृत्त स्वरूप वाला है, उसी से प्रयोजन की सिद्धि होती है। जो कुछ सदृश अर्थात् अनेक व्यक्तियों में समान रूप से रहने वाला है, वह समान अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित ही हो सकता है। उससे प्रयोजन की सिद्धि मूलतः नहीं होती है।

तृतीयतः हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को व्यवसायात्मिका बुद्धि के आधार पर बुद्धि के विषय और उसके अविषय के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। किसी वस्तु का असाधारण स्वरूप बुद्धि का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि की प्रवृत्ति अपेक्षावशात् होती है। बुद्धि का विषय तो वस्तु का साधारण स्वरूप ही हो सकता है। हमारे प्रवृत्ति-साफल्य का केन्द्र-बिन्दु वस्तु का साधारण स्वरूप नहीं होता। किसी वस्तु का असाधारण स्वरूप ही हमारी प्रयोजनात्मक निष्ठा के केन्द्र में होता है।

चतुर्थतः, हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को भाषीय मानदण्ड के आधार पर शब्द के विषय और शब्द के अविषय के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। शब्द केवल सामान्य के व्यंजक होते हैं। सर्वतोव्यावृत वस्तु-स्वरूप की अभिव्यंजना शब्द के द्वारा सम्भव नहीं। हमारे प्रयोजन-पूर्ति में सामान्य वस्तु की सहभागिता के बदले स्वभाव-विशेष का ही मौलिक योगदान होता है।

इस प्रकार सामान्य अनुभव के बौद्धिक विश्लेषण में सर्वत्र द्वैराश्य का प्रसंग उपलब्ध होता है।[11] यह द्वैराश्य अपनी प्रकृति में परस्पर व्यावर्त्तक है। इनकी समाश्रयता को एकत्व स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं। लौकिक न्याय के अनुसार जहाँ परस्पर

व्यावृत्तिमूलक द्वैराश्य प्राप्त हो वहाँ उनमें से एक को वास्तविक और दूसरे को आरोपित समझना ही युक्तिसंगत होता है। यह हमारे अनुभव में आत्मनिष्ठ प्रविष्टियों को भी संकेतित करता है। हमारा सामान्य अनुभव वास्तव में स्वनिष्ठ यथार्थ और विकल्पात्मक आत्मनिष्ठता का संश्लेषित रूप है। एतवता बौद्ध नैयायिक प्रमेय-द्वैविध्यविषयक तत्त्वमीमांसीय अवधारणा को अनुभव में आसन्न व्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद के आधार पर आपादित करने का प्रयास करते हैं। इसी द्वैराश्य को स्वलक्षण (शक्त, असदृश, शब्द-अविषयय, धी-अविषय) और सामान्यलक्षण (अशक्त, सदृश, शब्द-विषय, घी-विषय) रूप प्रमेय-द्वैविध्य तथा प्रत्यक्ष और अनुमानरूपेण प्रमाण-द्वैविध्य के रूप में व्यवस्थित किया गया है। बौद्ध नैयायिकों के इस अभिगम को अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर प्रमेय के अवधारण कोटि के निर्धारण का उपक्रम कहा जा सकता है।

यहाँ विचारणीय है कि 'द्वैराश्यभेद' के द्वारा प्रमेय-द्वैविध्य का प्रतिपादन क्या प्रमाणमूलक आधार से परे और पृथक् कोई पद्धति है ? यदि नहीं तो प्रमेय-द्वैविध्य पर आधारित प्रमाण-द्वैविध्य का अभिगम अयुक्त हो जाता है और बौद्ध नैयायिकों की प्रतिज्ञाहानि होती है। वस्तुत: ऐसा समझना उचित नहीं। हमारे सभी अभिकथन ज्ञानपूर्वक होते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारे सभी अनुभवमूलक अभिकथन प्रमाणमूलक अभिकथन होते हैं। यहाँ अनुभवमूलक अभिकथन और प्रमाणमूलक अभिकथन में भेद विवक्षित है। उदाहरण के लिए 'विरोध का नियम' और उससे सम्बन्धित वक्तव्यों को प्रमाणमूलक वक्तव्य नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार द्वैराश्यभेद के नियम से आपादित प्रमेय-द्वैविध्य को प्रमाणमीमांसीय आपादान नहीं कहा जा सकता। विरोध का नियम एक तार्किक नियम है। यह यथार्थता के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं बताता। वर्षा का होना और न होना एक साथ नहीं हो सकता, परन्तु इससे हमें यह जानकारी नहीं मिलती है कि वर्षा हो रही है या नहीं हो रही है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि दोनों घटनाओं में से कोई एक ही हो सकती है। ऐसा कहने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार अनुभव में आसन्न द्वैराश्यभेद का नियम यथार्थता के प्रातिस्विक सम्यक् स्वरूपावलोकन में असमर्थ होते हुए भी यथार्थता की प्रकारता को प्रमाण-निरपेक्ष रूप में सुनिश्चित कर सकता है। वस्तुत: एक अर्थ में प्रमाणमीमांसा अनुभव का व्याकरण जैसा है। जिस प्रकार भाषा व्याकरणमूलक नहीं वरन् व्याकरण ही भाषामूलक है उसी प्रकार अनुभव प्रमाणमूलक नहीं वरन् प्रमाण ही अनुभवमूलक है। इसलिए प्रमाणमीमांसा को अनुभव के पूर्व ही अनुभव के प्रस्तुतीकरण के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए। आनुभविक उपलब्धियों के नियमन की 'अनुवीक्षा' ही प्रमाणमीमांसा है। इस अनुवीक्षा में आवश्यक रूप से तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता जान्ने-अनजाने प्रविष्ट रहती है जो प्रमाणमीमांसीय

अनुवीक्षा को गति प्रदान करती हैं। आखिर विभिन्न दर्शनों की प्रमाणमीमांसा में भेद क्यों होता है ? वह किसी भी तरीके से प्राप्त तात्त्विक दृष्टिकोण ही होता है जो हमारे प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों एवं निष्कर्षों में भेद लाता है। यह तात्त्विक दृष्टिकोण सर्वदा सुस्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं होता, परन्तु हमारी समस्त विचारणा की पृष्ठभूमि में रहता है और उसे निर्धारित करता है। निःसन्देह वह हमारे प्रमाणमीमांसीय विश्लेषण और तर्कणा का पूर्ववर्ती होता है। यदि तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता से रहित प्रमाणमीमांसा सम्भव हो तो वैकल्पिक प्रमाणमीमांसा की कोई सम्भावना नहीं बनेगी। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में काण्ट ने ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा से अछूता रखने के प्रयास में 'स्वलक्षण वस्तु' (थिंग इन इट्सेल्फ) को सर्वथा अज्ञेय कह कर रहस्य बना दिया जबकि वह अज्ञेय रहकर भी उसकी सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा को गति प्रदान करती है। 'स्वलक्षणः वस्तु' की स्वीकृति ज्ञानमीमांसा के लिए अपेक्षित तार्किक पूर्वमान्यता न होकर तात्त्विक पूर्वमान्यता के रूप में काण्ट के दर्शन का मौलिक आधार है। यह बात अलग है कि तात्त्विक पूर्वमान्यता को तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ख्यापित कर काण्ट अपनी दार्शनिक विवक्षा और उसके अवधारणीकरण में बौद्धिक ईमानदारी का परिचय देते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। रिक्त विश्व में कोई ज्ञानमीमांसा सम्भव नहीं। तात्त्विक पूर्वकल्पना को अपनाये बगैर हम अपने ज्ञान का विश्लेषण और प्रमाणों का विनियोजन करना भी नहीं जान सकते हैं। हम इसी से आरम्भ करते हैं और इसी में हमें लौटना होता है। आरम्भ करने के लिए तात्त्विक प्राक्कल्पना को प्रमाणमीमांसा की नींव पर रखना होता है। लौटने के लिए बुद्धि द्वारा बुद्धि की समीक्षा ही एकमात्र रास्ता है। अन्तःप्रज्ञा की अभिव्यक्ति सदैव अस्पष्ट होती है। इसके अनुवाद में व्याख्यान्तर की सम्भावना सदैव बनी रहती है। अतएव इस ऊहापोह से बचने के लिए और तात्त्विक प्राक्कल्पना को एक ठोस बौद्धिक आधार प्रदान करने के लिए व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धियों के प्रकार विषयक एक अवधारणा को निश्चित करना होता है। तत्पश्चात् ज्ञान की उन अवस्थाओं, स्रोतों एवं उनकी विशेषताओं का निरीक्षण करना होता है जिसमें आनुभविक उपलब्धियों में आकारित होने वाले यथार्थता के प्रकार अथवा कोटियों को व्यवस्थित किया जा सके। बौद्ध नैयायिकों की द्वैराश्यभेद विषयक अवधारणा व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धियों में आचरित तात्त्विक कोटि-निर्धारण का ऐसा ही अभ्युपगम है। इसी के द्वारा वे प्रमेय-द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पना को उपस्थापित करते हैं। यह सामान्य अर्थ में प्रमाणमूलक नहीं, बल्कि एक विशेष अर्थ में इसे अधितार्किक आधार से अभिहित किया जा सकता है।

III

पुन: यदि यह मान लिया भी जाये कि प्रमेय-द्वित्व का उपस्थापक द्वैराश्यभेद का अभिगम प्रमाणमूलक नहीं है तो भी यहाँ विचारणीय है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के रूप में प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक विषय-द्वित्व और उसकी परस्पर व्यवृत्तिरूपता किस प्रमाण से ज्ञापित होती है ? बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसीय योजना में इसे प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा किसी अन्य तीसरे प्रमाण के द्वारा अधिगृहीत होना चाहिए।[१२] यदि प्रमेय-द्वित्व की प्रतिपत्ति किसी तीसरे प्रमाण से मानी जाये तो विरोध उपस्थित होगा। इस स्थिति में बौद्धों को दो ही प्रमाण न मानकर तीसरा प्रमाण भी मानना पड़ेगा।[१३] तृतीय प्रमाण को सम्मिलित करने मात्र से बौद्ध नैयायिक अन्योन्याश्रयता और तृतीय प्रमेय की प्रसक्ति से बच नहीं सकते।[१४] ऐसा स्वीकार करने से उनके स्वमत की हानि होगी। प्रमाण-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक विषय-द्वित्व की सिद्धि प्रत्यक्ष या अनुमान से भी नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष के अविषयीभूत वस्तु में अनुमान प्रसक्त होता है और परोक्ष विषय में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति अनुपपन्न है।[१५] यदि प्रमेयगत द्वित्व को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध माना जाये तो परोक्ष अर्थ में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में परोक्षता अर्थहीन होगी और प्रत्यक्षेतर अनुमान प्रमाण व्यर्थ हो जायेगा। यदि प्रमेयगत द्वित्व की प्रतिपत्ति अनुमानात्मक मानी जाये तो साक्षात् में अनुमान की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। तब तो प्रत्यक्ष की अपरोक्षता ही व्यर्थ होगी और अनुमान का उपजीव्य प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थहीन हो जायेगा। यह सब कुछ बौद्ध सम्मत प्रमाण-व्यवस्था को व्याहत करने के लिए भी पर्याप्त होगा। अत: प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की परस्पर व्यावर्त्तक विषयता को स्वीकार करने में ही लाघव है।

पुन: प्रमेयगत द्वित्व से प्रमाणगत द्वित्व क्योंकर निश्चित होगा ? प्रमेयगत द्वित्व स्वयं असिद्ध होने के कारण प्रमाण-द्वैविध्य का साधक कैसे हो सकता है ? प्रमेयगत द्विविधता के कारण प्रमाणान्तर-निरासमूलक प्रमाण-द्वैविध्य ही होना चाहिए, इसका प्रतिबन्धक क्या होगा ? वैसे हेतु जिनका अपने साध्य से व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता व्याप्यत्वासिद्ध माने जाते है। व्याप्ति की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती क्योंकि प्रमाणत्व धर्म सामान्यलक्षण है। सामान्यलक्षण में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति सर्वथा अनुपपन्न है। प्रमाणत्व के असिद्ध होने पर तद्घटित व्याप्ति रूप सम्बन्ध प्रत्यक्ष से क्योंकर निश्चित होगा ? अतएव उपर्युक्त सभी दोषों की प्रसक्ति होने से प्रमेयगत द्वैविध्य की प्रतिपत्ति द्विविध प्रमाणों से नहीं हो सकती है। किसी तीसरे प्रमाण को स्वीकार करने पर स्वमत का ही विरोध करना होगा।[१६]

वस्तुत: बौद्ध न्याय में प्रमेयद्वित्व और प्रमाणद्वित्व की संरचना पर सिलसिलेवार

ढंग से विचार करने पर ऐसे आक्षेपों का उठना स्वाभाविक ही है। ये प्रश्न बौद्ध नैयायिकों के प्रमाणमीमांसीय ढाँचे से सम्बधित व्यवस्थागत प्रश्न हैं। प्रज्ञाकर गुप्त एतद्विषयक व्यवस्था प्रदान करते हुए कहते हैं कि विषय-द्वैविध्य की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है। ऐसा इसलिए क्योंकि विषय-द्वैविध्य के उपस्थापक द्वैराश्यमूलक सदृश-असदृश इत्यादि प्रतीतियाँ ज्ञान के धर्म हैं। ज्ञान का स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष होने से ज्ञानगत धर्म का ग्रहण भी उसी से प्रसक्त होता है। ऐसी प्रतीति को भ्रान्तिरूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वरूप में ही यदि भ्रान्ति हो तो वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ का व्यवहार ही सम्भव नहीं हो सकेगा।[१७] प्रज्ञाकर गुप्त की इस व्यवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में स्वसंवेदन रूप से ज्ञान का प्रत्यक्ष और साथ ही साथ ज्ञान के धर्मभूत विषयाकार का भी प्रत्यक्षात्मक ग्रहण प्रसक्त होता है तथा उससे भिन्न को परोक्ष माना जाता है। 'यहाँ उससे भिन्न' का तात्पर्य 'ज्ञान' के धर्मभूत आकार की विषयभूत उस वस्तु से है जिसकी प्रतीति बाह्यार्थ रूप में होती है। अतएव ज्ञान के धर्मभूत विषयाकार को प्रत्यक्ष और उस धर्मभूत आकार की विषयभूत वस्तु की बाह्यता को परोक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है। परोक्षता के इसी अर्थ में वस्तु की आनुभविक उपलब्धि अनुमान से मानी जाती है। बौद्ध न्याय में यही स्थल अनुमिति का अवतार-स्थल माना जाता है।[१८] ऐसा मानने से अनुमान के विषयभूत सामान्यलक्षण में स्वलक्षण का अभिनिवेश नहीं समझना चाहिए। वास्तव में स्वरूपेण लक्ष्यमान स्वलक्षण ही पररूपेण लक्ष्यमान होकर सामान्यलक्षण से अभिहित होता है। यहाँ नैयायिकों के पक्ष से यह आशंका की जा सकती है कि सामान्यलक्षण की परोक्षता में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होने से उसमें अनुमान भी क्योंकर प्रवृत्त होगा ? क्योंकि अनुमान की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्षवशात् ही होती है। प्रज्ञाकर गुप्त इसका उत्तर देते हुए हमारा ध्यान एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आकृष्ट करते हैं कि परोक्षता का विग्रह अनुमान से न होकर स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष के द्वारा परोक्षता व्यावृत्त प्रत्यक्ष के परिच्छेदन से ही होता है।[१९]

इस प्रकार प्रज्ञाकर गुप्त द्वारा दर्शाये गये बौद्ध न्याय सम्मत साकार विज्ञानवादी योजना में कथंचित् प्रमेय-द्वैविध्य की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति को स्वीकार कर लेने पर भी यह विचारणीय बना ही रहता है कि ऐसा प्रत्यक्ष क्या वही है जो क्षणमात्र स्वलक्षण के ग्रहण तक सीमित होता है ? स्वलक्षणग्राही प्रत्यक्ष और सामान्यलक्षणग्राही अनुमान के अतिरिक्त प्रमेय-द्वैविध्य को ज्ञापित करने वाला प्रत्यक्ष कुछ भिन्न ही होना चाहिए। ऐसा इसलिए क्योंकि जब स्वलक्षण की प्रतिपत्ति होती है तो सामान्यलक्षण का अध्यवसाय नहीं होता और सामान्यलक्षण का जब अध्यवसाय होता है तो स्वलक्षण की स्वरूपत: प्रतिपत्ति अतीत हो गई है। ऐसी स्थिति में स्वसामान्यलक्षणात्मक

प्रमेयद्वित्व की सकृत गवेषणा एक ऐसे प्रत्यक्षकर्त्ता को अपेक्षित करता है जो दोनों को साथ-साथ जानता हो। ऐसा प्रत्यक्षकर्त्ता सामान्यजन की साक्षात्कारी संज्ञानात्मक परिसीमा का अतिक्रमण कर जाता है। अतएव प्रमेयद्वैविध्य की युगपद् प्रतीति किसी सर्वज्ञ पुरुष को ही हो सकती है। सर्वज्ञविहित ज्ञान के रूप में इसे बुद्ध-वचन मानने पर प्रमाणत्रय की प्रसक्ति और प्रमेयाश्रित प्रमाण के प्रतिपादन का अभिगम एक असंगताभिमान हो जायेगा।

वस्तुत: उपर्युक्त प्रकार के आक्षेपों को उठाया जाना तब सम्भव होता है जब हम स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण को समान रूप से सत् लेकिन युगपद् रूप से अनुपलब्ध दो सत्ताओं के रूप में स्वीकार करते हैं। भाष्यकार प्रज्ञाकर गुप्त[२०] इतिविषयक कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जो विचारणीय हैं। प्रथमत: यह कि, स्वलक्षण की पारमार्थिक अद्वैतरूपता में 'स्वलक्षण अन्यत्' और 'सामान्यलक्षण अन्यत्' ऐसा शब्द-प्रयोग नहीं हो सकता। द्वितीयत: यह कि, ऐसा कोई पौर्वापर्य नियम बनाना भी उचित नहीं कि स्वलक्षण का ज्ञान होने पर सामान्यलक्षण का ज्ञान होता है। तृतीयत: यह कि, ऐसा कहना भी सर्वथा अप्रामाणिक है कि सामान्यलक्षण के ज्ञान में अज्ञात स्वलक्षण की प्रतिपत्ति नहीं होती है। चतुर्थत: यह कि, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ही पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र प्रमाण है।[२१] अनुमिति की प्रमाणता साँव्यावहारिक है। भगवान् बुद्ध ने वासनावासित विनेयजनों को ध्यान में रखते हुए अनुमान को प्रमाण माना है। पंचत: यह कि, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की दृष्टि से सभी ज्ञानों में स्वलक्षण तत्त्व स्वसंवित् रूपेण भासित होता है। विज्ञान का स्वाकार और विषयाकार ही स्वलक्षण और सामान्यलक्षण रूप विषय-द्वैविध्य की तात्त्विक संरचना है। तदनुरूप प्रत्यक्ष एवं अनुमान ही दो अवितथ प्रमेय की प्रतिपत्तियाँ हैं। षष्ठत: यह कि, जब ज्ञान स्वगत ही दो आकारों (ग्राहकाकार एवं ग्राह्याकार) का बोध करता है तो प्रमाण न तो एक हो सकता है न तीन।[२२] सप्तत:, यह कि प्रतिपत्ति-भेद ही प्रमाण-भेद है। यही विषय-भेद के रूप में भासित होता है। प्रतिपत्ति के दो प्रकार हैं-सामान्य रूपा (अनुमान) प्रतिपत्ति और विशेष रूपा (प्रत्यक्ष) प्रतिपत्ति। अतएव प्रतिपत्ति प्रकारों की द्विविधता के कारण एक ही विषय के दो आकार माने जाते हैं।[२३]

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों में प्रकृत समस्या पर व्यापकतर दृष्टि से विचार करते हुए आक्षेपों का समाधान किया जा सकता है। यहाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एकमात्र स्वलक्षण ही परमार्थसत् है। वही स्वरूपेण गृहीत और पररूपेण अध्यवसित होने के कारण स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण में विभक्त हो जाता है।[२४] प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्पों से विकल्पित होकर सामान्यलक्षण के रूप में अध्यवसित होता है। स्वलक्षण का प्रत्यक्ष पृष्ठभावी

विकल्पीकरण एक मनोजल्पात्मक, उत्प्रेक्षणात्मक और संश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया में अपरोक्ष रूप से गृहीत निर्विकल्पक स्वलक्षण नाम-जात्यादि विकल्पों से युक्त निश्चयात्मक स्वरूप को प्राप्त होता है।[२५] यह सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रत्यक्ष पृष्ठभावी होने के कारण अनुमान कही जाती है। इसलिए ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषय की दृष्टि से भी दो ही प्रमाणों का विधान यथोचित है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि दोनों प्रमाणों द्वारा एकमात्र स्वलक्षण तत्त्व का विचार प्रसक्त होने से अनुमान प्रत्यक्ष का अनुवाद मात्र है। ग्राह्य एवं अध्यवसेय में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान का अपने-अपने विषय में प्रामाण्य स्थित होता है। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण है, लेकिन उसका अध्यवसेय सामान्यलक्षण होता है। इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण है, लेकिन उसका अध्यवसेय स्वलक्षण होता है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाये तो विकल्प सत् के लिए प्रयुक्त नहीं होंगे और व्यवहार के लिए कोई व्यवस्था नहीं बन पायेगी। सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षण व्यवहार योग्य नहीं होता। वह नामजात्यादि विकल्पों से युक्त होकर ही व्यवहार योग्य होता है। ध्यातव्य है कि अनुमान स्वलक्षण को विषय करते हुए उसमें सामान्यलक्षण का अभिनिवेश करता है। यह अभिनिवेश एक प्रकार की अयथाभिनिवेशिनी भ्रान्ति है। यही कारण है कि पूर्वोपस्थित स्वलक्षण प्रत्यक्ष से जनित संस्कारों के बल पर भावित होने के कारण अवस्तुविषयक अनुमान भी वस्तुविषयक प्रतीत होता है। अनुमान का उसके अभिप्रेत अर्थ से अविसंवाद मणि-प्रभा ज्ञान से मणि-प्राप्ति की तरह समझना चाहिए।[२६] अनुमान में अज्ञातार्थ प्रकाशकत्व नहीं होने पर भी अविसंवाद मात्र से उसकी प्रमाणता स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। बौद्ध न्याय में अज्ञातार्थप्रकाशकत्व प्रामाण्य का पारमार्थिक लक्षण है जो केवल प्रत्यक्ष में घटित होता है। अविसंवादकत्व प्रामाण्य का साँव्यावहारिक लक्षण है जो अनुमान के लिए प्रयुक्त होता है।[२७] इस प्रकार एक ही परमार्थसत् का स्वरूपेण ग्रहण एवं पररूपेण अध्यवसाय पूर्वक स्वसामान्य-लक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य और उसी के अनुरोध से प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक प्रमाण-द्वैविध्य ही बौद्ध नैयायिकों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

IV

अन्ततः यदि प्रमाण-निरपेक्ष प्रमेय-द्वैविध्य की समस्या पर और भी मूलगामी दृष्टि से विचार किया जाय तो इसकी व्याख्या बुद्धोपदिष्ट अन्तर्दृष्टि के रूप में भी की जा सकती है। बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षाएँ परमार्थ और संवृत्ति-सत् के भेद पर आधारित हैं।[२८] तथागत की सर्वज्ञता में सत्यद्वय का यह भेद युगपद् रूप से प्रकाशित होता है जो सामान्यजन के लिए लब्ध नहीं है। बौद्ध परम्परा में यह तथागत की तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता के रूप में व्याख्येय है।[२९] बौद्ध नैयायिक भगवान् बुद्ध को परम प्रमाणभूत

स्वीकार करते हुए तथागत की इस भूमिका को सुरक्षित रखते हैं।[३०] अतएव स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण रूप प्रमेय-द्वैविध्य की प्रमाण-निरपेक्ष प्राक्कल्पना को बुद्धदेशित परमार्थ एवं संवृत्ति नामक सत्य द्वैविध्य की चेतना से अनुप्राणित कहा जा सकता है। परमार्थ एवं संवृत्ति के रूप में स्व-सामान्यलक्षणात्मक प्रमेय-द्वैविध्य को इस तरह आगममूलक अथवा प्रकाशित अन्तर्दृष्टि मानने में कोई विरोध नहीं बल्कि बड़ा लाघव है। यहाँ बुद्ध की भावनामयी प्रज्ञा से प्रसूत करुणामयी देशना का आगम-प्रमाण के रूप में विनियोग करते हुए प्रमाण-त्रैविध्य का विरोध प्रसंग भी उपस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक घोर इसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों की कोटि, में नियोजित करना कोई आवश्यक बाध्यता नहीं है तो दूसरी ओर बौद्ध परम्परा में आगम का अनुप्रयोग परार्थानुमान रूप से अर्थात् हेतुवचन के रूप में हुआ है। ध्यातव्य है कि ब्राह्मण एवं बौद्ध परम्परा में शब्द-प्रमाण की प्रकृति को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं फिर भी इसे सर्वत्र एक उच्च स्तरीय प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इसे भारतीय प्रमाणवाद का निगूढ़ार्थ स्वीकार करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि यहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रसक्ति शब्द-प्रमाण-प्रदत्त परिसीमा में ही होती है। इसके बावजूद यदि बौद्ध नैयायिक 'व्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद' की अवधारणा कर प्रमेय-द्वैविध्य को प्रमाण-निरपेक्ष रूप से आपादित करने का प्रयास करते हैं तो उनका यह प्रयास अपनी अधितार्किक तात्त्विक पूर्वमान्यता को व्यावहारिक एवं विश्लेषणात्मक बुद्धि से निष्पादित करने का महत्त्वपूर्ण उपायकौशल है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. *नागार्जुन- वैदल्यसूत्र-२ प्रमाण-प्रमेयानि स्वतोऽसिद्धानि मिथोऽभिसम्प्लुतत्त्वात्। (यहाँ यह स्पष्टीकरण उचित प्रतीत होता है कि प्रमाण-प्रमेय लक्षणों का सम्प्लव एक दिये हुए स्तर पर नहीं होता बल्कि एक स्तर के सापेक्ष दूसरे स्तर पर ऐसा परस्पर सम्प्लव देखा जा सकता है। परन्तु प्रमाण-प्रमेय की स्वलक्षण सत्ता मानने पर इस प्रकार का सम्प्लव भी युक्तियुक्त नहीं है)।*

२. *टिप्पणी -यह बात वैदल्यसूत्र से सुतरां स्पष्ट होती है, क्योंकि सम्पूर्ण वैदल्यसूत्र गौतम-प्रणीत लक्षण-निर्देशक न्यायसूत्रों के खण्डनार्थ ही प्रणीत हुआ है। द्रष्टव्य,हमारा निबन्ध-'वैदल्यसूत्र एवं न्यायसूत्र के अन्त: सम्बन्ध पर कुछ विचार।' समाज धर्म एवं दर्शन, वर्ष १८-२, भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान, इलाहाबाद।*

३. *नागार्जुन - विग्रहव्यावर्त्तनी-४३ सिध्यन्ति हि प्रमेयाप्यपेक्ष्य यदि सर्वथा प्रमाणानि भवति प्रमेयसिद्धिर्नाविक्ष्यैव प्रमाणानि।*

४. *गौतम- न्यायसूत्र-२/१/१६, प्रमेया च तुला प्रामाण्यवत्।*

५. *धर्मकीर्ति-न्यायबिन्दु : सर्वचित्तचैतानां आत्मसंवेदनम्।*

६. *दिङ्नाग- प्रमाणसमुच्चय-१/२ (आयंगर द्वारा स्पादित एवं पुन:रचित) प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्। प्रमेयस्तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत्।*

७. वही-वृत्ति-१/२ अत्र प्रमाणं द्विविधमेव। कुतश्चेत्। द्विलक्षण प्रमेयम्।

८. धमकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक-२/१

९. टिप्पणी-यहाँ 'विषय' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ रखता है। प्रमाण-प्रयुक्ति के बिना किसी विषय को प्रमेय नहीं कहा जा सकता। चूँकि प्रमाण-प्रयुक्ति से पूर्व ही विषय-द्वैविध्य का प्रस्ताव किया गया है अतएव उसके लिए धर्मकीर्ति 'प्रमेय' शब्द का प्रयोग न कर 'विषय' शब्द का प्रयोग करते हैं।

१०. धर्मकीर्ति- प्रमाणवार्त्तिक - २/१-२

मानं द्विविधं विषय-द्वैविध्यात् शक्त्यक्तित:।
अर्थक्रियायाम् केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षत: ॥
सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वत:।
शब्दस्यान्यनिमित्तानां भावे धीसदसत्त्वत: ॥

११. मनोरथनन्दी- प्रमाणवार्त्तिकटीका-२/२ सर्वस्य संग्रहात् द्वैविध्यमेव।

१२. प्रज्ञाकर गुप्त- प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य (स्वामी योगीन्द्रानन्द), पृ. ४१३ ननु प्रत्यक्ष-परोक्ष-लक्षणो विषय-भेद: केन प्रमाणेन प्रमीयते ? किं प्रत्यक्षानुमानेन प्रमाणन्तरेण वा ?

१३. वही २-८, प्रमाणान्तरेण द्वित्वञ्चेत् प्रमेयस्य प्रमीयते। विरुद्ध एवं हेतु: स्यात् तृतीयस्यापि सम्भवात्।

१४. वही ९-१०, प्रमाण द्वितयेनाथ भवेदन्योऽन्यसंश्रय:। त्रयादिनापिप्रमाणेन विषयान्तरसाधने॥ त्रयादिप्रमाणप्रसिद्धि: स्यात् अभिप्रेतं न सिध्यति। प्रमाभेदो हि मेयस्य प्रभेदस्य प्रसाधक: ॥

१५. वही, ११-१२, अनुमानेन सिद्धिश्च परोक्षस्य कथं भवेत्। न प्रत्यक्षं परोक्षेऽस्ति वृत्तौवा व्यर्थिकानुमा ॥ परोक्षता कथञ्च स्यात् प्रत्यक्षस्य प्रवर्तने। प्रत्यक्षस्य निवृत्यैव वस्तुना स्यात् परोक्षता ॥

१६. वही १५-१६, प्रतिबन्धा प्रसिद्धौ हि सर्व हेतुरनिश्चित:। प्रतिबन्धप्रसिद्धिश्च न प्रत्यक्षप्रमाणिका ॥ प्रमाणत्वं हि सामान्यं कथमप्यक्षसाधनम्। तस्मिन्नसिद्धे सम्बन्ध: कथन्तेनाक्षनिश्चित: ॥

१७. प्रज्ञाकर गुप्त- प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य (स्वामी योगीन्द्रानन्द), पृ. ४१४, अत्रोच्यते विषयद्वैविध्यम्प्रत्यक्षत एव सिद्धम्। सदृशासदृशप्रतीतर्हि प्रतीतिरेव धर्म:,स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्ध:। न च प्रतीति:स्वरूपे भ्रान्तिसङ्गता। तत्र भ्रान्तिशंकायामव्यवहार एव भवेदनवतारहेतुर्वा वादिप्रतिवादिप्राश्निकवचनस्य।

१८. वही, पृ. ४२०, तत: प्रत्यक्षेण परोक्षताप्रतीतावपि वस्त्वनुमानेन प्रतीयत इत्यनुमानावतार:।

१९. वही, २/४५, नानुमानात्परोक्षत्वं साध्यते तस्य वस्तुन:। सत्यामध्यक्षतायान्तु दृष्टरूपस्य साधनम्।

२०. वही, पृ. ७२, स्वसंवेदनेन तु ग्रहणे स्वलक्षणमेव तदिति स्वलक्षणविषयमेव प्रमाणम्। यदा तु पुनरद्वैतं तदा न सामान्यम्। तत्र च स्वलक्षणप्रतिरुद्धं अन्यद्वेति व्यपदेश:। अवित् न विद्यते विदस्यति अवित्। क्व ज्ञाते स्वलक्षणे तज्ज्ञानमिति। न खलु पूर्वोत्तर भावे प्रमाणं येन स्वलक्षणज्ञानादुत्तरकालमेतदिति विलक्षणता वा प्रतीयते। स्वलक्षणमेवात्र सर्वत्र ज्ञाने प्रतीयते। न च भेद इति।

२१. वही, पृ. ७३, विनेयज्ञानाभिप्रायात् तमपेक्ष्य स्वसंवेदनमेवैकं प्रत्यक्षप्रमाणम् नापरम्।

२२. वही, पृ.५३८, स्वाकारद्वयसंवेदने हि नैकमिति युक्तम्। नापि त्रयादिकम्। तथा हि त्रैकसंख्या निरास इति।

२३. वही, पृ. ४१०, विषयस्य चैकस्यैव द्वैविध्यं प्रतिपत्ति प्रकारस्य द्वैविध्यात् ।

२४. धर्मकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक-२/५३/५४,भावधर्मत्वहानिश्चेत्....मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्... तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम् ।

२५. धर्मोत्तर- न्यायबिन्दुटीका-१/२१, यस्मात् प्रत्यक्षबलोत्पन्नेनाध्यवसायेन दृष्टत्वेनार्थोऽवसीयते नोत्प्रेक्षितत्वेन । दर्शनञ्चार्थसाक्षात्करणाख्यं प्रत्यक्ष-व्यापारः । उत्प्रेक्षणं तु विकल्पव्यापारः । तथा हि परोक्षत्वं अर्थं विकल्पयन्त उत्प्रेक्षामहे न तु पश्याम इति उत्प्रेक्षणात्मकं विकल्पव्यापारं अनुभवादध्यवस्यन्ति ।

२६. धर्मकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक-२/५५-५८, अयथाभिनिवेशेन द्वितीयभ्रान्तिरिष्यते अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ।

२७. प्रज्ञाकर गुप्त - प्रमाणवार्त्तिकालंकार-१/२२५, तत्र पारमार्थिक प्रमाण-लक्षणमेतत् । पूर्वं तु सांव्याहारिकस्य ।

२८. नागार्जुन- माध्यमिककारिका-२४/८, द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना । लोकसंवृत्ति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः ।

२९. द्रष्टव्य - प्रो. ए.के. चटर्जी - योगाचार आइडियलिज्म, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,१९६२, पृ. २२३-२४

३०. धर्मकीर्ति- प्रमाणवार्त्तिक-१/९, तद्वत् प्रमाणं भगवान् अभूतविनिवृत्तये । भूतोक्तिः साधनापेक्षा ततो युक्ता प्रमाणता ॥

अध्याय : पाँच



प्रमाण-सम्प्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन के ऐतिहासिक विकास को पाँच प्रस्थानों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रस्थान महर्षि गौतम का है, जो तत्त्व की अपेक्षा प्रमाणों को प्राथमिकता प्रदान करते हुए एक रचनात्मक प्रमाणमीमांसीय ढाँचे को प्रतिपादित करता है। न्यायसूत्र में प्रथमतया प्रमाणों का उल्लेख और गंगेश उपाध्याय के इस कथन "प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थिति:" से उक्त आशय की ही पुष्टि होती है। महर्षि गौतम-सम्मत "मानाधीना मेयसिद्धि: मानसिद्धिश्च लक्षणात्" नामक सर्वतन्त्र कहे जाने वाले अभ्युपगम के विरोध में नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशी भट्ट-प्रणीत तीन खण्डनात्मक प्रस्थान विकसित हुए हैं। तीनों की शैली वितण्डावादी है, जिनका पर्यवसान प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से प्रमाणों के प्राथमिक महत्त्व के निराकरण व प्रमाणोच्छेदवाद में होता है। अन्तिम प्रस्थान तर्कपुंगव दिङ्नाग का है, जो संशोधनात्मक रूप में तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा के एक पुनर्रचनात्मक ढाँचे को प्रस्तावित करता है। दिङ्नाग के पक्ष से कहा जा सकता है कि नैयायिकादि वस्तुवादियों ने तर्क में अनाधिकार चेष्टा की है। उन्होंने गलत परिभाषाएँ दी हैं। हम तो केवल उन्हें ही शुद्ध कर रहे हैं।[1] वस्तुत: महर्षि गौतम और उनका अनुगमन करने वालों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका की बहुविध आलोचना से यह स्पष्ट हो गया था कि कोई भी रचनात्मक प्रमाणमीमांसा तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त नहीं हो सकती है। प्रमाणमीमांसीय गतिविधि एक आश्रित क्रिया

है जिसकी उपादेयता स्वमत या स्वगोत्र के अनुरूप तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता के विवेचन या निदर्शन मात्र में निहित होती है।

I

इस पृष्ठभूमि में प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था की समस्या गौतम और तत्सम्बद्ध अन्य दार्शिनिकों तथा दिङ्नाग के प्रमाणमीमांसीय प्रस्थान से संबंधित है। प्रकरणात्मक समस्या होने के कारण इनका इतिहास और पल्लवन बहुत स्पष्ट नहीं है। सांख्यसूत्र, वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र और मीमांसासूत्र में इसकी चर्चा नहीं हुई है। वात्स्यायन भाष्य, न्यायवार्त्तिक तथा मीमांसाश्लोकवार्त्तिक में समस्या की औपचारिक विवेचना की गई है। बौद्ध न्याय के प्रमुख ग्रन्थों में सम्प्लव और व्यवस्था जैसे शब्द भी इस संदर्भ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। समस्या के नामकरण की पदावली भी बौद्धेतर ही है। वात्स्यायन[3] ने सर्वप्रथम इसे परिभाषित करते हुए "एक ही प्रमेय में एक से अधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति" को क्रमश: सम्प्लव और व्यवस्था कहा है। उद्योतकर ने इसके लिए साङ्कर्य तथा असाङ्कर्य शब्दों का प्रयोग किया है। कुछ लोग व्यवस्था के बदले विप्लव शब्द का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। बौद्धेतर सम्प्रदायों में जहाँ कहीं भी सम्प्लव और व्यवस्था का प्रसंग आया है उनके स्वर आलोचनात्मक हैं। आलोचनात्मक मुद्रा में बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाणसम्प्लव के प्रति आग्रहवान् प्रतीत होते हुए भी यत्किंचित् प्रमाण-व्यवस्था को भी स्वीकार कर लेते हैं। एतावता सम्भवत: दिङ्नाग के पश्चात् इस प्रश्न ने प्रतिक्रियात्मक रूप से बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिकों को परस्पर आकृष्ट किया है।

भारतीय दर्शन में प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था का विवाद मुख्य रूप से प्रमाण-विनियोग की अवधारणा से संबंधित है। प्रमाणों की संख्या एक से अधिक स्वीकार करने पर उनके विषय एवं क्षेत्र की विशिष्टता निर्धारण के लिए प्रमाण-विनियोग की अवधारणा का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। चार्वाक प्रभृति एकल-प्रमाणवादियों के लिए यह कोई समस्या ही नहीं है। प्रमाण-विनियोग की अवधारणा सुनिश्चित करने के लिए प्रमाणों के आपसी सम्बन्ध विषयक कुछ सामान्य प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। क्या प्रमाण एक-दूसरे के क्षेत्र में क्रियाशील हो सकते हैं ? क्या प्रमाणों के परस्पर सहयोग से ही विषय की सम्यक् उपलब्धि सम्भव होती है ? क्या एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण के द्वारा समान रूप से जाना जा सकता है ? इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में बौद्ध और बौद्धेतर नैयायिक दो खेमों में बँट जाते हैं। बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणों की परस्पर प्रयुक्ति अनुपपन्न है। इनके अनुसार कोई भी प्रमाण अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता है। प्रमाण अपने प्रातिस्विक रूप में विशिष्ट विषयक होते हैं। इसके विपरीत बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाण-व्यवस्था को अनुभव-विरोधी एक दोषपूर्ण दृष्टि मानते हैं। व्यवहार में

एकाधिक प्रमेयों में एक ही प्रमाण की प्रवृत्ति और एकाधिक प्रमाणों से एक ही प्रमेय की उपलब्धि सुतरां प्रसिद्ध है। किन्तु बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि में प्रमाण-व्यवस्था का प्रश्न प्रमाणों के विभाग में ही निहित होने के कारण यह प्रमाण-विनियोग के लिए अपेक्षित एक सिद्धान्त है। यदि प्रमाणों के विषय और क्षेत्र की परस्पर भावर्त्तक विशिष्टता स्वीकार ही नहीं की जाती तो उनके विभाग का प्रश्न आधार भूत नहीं रह जाता है।

II

बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाण-व्यवस्था कुछ विशेष रूप में रूपायित हुई है। इनके मत में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक द्विविध प्रमेय और तदनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान नामक द्विविध प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है। स्वलक्षण और सामान्यलक्षण क्रमश: परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप में एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। स्वलक्षण वह सब कुछ है जो समान्यलक्षण नहीं है। सामान्यलक्षण उन सबका निषेध है जो कि स्वरूपत: है। सत्ताविषयक यही व्यावृत्ति उनके प्रमाण-विभाग और प्रमाण-विनियोग में भी परिलक्षित होती है। साधारणतया बौद्ध सम्मत प्रमाण-व्यवस्था का यही स्वरूप है। किन्तु बौद्ध नैयायिकों ने इसकी एक सूक्ष्म व्यवस्था भी प्रस्तुत की है। वास्तव में स्वलक्षण ही एकमात्र प्रमेय है। एक ही परमार्थसत् स्वरूपेण स्वलक्षण और पररूपेण सामान्यलक्षण के रूप में अभिहित होता है।[४] इसलिए बौद्धन्याय में प्रत्येक प्रमाण के ग्राह्य एवं अध्यवसेय नामक द्विविध विषयों की व्यवस्था दी गई है।[५] क्षणिकवाद की पृष्ठभूमि में जिसका ग्रहण होता हो उसी का अध्यवसाय सम्भव नहीं है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में गृहीत स्वलक्षण सर्वथा अनभिलाप्य होता है। विकल्पों के माध्यम से स्वलक्षण अभिलाप्य होने की प्रक्रिया में सामान्यलक्षण बन जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय क्षणमात्र स्वलक्षण है, लेकिन उसका अध्यवसेय क्षण-सन्तान मात्र सामान्यलक्षण होता है। इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण तथा अध्यवसेय स्वलक्षण ही माना गया है। इस प्रकार प्रमाणों के ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषय की दृष्टि से प्रमाण-व्यवस्था की स्वीकृति बौद्ध नैयायिकों का विशेष अभिमत है।

नैयायिक बौद्धसम्मत प्रमाण-व्यवस्था की ऐसी संरचना के प्रति विप्रतिषेधयुक्त होने का आक्षेप लगाते हैं। प्रो. ए.के. चटर्जी[६] के अनुसार प्रमाण-व्यवस्था की अवधारणा सभी प्रकार के ज्ञानों को प्रत्यक्ष तथा अनुमान नामक द्विविध कोटियों में अन्तर्भूत कर देती है। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान और अनुमानात्मक ज्ञान अपने-अपने स्वरूप एवं विषय की दृष्टि से एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। ऐसा सिद्धान्त जो परस्पर व्यावर्त्तक दो ही कोटियों को निर्धारित करता है, स्वयं को उन्हीं कोटियों में समायोजित नहीं कर सकता

है। अत: प्रमाण-व्यवस्था को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाना जाय, यह सम्भव नहीं, क्योंकि यह एक साथ स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण से संबंधित सिद्धान्त है। यह बौद्धमत में स्वीकृत प्रमाणों की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। इसके ज्ञान के लिए किसी तीसरे प्रमाण को स्वीकार किया जाय तो प्रमाण-व्यवस्था व्याहत होगी या तृतीय प्रमेय को विचार-योजना में सम्मिलित करना पड़ेगा। दोनों ही बातें बौद्धाभिमत के विरुद्ध हैं। अतएव इस रूप में प्रमाण-व्यवस्था का प्रस्ताव एक अधितार्किक अन्वेषण ही हो सकता है। यह अपनी गवेषणा के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को अपेक्षित करता है जो स्वलक्षण और सामान्यलक्षण को साथ-साथ जानता हो। बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण को साथ-साथ जानना सामान्य जन की संज्ञानात्मक परिसीमा में असम्भव है।

यहाँ उपदर्शित विप्रतिषेध को स्पष्ट करने के लिए यह पूछा जाना चाहिए कि 'प्रमाण-व्यवस्था का ज्ञान किस प्रमाण से होता है' - इसका क्या अभिप्राय है ? वास्तव में विप्रतिषेधगत मूल प्रश्न यह है कि 'प्रमाण-व्यवस्था का आधार विषय-द्वैविध्य है और विषय-द्वैविध्य परस्पर व्यावृत्तिरूप है' यह ज्ञान कैसे होता है ? वास्तव में यदि यह बताया जा सके तो प्रमाण-व्यवस्था की आनुभविक गवेषणा सम्भव हो सकती है। किन्तु प्रमाणों के द्वारा यह बताया जाना सम्भव ही नहीं, क्योंकि एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। स्वयं बौद्ध नैयायिकों को प्रमाणपूर्वक प्रमेयों के आपादान या सिद्धि का पक्ष स्वीकार्य भी नहीं है। 'मेयाधीना मानसिद्धि:' अर्थात् विषयद्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य का पक्ष उनका स्वाभिमत है। 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' वार्त्तिक में 'द्वैविध्यात्' पँचमी विभक्ति होने से उक्त आशय की ही पुष्टि होती है। पँचमी विभक्ति का प्रयोग यहाँ हेतुभाव में विवक्षित है। इसलिए बौद्ध नैयायिकों ने विषय-द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को प्रमाणेन आपादित न कर 'द्वैराश्यभेद' के आधार पर प्रतिपादित किया है। हम अपने अनुभव में सर्वत्र द्वैविध्य पाते है।[७] लोकानुभव में आसन्न द्वैराश्य को पुष्ट करने के लिए धर्मकीर्ति ने शक्त-अशक्त, सदृश-असदृश, धी-विषयक-धी-अविषयक, शब्द-विषय-शब्द-अविषय नामक चतुर्विध मानदण्डों को प्रस्तावित किया है।[८] ये मानदण्ड अपने स्वरूप में हमारे सम्पूर्ण अनुभव (अस्तिभाति) को व्याप्त करते हैं। यह द्वैराश्यभेद की अवधारणा व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धियों में आचरित तात्त्विक कोटि-निर्धारण का प्रमाण-निरपेक्ष अभिगम है। बौद्ध नैयायिकों ने इसी के द्वारा स्वलक्षण-सामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को उपस्थापित किया है।

इस प्रकार द्वैराश्यभेदपूर्वक विषय-द्वैविध्य की उपस्थापना को यदि स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि द्विविध विषय के लिए दो ही प्रमाणों को मानना क्यों आवश्यक है ? क्या विषय-द्वैविध्य पूर्वक एक प्रमाण या दो से अधिक प्रमाणों का

विधान नहीं किया जा सकता ? बौद्ध नैयायिकों के पक्ष से इसका उत्तर देते हुए कुछ इस प्रकार की बातें कही जा सकती हैं-प्रथमत:,[९] प्रमाणों का वर्गीकरण करने के लिए विषय के अतिरिक्त कोई अन्य समुचित आधार नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण प्रमेयमूलक ही हुआ करते हैं। अत: जब दो ही विषय हैं तो किस लिए तृतीय प्रमाण को स्वीकार किया जाय ? द्वितीयत:,[१०] प्रमेयद्वय के लिए प्रमाणद्वय ही न्यायोचित हैं। प्रमाणसम्प्लव सम्भव नहीं होने के कारण प्रमेयद्वय के लिए एक या दो से अधिक प्रमाणों का विधान सर्वथा असंगत है। तृतीयत:[११] प्रत्यक्ष और परोक्ष-भेद से प्रमेयों के द्विविध प्रकार हैं। परस्पर एक-दूसरे के भेदक दो पदार्थों में तृतीय प्रकार की सम्भावना ही नहीं है। जो प्रत्यक्ष है वह परोक्ष नहीं और जो परोक्ष है वह प्रत्यक्ष नहीं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के अतिरिक्त तृतीय विषय का स्थान ही कहाँ है ? तृतीय विषय की असत्ता का बोध भी प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। 'नील' इत्याकारक प्रत्यक्ष नील को नील के रूप में ही प्रकट करते हुए अनील का निराकरण भी करता है। नील संवित् में अनील का प्रतिभास नहीं होता है। नील-ज्ञान-प्रतिभास नील ही हुआ करता है। नीलेतर जो कुछ भी है वह अनील की कोटि में आता है। इस प्रकार जब तृतीय विषय ही नहीं तो तृतीय प्रमाण को अनावश्यक रूप से क्यों स्वीकार किया जाय ? चतुर्थत:[१२] जब ज्ञान स्वगत में ही दो आकारों का बोध कराता है तो प्रमाण न एक और न दो से अधिक ही हो सकते हैं। पंचत:[१३] प्रमाणविषयक प्रमाण मानना भी आवश्यक नहीं है। यह अनावश्यक रूप से अनवस्था को आमंत्रित करने वाला होगा। प्रमाण का स्वरूप तो स्वसंवेदनाकार रूप से सिद्ध ही है। षष्टत:,[१४] साक्षात् और परोक्ष प्रतिपत्ति के रूप में प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तर्गत सम्भव सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से भी प्रमाणद्वित्व ही न्यायोचित है।

किन्तु इस पर प्रश्न उठता है कि यदि द्वैराश्य भेदपूर्वक विषय-द्वैविध्य और विषय-द्वैविध्य पूर्वक प्रमाणद्वित्व का नियम स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक विषय-भेद किस प्रमाण के द्वारा प्रतीत होता है ? प्रज्ञाकरगुप्त[१५] ने इस प्रश्न को स्वयं ही उठाया है। इसे प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा किसी अन्य प्रमाण से ज्ञापित होना चाहिए। स्वलक्षण-सामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की परस्पर व्यावृत्तिरूपता को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि दोनों का अपने-अपने विषय में प्रामाण्य स्थित है। यदि इसे प्रत्यक्षत: ज्ञापित माना जाय तो परोक्ष वस्तु में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार यदि अनुमानत: ज्ञापित माना जाय तो प्रत्यक्ष विषय में भी अनुमान की प्रवृत्ति को स्वीकार करना पड़ेगा। प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त किसी तीसरे प्रमाण को विचार-योजना में सम्मलित करना सम्भव ही नहीं, क्योंकि बौद्धों को अन्तिम रूप से दो ही प्रमाण इष्ट हैं। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों ही विकल्प बौद्धाभिमत के विरुद्ध हैं।

प्रज्ञाकरगुप्त[१६] ने उक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि विषय की द्विविधता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होती है, क्योंकि सदृशासदृशत्व की द्वैराश्य

प्रतीति ज्ञान का धर्म है, जिसकी सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से हो सकती है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ज्ञान और ज्ञानगत धर्म का भी ग्रहण हो जाता है। ऐसी प्रतीति भ्रांतिरूप है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भ्रांति की शंका होने पर वादी, प्रतिवादी और प्राश्निक का व्यवहार ही भंग हो जायेगा।

इस प्रकार बौद्ध नैयायिक विषय-द्वैविध्य और विषय-द्वैविध्य की परस्पर व्यावृत्तिरूपता पर आधरित प्रमाण-व्यवस्था की संरचना में अवान्तर रूप से उठने वाली समस्याओं का स्पष्टीकरण देने का प्रयास करते हैं। किन्तु उनकेसंपूर्ण प्रयास को आत्माश्रयदोष से ग्रसित कहा जा सकता है। द्वैराश्य-भेद के द्वारा विषय-द्वैविध्य की उपस्थापना और स्वसंवेदनपूर्वक उसका ज्ञापन मात्र तो सम्भव है, लेकिन इन सबके आधार पर विषय-द्वैविध्य का स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के रूप में ज्ञापित होना अनिवार्य नहीं है। यदि स्वसंवेदन की ऐसी व्याख्या की जाय जहाँ स्वसामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप में संवित्ति सम्भव हो तो स्वसंवेदन के उस स्तर को बौद्धों की प्रमाणमीमांसीय योजना में संग्रहीत नहीं किया जा सकता है। अत: बौद्ध नैयायिकों की मूलभूत तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को किसी न किसी रूप में 'दिया हुआ' या 'प्रकाशित' ही होना चाहिए। इसे बुद्धदेशित परमार्थ और संवृत्ति की चेतना से अनुप्राणित कहा जा सकता है। द्वैराश्य-भेद इत्यादि अवधारणाओं के द्वारा सामान्य अनुभव को एक विशेष तार्किक तन्त्र में व्यवस्थित कर विषय-द्वित्व का आपादन अपनी तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को व्यावहारिक बुद्धि का सम्बल देने और प्रागनुभविक निश्चितता प्रदान करने के एक सराहनीय प्रयास के रूप में ही पुरस्कृत किया जा सकता है।

वस्तुत: किसी भी दार्शनिक तन्त्र की मूलभूत प्रतिज्ञा को आनुभविक रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसे अन्तत: 'दिया हुआ' या 'प्रकाशित' ही मानना पड़ता है। आखिर कोई तत्त्वमीसांसक यह कैसे जानता है कि सात ही पदार्थ या दो ही तत्त्व होते हैं? बौद्ध नैयायिकों के साथ यह समस्या प्रमाण-व्यवस्था के कारण और भी जटिल हो जाती है, क्योंकि एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। बौद्धेतर दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में ऐसी बात नहीं है, फिर भी प्रमाणसम्प्लव की भी कुछ अपनी समस्याएँ हैं।

III

न्याय दर्शन के दार्शनिक बौद्धेतर प्रमाण-सम्प्लववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नामक चतुर्विध प्रमाण प्रसिद्ध हैं। पदार्थों की कोटि में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभावादि को परिगणित किया गया है। ये सभी पदार्थ समान रूप से सत् हैं और एक से अधिक प्रमाणों के द्वारा गम्य हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान की परिधि भी परस्पर व्यावर्त्तक नहीं है।

बौद्धेतर अभिमत में प्रत्यक्ष की परिधि भी बहुत ही विस्तृत है। प्रत्यक्ष के द्वारा न केवल विशेष, जैसाकि बौद्ध मानते हैं, बल्कि समवाय और अभावादि पदार्थों को भी जाना जा सकता है। मीमांसक और वेदान्त प्रभृति दार्शनिक भी न्यूनाधिक रूप में इन पदार्थों को स्वीकार करते हैं , लेकिन उनका प्रत्यक्ष एक विवाद का विषय रहा है। इसी प्रकार नैयायिकों का अनुमान भी बहुत व्यापक है। अनुमान के द्वारा सामान्य-विशेषादि पदार्थों के अतिरिक्त अतीन्द्रिय सत्ताओं का भी ज्ञान होता है। आत्मा एवं ईश्वर आदि का अनुमान इसके उदाहरण हैं। न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन[17] ने प्रमाणों के सम्प्लव-क्रम को इस तरह निरूपित किया गया है : कोई अग्नि को आप्तोपदेश से सुनकर हेतु-दर्शन के द्वारा समझने की कोशिश करता है। हेत्वाश्रित अनुमान से समझकर उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता है। प्रत्यक्षत: देखकर उपलब्ध अर्थ में जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती है। प्रत्यक्ष के द्वारा जिज्ञासित अर्थ की प्राप्ति होने के कारण वह जिज्ञासा का निवृत्तिकारक होता है। इस प्रकार प्रमाणों के विनियोग के ऊपरी ढाँचे में नैयायिक स्पष्ट तौर पर प्रमाणसम्प्लववादी ही प्रतीत होते हैं। यह बात अलग है कि प्रमाणों के स्वरूप-निर्धारण और विनियोग में कतिपय सम्प्लव-विरोधी प्रश्न एवं दृष्टान्त उनके मत के प्रति उपस्थापित किये जा सकते हैं।

द्रष्टव्य है कि प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था का विवाद प्रमाणों के स्वरूप-विषयक भेद से भी आधारभूत रूप में संबंधित है। बौद्ध और बौद्धेतर नैयायिकों के मध्य प्रमाण-स्वरूप विषयक पर्याप्त मतवैभिन्न्य रहा है। बौद्धों का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होने के कारण स्वलक्षणग्राही होता है। स्वलक्षण कोई आनुभविक विशेष पदार्थ नहीं है। अपनी तात्त्विकता में स्वलक्षण स्वसंवित्-क्रिया का क्षणमात्र है। ऐसे स्वलक्षण के प्रत्यक्ष को साधारण प्रत्यक्ष की तरह नहीं समझा जाना चाहिए। नैयायिकों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न विशेष्य-विशेषणावगाही ज्ञान है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के छ: प्रकार बताये गये हैं। षड्विध सन्निकर्षों की पृष्ठभूमि में ही सामान्य और अभावादि पदार्थों के प्रत्यक्ष की व्याख्या की जा सकती है। इसी प्रकार दोनों परम्पराओं में स्वीकृत अनुमान की संरचना में भी मौलिक अन्तर विवक्षित है। बौद्ध नैयायिकों का अनुमान विकल्पात्मक धर्म-धर्मी-सम्बन्ध पर आधारित होने के कारण सामान्यलक्षणग्राही है। अविनाभाव-रूप व्याप्ति-सम्बन्ध का निर्धारण कार्य, स्वभाव, और अनुपलब्धि-हेतु के द्वारा होता है। नैयायिकों की दृष्टि में अनुमान की प्रवृत्ति सत्तासमवाय को लेकर ही होती है। सत्तासमवाय ही उनकी दृष्टि में सत् का लक्षण है। इस तरह'जाति विशिष्ट व्यक्ति' वस्तु का स्वरूप निर्धारित होता है। साहचर्य-स्वरूपात्मक व्याप्ति वास्तव में एक प्रकार का सम्बन्ध न होकर नियम होने से नितान्त: प्रत्यक्षाश्रित होने के कारण आगमनात्मक सामान्यीकरण की पद्धति से सिद्ध होता है। यहाँ विचारणीय है कि प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा एक ही विषय का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष

और अनुमानादि प्रमाणों की परिभाषा से ही सम्बधित नहीं है। नव्य नैयायिकों ने भी किंचित् बौद्धों के प्रभाववश प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष की अपेक्षा साक्षात्कारित्व और व्याप्ति-निर्धारण के लिए भूयोदर्शन के बंदले सामान्यलक्षण प्रत्यासति पर विशेष बल दिया है। तथापि, बौद्ध और बौद्धेतर प्रमाणों के स्वरूप में मौलिक भेद बना ही रहता है। इस भेद को उद्घाटित करने के लिए यह पूछा जाना चाहिए कि प्रमाणों का स्वरूपात्मक भेद प्रमाण के घटकों या विषयों में से किसके द्वारा निर्धारित होता है ? नैयायिकों के अनुसार प्रमाणों के स्वरूप-भेद का सूत्र प्रमाण-विशेष के करणोपकरणरूप घटकों में निहित है। बौद्धाभिमत में प्रमाणों का स्वरूप भेद प्रमेयमूलक है। प्रमाण सदैव प्रमेय-सापेक्ष होते हैं। इसलिए प्रमेयों का गुणात्मक भेद प्रमाणों में भी गुणात्मक अन्तर को सुनिश्चित करता है। नैयायिकों को प्रमेय-सभेद विषयक गुणात्मक एवं स्तर भेद स्वीकार्य ही नहीं है। अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व की परिधि में आने वाले सभी पदार्थ समान रूप से समस्तरीय रूप में सत् हैं। इस परिधि के बाहर सत्ता का विधान ही नहीं किया जा सकता। तब भी करणोपकरण आदि घटक-भेद से प्रमाण-स्वरूप का भेद करते हुए प्रमाण-सम्प्लव की सम्यक् स्वीकृति विचारणीय हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं कि सामान्य अनुभव के धरातल पर प्रमाणसम्प्लव का समर्थन किया जा सकता है। हम घट को चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के द्वारा जान सकते हैं। पर्वत पर की अग्नि को अनुमान एवं प्रत्यक्ष दोनों प्रमाणों से जाना जाता है। यहाँ प्रत्यक्ष-प्रमाण के घटक इन्द्रिय-संवेदों का एक ही वस्तु के लिए परस्पर प्रयोग नितान्त भ्रामक प्रतीत होता है। क्या सचमुच चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के विषय की समानता यथोचित है ? चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के द्वारा तो हम घट के रूप और कठोरता को ही जानते हैं। रूप और कठोरता ही घट की सम्पूर्ण सत्ता नहीं है। कुमारिल भट्ट ने इन्द्रियों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सम्प्लव और व्यवस्था दोनों को स्वीकार किया है।[14] मूर्त्त द्रव्य का प्रत्यक्ष चक्षु और त्वक् दोनों इन्द्रियों से होता है। यह इन्द्रिय-साङ्कर्य का उदाहरण है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का प्रत्यक्ष तत्तद् इन्द्रियों के द्वारा क्रमश: एक-एक से होता है। यहाँ इन्द्रियों की प्रवृत्ति में स्पष्ट रूप से व्यवस्था दिखाई पड़ती है। वस्तुत: द्रव्य और गुण में भेद करते हुए गुणों को द्रव्याश्रित मानने वाले सभी बौद्धेतर दार्शनिकों को द्रव्य की दृष्टि से इन्द्रिय-सम्प्लव और गुण की दृष्टि से इन्द्रिय-व्यवस्था माननी ही चाहिए। नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष जातिविशिष्ट व्यक्ति को प्रकाशित करता है। मीमांसक भी थोड़े से अन्तर के साथ ऐसा ही स्वीकार करते हैं। जाति-व्यक्ति, द्रव्य-गुण में समवाय सम्बन्ध विवक्षित है। इसलिए सभी इन्द्रियों के द्वारा जाति-व्यक्ति युक्त घट के प्रत्यक्ष की व्याख्या हो जाती है। बौद्ध नैयायिक सम्बन्ध मात्र को ही असिद्ध मानते हैं। समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसकी नित्यता भी अनुचित है। सम्बन्धी ही नित्य नहीं तो सम्बन्ध की नित्यता वैसे ही व्यर्थ है। नित्य पदार्थों में सम्बन्ध के लिए अपेक्षित उपकार्य-उपकारक-भाव अनुपपन्न होने के कारण

सम्बन्ध मात्र ही असिद्ध हो जाता है। प्रसिद्ध तादात्म्य सम्बन्ध भी भेद को ढँकता हुआ अभेदरूपेण होता है। सम्बन्ध की वस्तुवादी संरचना में दो सम्बन्धियों का एक सम्बन्ध से संबंधित होना अनवस्थाग्रस्त होने से पूर्णत: अयुक्त है।[१९] नैयायिक इन आक्षेपों से बचने के लिए सम्बन्ध-मात्र को वस्तुनिष्ठ आधार प्रदान करते हैं। सभी सम्बन्ध बाह्य होने के कारण वस्तुगत हैं। कुछ भी आत्मनिष्ठ नहीं है। यहाँ तक कि वस्तुज्ञान के साथ-साथ ज्ञान का ज्ञान भी एक बाह्य वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध के सम्प्रत्यय पर आधारित माना गया है। अत: विभिन्न प्रकार के वस्तुगत सम्बन्धों के ताने-बाने में बँधी सप्तपदार्थी तत्त्वमीमांसा ही वह आधार है जिससे प्रभावित होकर बौद्धेतर दार्शनिक भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रमाणों का सम्प्लव दिखाते हैं। स्वतन्त्र और प्रकार्यात्मक रूप में प्रमाणों का विनियोग भी सम्प्लववाद का समर्थन करे, यह आवश्यक नहीं है।

सामान्य अनुभव के धरातल पर प्रत्यक्ष और अनुमान का परस्पर सम्प्लवन भी विचारणीय है। दोनों प्रमाणों का परस्पर सम्प्लवन व्यावहारिक तो है लेकिन संज्ञानात्मक दृष्टि से यह संदिग्ध प्रतीत होता है। वास्तव में हम प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा क्या जानते हैं ? प्रत्यक्षत: अग्नि का प्रकाशन उसके रंग, रूप और तापमान आदि के द्वारा ही हो सकता है। इनमें से कोई भी अग्नि की अनुमिति में उपलब्ध नहीं होते हैं। अनुमान किसी वस्तु का विशेषरूपेण नहीं बल्कि सामान्यरूपेण ज्ञान कराता है। सभी परोक्ष प्रमाणों के प्रति ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है। यदि यह सही है तो प्रमाण-सम्प्लव कहाँ है ? प्रत्यक्षात्मक और आनुमानिक अनुभूति की संज्ञानात्मकता में पर्याप्त भेद विवक्षित है। दोनों अनुभूतियों की समानता का सम्प्रत्यय संज्ञानात्मक दृष्टि से अस्पष्ट और भ्रामक प्रतीत होता है। प्रत्यक्षत: हम किसी वस्तु को कुछ विशेषताओं के सहित जानते हैं। अनुमान के द्वारा उसी वस्तु को उन्हीं विशेषताओं के सहित नहीं जाना जा सकता है। दोनों प्रमाणों द्वारा प्राप्त स्नायुविक प्रभाव एवं प्रवृत्त्याभिमुखता में भी पर्याप्त अन्तर होता है। अनुमान अन्तत: अस्तित्त्व की सम्भावना को ही सूचित कर सकता है।[२०] अनुमिति का आधार व्याप्ति-सम्बन्ध है। परन्तु आगमनात्मक सामान्यीकरण और सामान्यीकरण के आधार पर निर्मित व्याप्ति की परिधि में दो या दो से अधिक वस्तुओं अथवा घटनाओं का साहचर्य नियम अस्तित्त्वात्मक सम्बन्ध की दृष्टि से अत्यन्त दुर्बल होता हैं। नैयायिकों का अनुमान इस अस्तित्त्वात्मक एवं तार्किक दुर्बलता से कभी मुक्त नहीं हो सकता। इस दुर्बलता को दूर करने के लिए नव्य नैयायिकों द्वारा किये गये प्रयास को भी पूर्णत: सफल नहीं कहा जा सकता है। अत: विशिष्ट प्रत्यक्षात्मक अनुभूति और केवल अस्तित्त्व की हामी भरने वाले अनुमान का परस्पर सम्प्लवन संज्ञानात्मक दृष्टि से उचित नहीं है।

इसी तरह बौद्धेतर दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणसम्प्लव का विरोध शाब्द और शाब्देतर प्रमाणों के मध्य स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्राय: वैसे दर्शन, जो किसी न किसी रूप में अतीन्द्रिय सत्ताओं को स्वीकार करते हैं, उन्हें शाब्द

और शाब्देतर प्रमाणों के मध्य प्रमाण-व्यवस्था को दिखाना ही पड़ता है। यही कारण है कि अद्वैतवेदान्ती तत्त्वावेदक और अतत्त्वावेदक प्रमाण का विभाजन करते हैं। ब्रह्म, जो एकमात्र परमार्थ सत् है, अपने स्वरूप में सभी आनुभविक प्रमाणों का अतिक्रमण कर जाता है। यह 'शास्त्र-योनि' है।[21] इसे केवल शब्द-प्रमाण के द्वारा ही जाना जा सकता है। जगत् मिथ्यात्व का ज्ञान भी आनुभविक नहीं है। जगत् स्वयं ही अपने मिथ्यात्व का बोध नहीं कराता। अपने दैनिक जीवन में हम साधारण भ्रमों से भ्रमित हो जाया करते हैं। साधारण भ्रम अधिक से अधिक जंगत् की यथार्थता पर प्रश्न चिन्ह तो खड़ा कर सकते हैं लेकिन इसके आधार पर जगत्-मिथ्यात्व का प्रतिपादन अन्तिम रूप से नहीं किया जा सकता है। अपवादी उदहारण हमें सतर्क तो करते हैं लेकिन नियम प्रदान नहीं करते। अतएव कहा जा सकता है कि आनुभविक प्रमाण परम यथार्थता की ज्ञप्ति के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। ये केवल व्यवहार की सीमा में ही क्रियाशील हो सकते हैं। परम यथार्थता में केवल आर्षप्रमाणों की ही गति होती है। यही आम्नायान्त प्रमाण-व्यवस्था है। आनुभविक तथ्यों की ज्ञप्ति के लिए 'श्रुति' की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं। हथेली पर रखे कमल को श्रुतियों से नहीं जाना जाता है। पूर्वमीमांसकों के लिए भी 'श्रुति' ही धर्माधर्म में एकमात्र प्रमाण है। विधि का निर्धारण आनुभविक प्रमाणों के द्वारा सम्भव नहीं।[22] प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा 'अन्तिम रूप से चाहिए' के अर्थ में 'विधि' का निर्धारण करते हुए मूर द्वारा सुझाये गये 'प्रकृतीकरण दोष' से बचा नहीं जा सकता है। इस अर्थ में विधि कोई वर्णनात्मक पद नहीं है। अतएव मीमांसकों की विचार-सरणी में भी विधि और व्यवहार का द्वैधीकरण शाब्द और शाब्देतर प्रमाणों के मध्य प्रमाण-व्यवस्था को सुनिश्चित करता है। नैयायिकों ने यद्यपि शब्द-प्रमाण की परिभाषा को ही बदल दिया है, तथापि वे भी इस आक्षेप से बच नहीं सकते हैं। वास्तव में 'ईश्वर' को शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाणों से अन्तिम रूप में नहीं जाना जा सकता। अन्ततः शब्दप्रमाण-प्रोक्त ईश्वर की सिद्धि में ही अनुमानादि प्रमाणों का विनियोग सार्थक होता है।

ऐसे ही एक विशेष द्रृष्टिकोण से अनुपलब्धि-प्रमाण का विनियोग और उसके विषय की व्यवस्था प्रकृत प्रसंग में विचारणीय है। अभाव और प्रमाणाभाव के ज्ञान के लिए मीमांसक और वेदान्ती अनुपलब्धि-प्रमाण को एक स्वतन्त्र प्रमाण का दर्जा प्रदान करते हैं। नैयायिक अभाव को वस्तुनिष्ठ रूप से प्रत्यक्ष मानकर अभाव विषयक अनुपलब्धि नामक एक पृथक् प्रमाण की अनिवार्यता का खण्डन करते हैं। किन्तु इससे प्रमाणाभाव-विषयक अनुपलब्धि प्रमाण का खण्डन नहीं हो जाता है। जहाँ सभी प्रमाणों का अभाव हो वहाँ प्रमाणाभाव की ज्ञप्ति के लिए अनुपलब्धि प्रमाण मानना आवश्यक है। इतरेतर प्रमाणाभाव ज्ञापित होते हुए भी उत्तरोतर प्रमाणाभाव-ज्ञापन के लिए किसी ऐसे प्रमाण का विनियोग अनुपपन्न है जो इतरेतर रूप से प्रमाणाभाव को ज्ञापित कराता हो। अतः प्रमाणाभाव-विषयक अनुपलब्धि और अनुपलब्धेतर प्रमाणों

के मध्य भी प्रमाण-व्यवस्था दिखाई जा सकती है। यद्यपि यावत् प्रमाणों का अभाव और उसकी ज्ञप्ति के लिए अनुपलब्धि को प्रमाण मानना एक विप्रतिषेधात्मक स्थिति है तथापि तार्किक रूप से यह प्रश्न उठता ही है। इस पर गम्भीरता से विचार करने पर स्वीकृत प्रमाणों की संख्या और कोटि से भिन्न एक अन्य प्रमाण 'अनुपलब्धि' को स्वीकार करने की बाध्यता सर्वतंत्र स्वतंत्र रूप से बनी रहती है।

इस प्रकार बौद्धेतर प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में प्रमाणों के त्रिविध युग्म प्राप्त होते हैं। इस युग्मत्रय को प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षेतर, शाब्द और शब्देतर तथा प्रमाणाभाव-विषयक अनुपलब्धि और अनुपलब्धेतर के रूप में देखा जा सकता है। ऐसे प्रमाण-युग्मों में कहीं करण का सम्प्लव न होना तो कहीं विषय की विलक्षणता प्रमाणसम्प्लव के दावे संज्ञानात्मक को कमजोर बनाता है। किसी एक प्रमाण की संज्ञानात्मक विशिष्टता को स्वीकार करते हुए एक से अधिक विषय में उसकी अभिनिवेशात्मक प्रवृत्ति को स्वीकार करना एक भिन्न बात है। इससे प्रमाण-सम्प्लव को एक संज्ञानात्मक सिद्धान्त के रूप स्थापित नहीं किया जा सकता।

प्रमाण-सम्प्लव की बौद्धेतर संरचना के प्रति कुछ और भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये जा सकते हैं। आखिर प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को मानने की आवश्यकता ही क्या हैं? पुन: प्रत्यक्ष की सहभागिता के बिना अन्य प्रमाणों का प्रस्ताव ही सम्भव कैसे है? सामान्य रूप से इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि हम विभिन्न प्रमाणों का व्यवहार किया करते हैं। इस उत्तर से स्वयं ही दो आधारभूत प्रश्न उपस्थापित होते हैं। प्रथमत: हम क्यों एक से अधिक प्रमाणों का व्यवहार करते हैं? द्वितीयत: यदि करते भी हैं तो क्या परस्पर सम्प्लवित होने वाले प्रमाण एक-दूसरे को व्यर्थ या अनावश्यक अतिरेक नहीं बनाते हैं? क्या प्रमाणों के विषय एवं क्षेत्र की पृथक्ता को निर्धारित किये बिना इस अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति से बचा जा सकता है? इसके उत्तर में नैयायिक यह कह सकते हैं कि सभी प्रमाणों में बलाबल का भेद होते हुए भी प्रत्येक का अपना-अपना महत्त्व है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्ष प्रमाणों की उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। परोक्ष प्रमाण व्यवहार की व्यापक सीमा को अवाप्त करते हैं। किसी सिद्धान्त के निर्माण और सत्यापन में अनुमानादि परोक्ष-प्रमाण ही अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होते हैं। पुन: एक प्रमाण से ज्ञात वस्तु को दूसरे प्रमाण के द्वारा जानना व्यर्थ नहीं, क्योंकि एक ही वस्तु को विभिन्न प्रमाणों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से जाना जाता है।[२३] किन्तु नैयायिकों के लिए प्रत्यक्ष ही प्रधान प्रमिति है।[२४] मीमांसक और वेदान्ती भी प्रत्यक्ष को उपजीव्य प्रमाण मानते हैं। तब यह कहा जा सकता है कि प्रमाणों का पारस्परिक सम्प्लवन और प्रत्यक्ष की उपजीव्यता प्रत्येक्षतर प्रमाणों में अनावश्यक अतिरेकता को आंशिक रूप से प्रस्तावित अवश्य करता हैं। प्रमाण-व्यवस्था में प्रमाणों की प्रधानता और अप्रधानता का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस 'अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति' से बचने के लिए प्रमाणों के प्रकार एवं

भेद को 'विषयमूलक भेद' नहीं मानकर 'प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद' माना जा सकता है। वास्तव में नैयायिकों के लिए प्रमाणों का भेद प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद ही है। यह करण-भेद से निर्धारित होता है। अत: प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद के रूप में विभिन्न प्रमाण एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। किन्तु, ऐसा मानना भी पर्याप्त नहीं है। करण-भेद से प्रमाणों का भेद मानने का लाभ यह है कि प्रमाणों का स्वरूप विषय की प्रातिस्विक स्वरूपात्मक स्थिति से स्वतन्त्र हो जाता है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो भी प्रमाणों के विनियोग को विषय की प्रातिस्विक, अवस्था-विशेष, के अधिशासन से मुक्त नहीं कहा जा सकता है। आखिर अवस्था-विशेष पर कोई प्रमाण विशेष ही क्यों उपलब्ध होता है ? सामने उपस्थित घट को हम प्रत्यक्ष से ही क्यों जानते हैं ? क्यों नहीं इसके लिए हम प्रथमतया अनुमानादि को प्रयुक्त करते हैं ? इसके लिए एक प्रतिबन्धक की आवश्यकता है। यह प्रतिबन्धक वस्तु की अवस्था-विशेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। अत: विषयावस्था के सापेक्ष प्रमाणों की उपलब्धता और विनियोग दो प्रकार के निष्कर्षों को सामने लाती है। प्रथमत:, यदि किसी वस्तु की अवस्था-विशेष में कोई एक ही प्रकार का प्रमाण उपलब्ध और प्रयुक्त होता है तो अवस्था-भेद से प्रमाण-व्यवस्था की सिद्धि होती है। द्वितीयत:, यदि किसी वस्तु की अवस्था-विशेष में एक से अधिक प्रकार के प्रमाणों की उपलब्धि और सभी की प्रयुक्ति मानी जाय तो अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति अनिवार्य हो जाती है।

वस्तुत: नैयायिकों की प्रमाण-विषयक दृष्टि पूर्णतया व्यावहारिक रही है। प्रमाणों का औचित्य हेयोपादेय के त्याग और ग्रहण में निहित है। हेयोपादेय व्यवहार के लिए सम्प्लव आवश्वक है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यवस्था को नकार दिया जाय। इसलिए वात्स्यायन[illegible] ने प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण- व्यवस्था दोनों को अन्तत: स्वीकार भी किया है। प्रमाण-सम्प्लव के लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आत्मा आप्तोदेश-रूप शब्द प्रमाण-गम्य है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, प्रयत्नादि लिङ्गपूर्वक आत्मा का अनुमान सम्भव है। आत्ममन: सम्बन्ध-विशेष से आत्मा सद्य: प्रत्यक्ष का विषय है। मनोयोगपूर्वक आत्मबोध योगसमाधिज प्रत्यक्ष है। प्रमाण-व्यवस्था के लिए भी निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम:' आगम प्रमाण है। इसका लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञान सम्भव नहीं है। मेघ की गर्जना सुनने पर ध्वनिहेतुक अनुमान के बदले प्रत्यक्ष और आगम-प्रमाण अनुपपन्न ही रहते हैं। हस्तस्थ आमलक के लिए अनुमान और आगम-प्रमाण अनावश्यक है। इस प्रकार एक ही प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था की उभय स्वीकृति से कुछ निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम, दोनों सिद्धान्त एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। द्वितीय, व्यवहार दोनों को आत्मसात् करता है। तृतीय, प्रमाणों को प्रकारतामूलक ज्ञानभेद मानकर सम्प्लव और व्यवस्था दोनों दिखाये जा सकते हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि उपर्युक्त निष्कर्ष केवल प्रमेयों के ज्ञान के संदर्भ में ही उचित है। सम्प्लव और व्यवस्था का प्रश्न स्वयं प्रमाणों के संदर्भ में उठाया भी जा सकता है। नैयायिकों ने प्रमाणों को भी एक दृष्टि से प्रमेय-कोटि में परिगणित किया है। सूत्रकार गौतम[२६] ने प्रमाणों की तुलना 'तराजू' से करते हुए यह दिखाया है कि किस प्रकार प्रत्यक्षादि 'उपलब्धि हेतु' होने से 'प्रमाण' और 'उपलब्धि विषय' होने से 'प्रमेय' हो जाते हैं। प्रश्न उठता है कि प्रमाणों का ज्ञान प्रमाणान्तर से होता है या प्रमाणान्तर के बिना वे स्वयं ही गृहीत होते हैं ? नैयायिकों[२७] ने इस प्रश्न के उत्तर में अनवस्था दोष से बचने के लिए 'प्रदीप-प्रकाश' कर दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। 'प्रदीप-प्रकाश' स्वयं दृश्य होता हुआ दृश्यान्तर का हेतु बनकर दृश्य-दर्शन-भाव को प्राप्त होता है। ऐसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाण भी प्रत्यक्षादिकों से ही गृहीत होते हुए अन्य के ग्राहक होते हैं। प्रमाणों को जानने के लिए न तो प्रमाणान्तर की आवश्यकता है, न प्रमाणान्तर के बिना यह असाधन ही है। प्रत्येक प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु को जानते हुए इसका भी ज्ञान होता है कि यह किस प्रमाण के द्वारा जानी जा रही है। अत: प्रमेयरूपेण प्रमाणों के ज्ञान के संदर्भ में नैयायिकों को प्रमाण-सम्प्लववादी नहीं कहा जा सकता है। वैसे दर्शन, जो प्रमाणों को प्रमेय-कोटि में नहीं रखते, उनके लिए यह प्रश्न ही नहीं उठता है। वस्तुत: सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में प्रमाणों के ज्ञान के लिए प्रमाणान्तर का विधान न करते हुए, अनुव्यवसाय, स्वसंवेदन और स्वयंप्रकाशता, ज्ञाततानुमान आदि के द्वारा इसकी व्याख्या की गई है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त प्रश्न को प्रमाणों के प्रामाण्य की ज्ञप्ति को लेकर भी उठाया जा सकता है और तब कुछ भिन्न प्रकार के निष्कर्ष सामने आ सकते हैं।

IV

अन्तत: प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था की समस्या अपनी प्रकृति में तत्त्वमीमांसीय ही प्रतीत होती है। क्या बनाना है, इस बात को ध्यान में रखे बिना जैसे किसी औजार को नहीं बनाया जा सकता है, वैसे ही तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त प्रमाणमीमांसा भी सम्भव नहीं है। यह अधिशासन प्रमाणों के स्वरूप को निर्धारित करने के साथ-साथ प्रमाणों के विनियोग को भी अभिप्रेरित करता है। उदाहरण के लिए अधिकांश बौद्धेतर दार्शनिक निराकार ज्ञानवादी हैं। निराकार ज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान स्वयं में निराकार ही होता है और आकार वास्तव में बाह्य विषयों के होते हैं।[२८] बुद्धि इन्हें यथावत् ग्रहण करती है। ज्ञान को निराकार मानने पर ज्ञानभेद के साथ-साथ वस्तुभेद मानना आवश्यक नहीं हैं। एक ही वस्तु प्रत्यक्ष और परोक्षादि विभिन्न माध्यमों से ज्ञान में भाषीय आकारों के साथ अनुविद्ध होकर निरूपित हो सकती है। इस प्रकार निराकार ज्ञानवाद में करणभेद से प्रत्यक्ष-परोक्षादि प्रमाणभेद और प्रमाणों के सम्प्लवात्मक स्वरूप की व्याख्या हो जाती है। किन्तु सामान्य और विशेषीकृत व्यवहार की अनुमत सीमा में कहीं-कहीं व्यवस्थापरक प्रमाण-विनियोग की आवश्यकता को भी नकारा

नहीं जा सकता है। अत: बौद्धेतर तत्त्वमीमांसीय संरचना निराकार ज्ञानवादी दृष्टि से प्रमाणों को सम्प्लवात्मक स्वरूप तो प्रदान करती है किन्तु व्यवहार-सम्मत प्रमाण-विनियोग के लिए सम्प्लव और व्यवस्था दोनों का अनुमोदन करती है। बौद्ध नैयायिक साकार ज्ञानवादी हैं। साकार ज्ञानवाद के अनुसार ज्ञानगत आकार बाह्य वस्तुओं के द्वारा प्रक्षिप्त नहीं बल्कि ज्ञान में ही अर्न्तनिहित होते हैं। यही ज्ञानगत आकार तथाकथित बाह्य वस्तुओं का सम्पूर्ण सारांश है। बाह्यार्थवादी बौद्धों की ज्ञानमीमांसा सारूप्यवादी अथवा प्रतिभासवादी होने के कारण इसी विचार-कल्प में समायोजित हो जाती है। अतएव साकार ज्ञानवाद में ज्ञानभेद से वस्तुभेद आवश्यक रूप में विवक्षित होता है। ज्ञान-भेद से पृथक् एवं परे वस्तुभेद की कोई भावस्थिति ही नहीं बनती है। इसलिए बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसीय संरचना में प्रमाणों का व्यवस्थापरक विनियोग आवश्यक हो जाता है। प्रमाणों का ऐसा स्वरूप उनके व्यवहार-सम्मत विनियोग में भी कायम रहता है।

यहाँ प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था के तत्त्वमीमांसीय उत्स को एक-दूसरे रूप में भी देखा जा सकता है। वैसे सभी दार्शनिक सम्प्रदाय, जिनमें सत्ता की मीमांसा द्विविध स्तरों पर की जाती है, उन्हें किसी न किसी रूप में अनुभवपूर्व अविद्या की सक्रिय भूमिका को स्वीकार करना पड़ता है। यथा-बौद्धों और अद्यैत वेदान्तियों ने पारमार्थिक और व्यवहारिक रूप में सत्ता का द्वैधीकरण अपने-अपने ढंग से किया है। द्वैधीकृत सत्ता की तत्त्वमीमांसीय प्रकृति में भेद होते हुए भी तत्तद् दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में उसे समायोजित करने के लिए प्रमाणों का स्तरीकरण आवश्यक हो जाता है। वास्तव में प्रमाण-व्यवस्था सत्ता के द्वैधीकरण को प्रमाणों के स्तरीकरण में दिखाने का ही प्रमाणमीमांसीय प्रयास है। वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में अविद्या या विकल्प की प्रागनुभविक सक्रिय भूमिका को स्वीकार नहीं किया जाता है। नैयायिकों और मीमांसकों की दृष्टि में कुछ भी काल्पनिक रूप से संरचित नहीं है। यही कारण है कि वस्तुवादी दार्शनिक भ्रम और विभ्रमों को व्याख्यायित करने के लिए अन्यथाख्याति, अख्याति और विपरीतख्याति जैसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। इस रूप में प्रमाणसम्प्लव उनके लिए एक सहायक सिद्धान्त बन जाता है। उदाहरणार्थ अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार तथाकथित भ्रमात्मक वस्तुएँ सर्वथा असत् नहीं होती हैं। भ्रमस्थल पर भी उनका ज्ञान 'ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति' प्रत्यक्ष से होता ही है। यह बात अलग है कि प्रमाणों के सम्प्लवात्मक स्वरूप का ऐसा विस्तार बहुत कुछ अन्य सहकारी शर्तों की अपेक्षा रखता है।

V

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि कोई भी प्रमाणमीमांसा अपने तत्त्वमीमांसीय संरक्षण में ही विकसित

और पल्लवित होती है। यही कारण है कि प्रमाणमीमांसा की अनुमत सीमा में उठने वाले अधिकांश प्रश्न अन्ततः तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही उद्घाटित करते हैं। प्रमाणसम्प्लव और व्यवस्था का विवाद भी तत्त्वमीमांसीय लंगर से बंधी हुई समस्या है। यह बौद्धेतर वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा की उदारता है कि वह प्रमाणों की सम्प्लवात्मक प्रकृति को अनुमोदित करते हुए उनके व्यवस्थापरक विनियोग का विरोध नहीं करता है। वहीं बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसा का इतना कठोर अनुशासन है कि वह उन्हें प्रमाण-व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ स्वीकार नहीं करने देता है। वस्तुतः तत्त्वमीमांसीय नियामकता में प्रमाणों का अपनी-अपनी प्रस्थिति और भूमिका में रूढ़ हो जाना उनकी नियति है। प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के अपने ही तर्क और प्रमाण होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि विभिन्न प्रकार के तत्त्वमीमांसीय अधिशासनों से युक्त भिन्न-भिन्न प्रमाणमीमांसीय योजनाओं के द्वारा हमारे लोकानुभव और व्यवहार को निर्देशित किया जाता है। हाँ, विभिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय योजनाएँ लोकानुभव और व्यवहार को ससम्मान विवेचित और व्याख्यायित करते हुए एक 'दृष्टिविशेष' से उसे संस्कारित तो अवश्य ही करते हैं। इसे भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की विशिष्टता ही मानी जानी चाहिए कि यहाँ प्रमाणशास्त्र भी अपने को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह आध्यात्मिक एवं तत्त्वशास्त्रीय मूल्यों के लोकावतरण की भित्ति बन सके।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. श्चेरबात्स्की-बौद्धन्याय-हिन्दी अनु.-रामकुमार राय. पृ.६४७, चौ. वि. भ.वाराणसी।

२. न्याय भाष्य १.२.३ 'प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिसम्प्लवः असम्भवो व्यवस्थेति।'

३. प्रमाणवार्त्तिक २.१. 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्'।

४. प्रमाणवार्त्तिक २.५३-५४ 'मेयं त्वेकं स्वलक्षणं ..... स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वय मतम्।'

५. न्यायवार्त्तिक १.१२.'द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य - ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति।

६. आन्वीक्षिकी-अंक ६, जुलाई-अक्टूबर,१९७३, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी पृ. १८९

७. प्रमाणवार्त्तिक (मनो.),२.२. ''सर्वस्य संग्रहात् द्वैविध्यमेव''

८. प्रमाणवार्त्तिक २.१.२, मानं द्विविधं विषय-द्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः।अर्थक्रियायां केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः। सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः। शब्दस्य अन्यनिमित्तानां भावे धी सदसत्त्वतः॥

९. न्यायमंजरी, आ. १, प्रमा. परि., ''प्रमाणद्वयसिद्धे च विषयद्वयवेदने। वद कस्यानुरोधेन तृतीयं मानमिष्यताम्'?

१०. अकलङ्क, प्रमाणन्तर्भाव-दि एशियाटिक सोसायटी, ''प्रत्यक्षं अनुमानं च प्रमाणमिदमेव हि। प्रमाणसम्प्लवायोगात् प्रमेयद्वय संगतेः॥''

११. प्रमाणवार्त्तिक, २.६३, ६४, न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भव: । तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥ त्र्येकसंख्यानिरासो वा प्रमेयद्वयदर्शनात् । एकमेवाप्रमेयत्वाद् सतश्चेन्मतं च न: ॥

१२. प्रमाण वार्तिकालङ्कारभाष्य, २.६३.६४, ''स्वाकारद्वयसंवेदने हि नैकमिति युक्तम् नापित्रयादिकम् ।''

१३. वही, प्रमाणास्वरूपन्तु स्वयंवेदनाकारसिद्धे: ।

१४. द्रष्टव्य- ''प्रमाणन्तर्भाव प्रकरण-विमर्श'', डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा, दार्शनिक त्रैमासिक, अंक १-४, १९९१-९२, संयुक्तांक ।

१५. प्रमाणवार्त्तिकम्, वार्त्तिकालङ्कारभाष्य सहित, हिन्दी, अनु., स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रका. संस्थान वाराणसी, पृ. ४१३ ननु प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणो विषयभेद: केन प्रमाणेन प्रतीयते । किं प्रत्यक्षानुमानेन प्रमाणान्तरेण वा ।

१६. वही पृ. ४१४ अत्रोच्यते- विषयद्वैविध्यंप्रत्यक्षत एव सिद्धम् । सद्वृशासद्वृशप्रतीतिर्हि प्रतीतेरेव धर्म: स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्ध: । न च प्रतीति: स्वरूपे भ्रान्तिसङ्गता, तत्र भ्रान्तिशङ्कायामव्यवहार एव भवेदनवतारहेतुर्वा वादिप्रतिवादिप्राश्निकवचनस्य ।

१७. न्याय भाष्य १.२.३ सा चेयं प्रमिति: प्रत्यक्षपरा । जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्ग दर्शनेनापि बुभुत्सते, लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतोदिद्वक्षते, प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते । पूर्वोक्तमुदाहरणं-'अग्नि' ।

१८. श्लोकवार्त्तिक,प्रत्यक्षगतधर्मानिमित्तत्वसूत्रम्,१७०.'तस्मात् पंचभिरप्यक्षैर्बोध: सत्तागुणत्वयो: । द्रव्यभूतो पुन:द्वाभ्यां रूपादावेकश: स्थित: ॥'

१९. धर्मकीर्ति,सम्बन्ध परीक्षा, ४, द्वयोरेकाभिसंबंधात् संबंधो यदि तद्द्वयो: । क:संबंधोऽनवस्था च न संबंधमतिस्तथा ।

२०. बृहदारण्यक उपनिषद शांकर भाष्य आनन्दगिरि टीका, ''सम्भावनामात्रेण लिङ्गोपन्यास: । न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्यते ।''

२१. ब्रह्मसूत्र (चतु:सूत्री), १.४ शास्त्रयोनित्वात् । शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या 'शास्त्रस्य योनि:' और 'शास्त्रं योनिर्यस्य' दो रूपों में की है ।

२२. मीमांसा सूत्र १.१.४, भाष्यकार शबरस्वामी ने धर्म में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपर्याप्तता बताने के लिए 'धर्मस्य भाव्यत्वाद्वर्तमानैक देशित्वादिन्द्रियस्य' कहा है ।

२३. न्यायवार्त्तिक १.१.१ 'अधिगतत्वाद् वैयर्थमिति, न अन्यथा तदधिगते: ।'

२४. न्यायभाष्य १.१३ 'सा चेयं प्रमिति: प्रत्यक्षपरा ।

२५. न्यायभाष्य १.१.३ किं पुन: प्रमाणानि प्रमेयाभिसम्प्लवन्ते अथ प्रमेयं व्यवतिष्ठन्त इति । उभयथादर्शनम् ।

२६. न्यायसूत्र २. १.६, प्रमेयता च तुला प्रमाण्यवत् ।

२७. न्यायसूत्र २.१.१९, न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धे: ।

२८. शाबरभाष्य,१.१.२ निराकारा च नो बुद्धि: आकारवान् बाह्योऽर्थ: ।

अध्याय : छह



प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण विमर्श

मानवीय अनुभव अपनी समग्रता में एक तत्त्वमीमांसा को पूर्वगृहीत किये रहती है। इस तात्त्विक पूर्वग्रह के प्रति जब हम ज्ञानमीमांसीय उपक्रम के द्वारा आत्मचेतन होते हैं तो विदित होता है कि पूर्वग्रहीत तत्त्वमीमांसा हमारे लोकानुभव को आदेशित नहीं करती बल्कि उसकी सम्यक् व्याख्या के लिए एक उच्चतर आधार प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि प्रत्येक दार्शनिक तंत्रों की ज्ञानमीमांसा में उस-उस तंत्र के तत्त्वमीमांसीय प्रस्थापनाओं के गहरे सन्दर्भ-संकेत प्राप्त होते हैं। ऐसे सन्दर्भों को तत्तद् दर्शनों में स्वीकृत प्रमाणों के अन्तर्गत परिलक्षित होना ही उन तंत्रों की प्रमाणमीमांसीय अनुवीक्षा को विशिष्ट और पुष्ट बनाता है। यदि स्वीकृत प्रमाण इस अपेक्षा को पूरा नहीं करते हैं तो उनकी स्वरूप-हानि होती है। प्रमाणों का एक महत्त्वपूर्ण आयाम उनकी व्यावहारिक सार्थकता भी है। इस व्यावहारिक सार्थकता को प्रमाणों के स्वरूप की अपेक्षा उनके विशिष्ट साधनत्व से अधिक लेना-देना होता है। परन्तु तत्त्विक अभ्युपगम की विरोधी व्यावहारिक सार्थकता और साधनत्व भी प्रमाणों के लिए सर्वांशत: उपादेय नहीं होती। अन्तत: प्रमाणों की व्यावहारिक सार्थकता, उनका साधनत्व एवं संख्या का विचार भी तात्त्विक रूप से स्वीकृत प्रस्थापनाओं अथवा प्रमेयों के प्रकाशन में ही पुरस्कृत हो पाती है। अब व्यावहारिक अधिशासन को प्राथमिकता देते हुए यदि एक ही प्रमाण से अनेक विध प्रमेयों का ज्ञापन स्वीकार किया जाय तो प्रमाणलक्षण का अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित हो जाने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। दूसरी ओर अनेक प्रमाणों से एक ही प्रमेय का प्रकाशन स्वीकार करने पर प्रमाण

विनियोग में अनावश्यक अतिरेकता आसन्न हो जाती है। इसलिये किसी भी प्रमाणमीमांसा के लिए उसके तात्त्विक अभ्युपगम में ही प्रमाणसंख्या का भी विचार उचित प्रतीत होता है।

I

प्रस्तुत प्रसंग में यहाँ प्रमाणों का तात्त्विक अभ्युपगम और प्रमाणान्तर्भाव विषयक एक महत्त्वपूर्ण समस्या का विचार प्रथमतया आवश्यक प्रतीत होता है। इसमें कोई दो राय नहीं कि तत्त्वमीमांसा प्रमाणों के स्वरूप एवं विनियोग को निर्धारित करने के साथ-साथ प्रमाणसंख्या को भी निर्देशित कर सकता है। परन्तु, कोई किस प्रकार की तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करता है, यह उसके गोत्र या सम्पूर्ण बौद्धिकता से सम्बन्धित प्रश्न है। तब तो तत्त्वमीमांसीय संरचना की भिन्नता को स्वीकार करने के साथ ही भिन्न-भिन्न प्रमाणमीमांसीय ढाँचे और उस ढाँचे में प्रमाणों के भिन्न-भिन्न प्रकार और संख्याओं की स्वीकृति आपत्तिजनक नहीं रह जाती है। ऐसी स्थिति में प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण का औचित्य अपने विचारों को दूसरे के ऊपर थोपने के अतिरिक्त क्या हो सकता है? यदि विशुद्ध प्रमाणमीमांसीय परिसीमा में प्रमाणान्तर्भाव के लिये एक सामान्य आधार खोजने का प्रयास किया जाय तो इतिविषयक तत्त्वमीमांसीय भूमिका की औचित्यहीनता प्रतिपादित होती है। वस्तुत: प्रमाणमीमांसा को अनुवीक्षा के रूप स्वीकार कर लेने के पश्चात् कोई भी प्रमाणमीमांसीय निष्पत्ति तात्त्विक अधिशासन से मुक्त नहीं हो सकती है। यद्यपि प्रमाणान्तर्भाव का प्रश्न तो प्रमाणों के सम्लवात्मक प्रकृति का विरोधी पक्ष है और यह प्रमाण व्यवस्था का सह पाकर लाघव को प्राप्त होता है। लेकिन भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाव के विचार को जिस रूप में चरितार्थ किया गया है उसे तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त नहीं कहा जा सकता है।

भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या विषयक विप्रतिपत्ति का इतिहास बहुत लम्बा है। एक प्रचलित श्लोक में उक्त विप्रतिपत्ति को इस प्रकार दर्शाया गया है। "प्रत्यक्षमेकं चार्वाका: कणाद सुगतो पुन:। अनुमानं च तच्चापि सांख्या शब्दश्च ते उभे ॥ न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन। अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहु: प्राभाकरा: ॥ अभाव षष्टन्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्य युक्तानि तानिपौराणिका: जगु: ॥" (मानसोल्लास, अध्याय 2-20) यह स्पष्ट रूप से प्रमाण विभाग और संख्या सम्बन्धी मतवैभिन्य को निरूपित करता है। इस मतवैभिन्न्यात्मक पृष्ठभूमि में सम्पूर्ण भारतीय प्रमाणमीमांसा के लिये प्रमाणान्तर्भाव आवश्यक हो जाता है। सभी सम्प्रदाय अपने मत में स्वीकृत प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव दिखाकर स्वमत को पुष्ट करते हैं। यहाँ बौद्ध और बौद्धतर प्रमाणान्तर्भाव में एक विशेष प्रकार का भेद परिलक्षित होता है। बौद्धेतर प्रमाणान्तर्भाव प्रमाण-सम्प्लव का विरोधी नहीं है। प्रमाण सम्प्लव को स्वीकार करते हुये प्रमाणान्तर्भाव दिखाना किसी प्रमाणमीमांसीय संरचना को अस्वीकार करना नहीं है। बौद्ध प्रमाणसम्प्लव के सर्वथा

विरोधी हैं। बौद्ध नैयायिक प्रमाणों का अन्तर्भाव दिखाते हुए प्रमेयों का भी अन्तर्भाव कर देते हैं। इस तरह प्रमाण-व्यवस्थावादी प्रमाणान्तर्भाव अन्ततः किसी भी वैकल्पिक प्रमाणमीमांसीय संरचना की अस्वीकृति में पर्यवसित हो जाता है।

बौद्ध नैयायिकों की विचार योजना में उपलम्भता को सत्ता का लक्षण मानने के कारण ऐसा सम्भव हो पाता है। उपलम्भ हुए बिना कोई वस्तु भावरूपता को आत्मसात् नहीं कर सकती है।[1] सत्ता का ऐसा लक्षण स्वीकार करने पर प्रमाणसम्प्लव का विरोध करते हुए प्रमाणान्तर्भाव के प्रति उदासीन रहने से अज्ञेयवाद की प्रसक्ति होती है। भावरूपता के लिये उपलम्भन की अनिवार्यता और प्रमाणान्तर्भाव के प्रति उदासीनता परस्पर विरोधी बातें हैं। इसलिए न्यायवादी बौद्धों ने प्रमाणान्तर्भाव विषयक एक आदर्श दृष्टिकोण अपनाया है। उनके दृष्टिकोण की आदर्शरूपता समस्या के समायोजन में निहित है। समायोजन को सम्यक् बनाने के लिये उनके द्वारा प्रमाणोच्छेदवादियों को निरस्त करते हुए प्रमाणों का प्रतिपादन और प्रमाणमात्र का प्रत्यक्ष और अनुमान में अन्तर्भावपूर्वक प्रमाणद्वयेतर का खण्डन किया गया है। ज्ञानश्री मित्र ने अपने अद्वैत बिन्दु नामक प्रकरण ग्रन्थ में प्रमाणोच्छेदवादियों का सम्भावित रूप में अध्याहार करते हुए उनका खण्डन किया है। प्रमाण से ही किसी वस्तु का बौद्धिक निदर्शन होता है। प्रमाण को अप्रमाण मान लेने पर विचार के सारे अवसर ही समाप्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में खण्डन और मण्डन कुछ भी सम्भव नहीं है। कोई प्रमाणोच्छेदवादी किसी सभा में कैसे समादृत हो सकता है। आखिरकार प्रमाणों की अनुपयुक्तता प्रदर्शित करते हुए वह क्या सिद्ध करना चाहता है ? यदि उसके मत से किसी वस्तु का बाधन स्वीकार किया जाय तो बाधक प्रमाणों की सिद्धि होती है। अबाधन स्वीकार करने पर प्रमाणोच्छेदवादियों से भयभीत होने की जरूरत ही नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसके मत से कुछ भी साध्य नहीं है। तब तो उसके प्रश्नों की आभिप्रायिकता ही समाप्त हो जाती है। वाच्यार्थ बोध का समार्थ्य ही शब्दों की सुन्दरता है। अर्थहीन शब्द प्रयोग से क्या लाभ हो सकता है। इससे बचने के लिये यदि प्रमाणों का सांवृत्तिक औचित्य स्वीकार किया जाय तो प्रमाण के बिना केवल वचनमात्र से ही संवृत्ति की सिद्धि नहीं होती है। सांवृत्तिक व्यवस्था के लिये भी कुछ नियम अपेक्षित हैं। किसी भी स्थिति में भावाभाव व्यवस्था के लिए प्रमाणों की प्रभुता अनिवार्य है।[2] इसलिये सभी अवस्थाओं में प्रमाणों का परित्याग सर्वथा असमर्थनीय है।

भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रमाणोच्छेदवादियों की कोई अविच्छिन्न परम्परा नहीं रही है। नागार्जुन कृत 'विग्रहव्यावर्त्तनी' में प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था के विरोध में कुछ विस्थापक प्रकृति के मौलिक प्रश्न उठाये गये हैं। तत्पश्चात् जयराशि भट्ट ने 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक ग्रन्थ में प्रमाणोच्छेदपूर्वक तात्त्विक विप्लव दिखाने का प्रयास किया है। सम्प्रति तत्त्वोपप्लवसिंह ही प्रमाणोच्छेदवादियों का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। ग्रन्थकार ने अपनी प्रतिज्ञा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-सम्पूर्ण

प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था का आधार प्रमाण सद्लक्षण है। विचार करने पर किसी भी प्रमाण-लक्षण को निर्दोष सिद्ध नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रमाणाश्रित प्रमेय व्यवस्था और तदनुसारी सम्पूर्ण व्यवहार अविचार रमणीयता को प्राप्त होते हैं।[३] यहाँ ध्यातव्य है कि जयराशि भट्ट ने 'प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि' को लक्ष्य करके 'प्रमाण सल्लक्षणाभावात् प्रमेयोपप्लव:' का प्रतिपादन किया है। बौद्ध नैयायिक 'प्रमाणसिद्धि: प्रमेयाद्धि' के आधार पर 'प्रमेय सद्भावात् प्रमाणद्वयस्थिति:' की व्यवस्था करते हैं। तत्त्वोपप्लवसिंह में इस पक्ष के प्रमाण लक्षणों का खण्डन करते हुए उनके प्रमेयमूलक अभ्युपगम की अनेदखी हुई है। इसलिये जयराशि प्रणीत विप्रतिपत्तियों से बौद्ध प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था व्याहत नहीं होती जैसाकि इसका दुष्प्रभाव नैयायिकों के प्रमाणमूलक प्रमेयव्यवस्था पर पड़ता है।

II

इस तरह प्रमाणमात्र की अस्मिता के प्रति आश्वस्त होने के पश्चात् अब प्रमाण संख्या का विचार प्रासंगिक है। न्यायवादी बौद्ध-परम्परा में प्रमाण द्वित्व के सिद्धान्त को स्थिर किया गया है। द्वैराश्यमूलक प्रमेय द्वित्व होने से प्रमाण न तो एक और न ही दो से अधिक तृतीयादि ही हो सकते हैं। इसमें प्रत्यक्ष की प्रमाणता सबको समान रूप से स्वीकार्य है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाणों की संख्या विवादास्पद है। चार्वाक अनुमान प्रमाण का खण्डन करता है। प्रमाण गणना में अनुमान का निराकरण व्यवहार सम्मत नहीं है। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। प्रथमत: भाव और अभाव का समान रूप से निश्चय प्रत्यक्षत: अनुपपन्न है। प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति से अभाव का प्रत्यक्षात्मक निश्चय मानना आँख बन्द कर आँख से देखने के समान नितान्त विरुद्ध है। अन्वय-व्यतिरेकात्मक अनुपलब्धि से युक्त प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति अभाव का गमक होने से वह सद्य:अनुमान है।[४] द्वितीयत: प्रत्येक पुरुष को अपने शरीरगत चैतन्य और प्रवृत्तियों की प्रतिपत्ति प्रत्यक्षत: होती है। अन्य शरीर में वैसी प्रवृत्तियों को देखकर वह पर चैतन्य का अनुमान करता है। स्वगत चैतन्य और परगत चैतन्य की प्रतिपत्ति से प्रत्यक्ष और अनुमानात्मक द्विविध प्रमाण सद्य: सिद्ध होते हैं।[५] तृतीयत: परलोक निषेध के लिये चार्वाक अनुपलब्धि हेतु से अनुमान का स्वयं व्यवहार करते हुए किस प्रकार अनुमान का खण्डन कर सकता है ? चार्वाक के पक्ष से यह कहा जा सकता है कि परलोक के बिना भी जीवितार्थी व्यक्ति अपने जीवन का अभ्यर्थी तो है ही ? पुन: अतीत की अभ्यर्थना ही अनुपपन्न है। वर्तमान प्राप्त हो चुका है। अनागत जीवन की कामना हो सकती है। तब उसके उपाय की कामना जिस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सम्भव है, वही अनुमान है। रत्नकीर्ति ने न्यायशास्त्रीय ढंग से चार्वाक का विरोध करते हुए कहा है कि "तच्छास्त्रे हि प्रत्यक्षेतर सामान्ययो: प्रमाणेतर विधानं लक्षण प्रणयन्तो विधातव्यम्। तच्चलक्षणं प्रत्यक्षेधर्मिर्णि लक्ष्ये प्रामाण्ये प्रत्येतव्ये स्वभावो हेतु:। पर बुद्धि प्रतिपत्तौ च कामादि व्यापार: कार्य हेतु:। परलोक प्रतिषेधे च

दृश्यानुपलम्भोऽङ्गीकर्त्तव्य इति कथमनुमानालाप: ।[६] इस प्रकार स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि हेतु से जनित अनुमान का खण्डन असम्भव है। प्रत्यक्ष स्वरूपत: एक निर्विकल्प प्रतिपत्ति है। प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता ही परोक्ष प्रमिति रूप अनुमानान्वेषण को प्रेरित करती है। सविकल्पकता सामान्यलक्षण का धर्म है। सामान्यलक्षण ही व्यवहार योग्य होता है। व्यवहार सम्पादन के लिये अनुमिति अपरिहार्य है। एतावता निर्विकल्पकत्वेन सकल निर्विकल्पक कलाप और सविकल्पकत्वेन निखिल सविकल्पक प्रकारों का संग्रह प्रत्यक्ष और अनुमान में हो जाने से द्वयेतर प्रमाणों का भी निरास स्वयं प्रस्तावित हो जाता है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार 'प्रमाणान्तरागृहीतनिश्चित प्रवृत्तिविषयार्थतया तत्प्रापणे शक्ति:' ही प्रमाणों का प्रामाण्य है। यह प्रापण शक्ति रूप प्रामाण्य अर्थ से उत्पन्न न होकर अर्थ दर्शन से उत्पन्न होता है। प्रश्न उठता है कि अर्थ-दर्शन क्या है? साधारणतया अर्थ का धर्म दृश्यत्व है और ज्ञान का धर्म द्रष्टृत्व माना जाता है। प्रथम पक्ष में एकार्थगोचरता पूर्वक सर्वार्थगोचरता का दोष आसन्न है। क्योंकि, दृश्यत्व तो सभी अर्थों का सर्वसाधारण धर्म है। दूसरे पक्ष में द्रष्टृत्व ज्ञान का धर्म होने से अर्थप्रतीति को असम्भव बना देता है। क्योंकि,अन्य से अन्य की प्रतीति नहीं हो सकती।[७] उपर्युक्त उभयविध विकल्प पृथक्-पृथक् एकांगी होने से अपर्याप्त हैं। प्रामाण्य के लिये दोनों की पारस्परिक सापेक्षता आवश्यक है। दृश्यत्व के बिना द्रष्टृत्व और दृष्टृत्व के बिना दृश्यत्व अनुपपन्न है। ज्ञान में रूपायित दृश्य-द्रष्टृत्व भाव की व्याख्या दृश्यत्व और द्रष्टृत्व को क्रमश: अर्थ और ज्ञान का धर्म मानकर नहीं की जा सकती है। वस्तुत: साकार ज्ञानवादी अभ्युपगम में सारुप्यवशात् ज्ञानान्तर्गत ही दृश्य-दर्शनभाव रूपायित होता है।[८] यह सारुप्य कोई परमार्थ सत् नहीं और न ही बाह्य अर्थ नामक कुछ वस्तु इसका नियामक है। बौद्ध न्याय में असारुप्य व्यावृत्त सारुप्यवशात् अर्थदर्शन अभिप्रेत है। इत्याकारक अर्थदर्शन ही ग्राह्यतया प्रत्यक्ष और अध्यवसायतया अनुमान के रूप में व्यवहृत होता है। ग्राह्य और अध्यवसेय भेद से प्रत्यक्ष में 'अज्ञातार्थ प्रकाशकत्वेन' और अनुमान में 'अविसंवादकत्वेन' प्रामाण्य स्थित रहता है। यह प्रामाण्य विषयक बौद्ध नैयायिकों की विशेष अभिमति है।

III

भारतीय दर्शन में न्यायवादी बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त शब्द नामक एक स्वतंत्र प्रमाण अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष प्रमाण केवल दृष्टवस्तु को ग्रहण करता है। अनुमान प्रमाण व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध पर निर्भर है। दोनों प्रमाणों में पारलौकिक पदार्थों के स्वरूप या सम्बन्ध ज्ञान की क्षमता न होने के कारण शास्त्र नामक एक तीसरा प्रमाण मानना आवश्यक है। मीमांसकों के अनुसार विधि वाक्यों के द्वारा स्वर्गादि असन्निकृष्ट अर्थों का साधक विज्ञान ही शास्त्र नामक शब्द प्रमाण है। शबर स्वामी ने शास्त्र का लक्षण बताते हुए 'शास्त्रं शब्दविज्ञानासन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्'

कहा है।[९] शब्द राशि शास्त्र अपौरुषेय, पौरुषेय अथवा आप्तोपदिष्ट रूप में सर्वथा समीहित अर्थ का साधक होने के कारण प्रमाण माना जाता है।[१०] पार्थसारथि मिश्र ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि विज्ञान शब्द से पदार्थ ज्ञान और उससे वाक्यार्थ की उपस्थिति ही शब्द प्रमाण है।[११] वाक्यार्थ ज्ञान में पद ज्ञान कारण है। पदार्थ ज्ञान व्यापार है। शक्ति सहकारी कारण है। वाक्यार्थ ज्ञान फल है। नैयायिकों ने 'आप्त-वाक्य' के रूप में शब्द प्रमाण का लक्षण किया है।[१२] 'आप्तवाक्यं शब्दः' में शब्द लक्ष्य पद है। आप्तोपदेश लक्षण पद है। यथाभूत उपदेष्टा आप्त का स्वरूप माना जाता है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर शब्द की स्वतंत्र प्रमाणता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। नित्य और अपौरुषेय शब्द स्वरूप की संकल्पना अनेक विप्रतिपत्तियों से ग्रस्त है। मीमांसोक्त शब्द की नित्यता के विरोध में क्षणभङ्ग प्रसाधक सभी युक्तियों को प्रकारान्तर से उपस्थापित किया जा सकता है।[१३] इसके अतिरिक्त यह भी पूछा जाना चाहिये कि अकृतक वाक्य स्वरूपतः ज्ञान जनन में शक्त होते हैं अथवा अशक्त होते हैं ? उभयविध विकल्प के अलावा कोई तीसरा विकल्प नहीं है। यदि अकृतक वाक्यों को ज्ञान जनन में नित्य समर्थ माना जाय तो तद्विषयक तीनों कालों का विज्ञान और अर्थ की उपलब्धि होनी चाहिये। ऐसी उपलब्धि का निगमन मीमांसा विहित शब्द के स्वभाव में निहित है। यदि अकृतकत्वेन नित्यवाक्यों को ज्ञान जनन में अशक्त माना जाय तो तीनों काल में उससे विज्ञान और अर्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती है। नित्यभाव में कदाचित्कत्व अनुपपन्न है।[१४] वाक्यों की अपौरुषेयता भी एक असंगत संकल्पना है। अपौरुषेय वाक्य अर्थवान नहीं हो सकते है। किसी भी वाक्य की अर्थवत्ता अविपरीतार्थत्वेन या विपरीतार्थत्वेन ही सम्भव है। अर्थवत्ता का ऐसा निश्चयीकरण सदैव पुरुषाश्रित होता है। पुरुष संदर्भ के निषेध से वाक्यों की उभयविध अर्थवत्ता का स्वतः निरास हो जाता है।[१५] इससे बचने के लिये मीमांसक या नैयायिक आप्तपुरुष को भी वाक्यों की अर्थवत्ता का नियामक नहीं मान सकते हैं। विपर्यास, भ्रान्ति और स्खलन दोष से रहित पुरुष की कल्पना ही असम्भव है। यदि किसी आप्तपुरुष को स्वीकार भी कर लिया जाय तो उसके दोष रहित चित्तवृत्ति की प्रत्यक्षात्मक प्रतिपत्ति अनुपपन्न है। शरीर और वचनादि व्यापार रूप कार्य से कारणरूपेण दोष रहित चित्तवृत्ति का अनुमान व्याभिचारात्मक है। रागी पुरुष भी वीतराग की तरह व्यवहार करते देखे जाते हैं। यदि आप्त पुरुष के आप्तत्त्व की सिद्धि शब्द प्रमाण से ही मानी जाय तो अन्योन्याश्रय दोष की उपपत्ति होगी। रत्नकीर्ति ने ठीक ही कहा है कि आप्त पुरुष के आप्तत्त्व की असिद्धि ही शब्द प्रमाण निरास के लिये पर्याप्त है।[१६] यहाँ यह भी स्मरणीय है कि बौद्ध नैयायिक सन्तानान्तर सिद्धि के लिए अनुमान का प्रयोग करते हैं लेकिन सन्तानान्तर के आप्तत्व की सिद्धि अनुमान से नहीं हो सकती।

बौद्ध नैयायिकों ने सामान्य रूप से भी शब्द की प्रमाणता के विरुद्ध कुछ मौलिक आपत्तियों को उदभावित किया है। बाह्यार्थ का अविसंवादी शब्द ही प्रमाण की कोटि

में रखा जा सकता है। शब्द और बाह्यार्थ के मध्य अविसंवाद के लिये दोनों का परस्पर संबंधित होना आवश्यक है। 'यस्य यत्र प्रतिबन्धो नास्ति न तस्य तत्र प्रामाण्यम्' एक सर्वमान्य नियम है। वैदिक या लौकिक वाक्यों को बाह्यार्थ से असम्बन्धित होने के कारण प्रमाण नहीं माना जा सकता है। शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध अनुपपन्न है। तादात्म्य सम्बन्ध का मूल एकत्व है। शब्दार्थ सम्बन्ध में दोनों सम्बन्धी अत्यन्त भिन्न रूप में प्रतिभासित होते हैं। शब्द और अर्थ के मध्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध का विधान भी अनुपयुक्त है। तदुत्पत्ति सम्बन्ध के लिए सम्बन्धियों का अन्वय व्यतिरेक आवश्यक है। बाह्यार्थ के अभाव में भी पुरुषापेक्षा और कण्ठ-तालु व्यापार से शब्द उत्पन्न होते हैं। शब्द के अभाव में भी चक्र-चिवरादि से घट की उत्पत्ति देखी जाती है।[१७]

शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य तदुत्पत्ति से भिन्न वाच्य-वाचक सम्बन्ध की संकल्पना भी असंगत है। यदि वाच्य-वाचक रूप में शब्दार्थ सम्बन्ध वास्तविक है, तो शब्द संकेत से अनभिज्ञ व्यक्ति को भी शब्दोच्चारण मात्र से नियत अर्थ की प्रतीति होनी चाहिये।[१८] यथा दीपगत प्रकाशन योग्यता मात्र से घटादि अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं। इससे बचने के लिये यह नहीं कहा जा सकता है कि तत्तद संकेतों के प्राप्त हो जाने पर ही शब्दार्थों का बोध हो पाता है। ऐसी स्थिति में सर्वत्र संकेत की योग्यता तो माननी ही पड़ेगी। तब किस प्रकार यह ज्ञात हों सकेगा कि वक्ता ने किस अभिप्राय से शब्द प्रयोग किया है। वैदिक या लौकिक शब्दों में चक्षु और रूप के मध्य उपकार्य-उपकारक भाव के समान अतीन्द्रिय या आनुभविक पदार्थों के बोध की योग्यता को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। शब्दगत ऐसी योग्यता को स्वत: मानने पर 'स्वात्मनि क्रिया विरोध', परत: मानने पर 'अनवस्था' और अहेतुक मानने पर देशकालादि नियम असंगत हो जाते हैं।[१९] अतन्त: उपर्युक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त किसी तीसरे सम्बन्ध को शब्दार्थ सम्बन्ध का नियामक माना जाय तो सद्य: अनवस्था की उपपत्ति से शब्दार्थ सम्बन्ध उच्छिन्न हो जाता है।

वस्तुत: शब्द वक्ता के अभिप्राय मात्र का ही निवेदन करते हैं। अभिप्राय का शाब्दिक निवेदन बौद्धाभिमत में अपोहात्मक रूप से अर्थाभिधान और तज्जन्यप्रवृत्तियों को सुनिश्चित करता है। इसलिये शब्द वक्ता की बुद्धि में विद्यमान अर्थ या विवक्षा के ही गमक होते हैं।[२०] महर्षि कणाद ने भी शब्द की प्रमाणता लिङ्गविध्या ही अवधारित किया है। भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी 'विवक्षा गति द्वारेण लिङ्गम्' कहकर शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्धाभाव ही बताया है। वक्ता का व्यापार विवक्षा है। विवक्षिता स्वयं वक्ता होता है। विवक्षा के विषयीभूत् घटादि पदार्थ श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होते हैं। श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित घट के प्रति ही घट शब्द का प्रामाण्य माना जाता है। घट शब्द का घट नामक पदार्थ के वास्तविक स्वरूप से कोई तात्त्विक निबन्धन नहीं हो सकता है। घट का वास्तविक स्वरूप तो स्वलक्षण है। घट शब्द से घट सामान्यलक्षण द्योतित होता है। बौद्धाभिमत में शब्दानुविद्ध सभी ज्ञान विकल्पात्मक होने से अनुमान

के अन्तर्गत स्वीकृत किये गये हैं। घट शब्दानुविद्ध घट सामान्यलक्षण का ज्ञान भी अनुमान है। शान्तरक्षित ने शब्द ज्ञान में त्रैरूप्य लिङ्ग का समायोजन करते हुए पुरुष को धर्मी, विवक्षा को साध्य और पूर्वसिद्ध स्वसंतान में सम्बन्ध को अवधारित किया है।[२१] इस प्रकार शब्द कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। अनुमान के अन्तर्गत शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव यथोचित है।

IV

बौद्धेतर प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त उपमान नामक एक स्वतंत्र प्रमाण भी बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि स्वयं बौद्धेतर दार्शनिकों के मध्य ही उपमान के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है तथापि सामान्य रूप से यह सादृश्यमूलक ज्ञान है। नैयायिकों ने उपमान का लक्षण करते हुये ''प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्य साधनमुपमानम्'' कहा है।[२२] इस न्यायसूत्र के अनुसार यदि किसी व्यक्ति ने गौ को अपनी आँखों से देखा है और 'यथा गौस्तथा गवय:' इस वाक्य को भी सुना है तब उस व्यक्ति के जंगल में जाने पर गवय को देखने से 'असौ गवय:' आकार का गोसादृश्य विशिष्ट गवय का ज्ञान होता है। यही प्रसिद्ध सादृश्यमूलक संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध का ज्ञान उपमिति है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अतिदेश वाक्य का स्मरण सहकारी कारण है। गवय का सादृश्य ज्ञान कारण है। यह गवय पदवाच्य 'अर्थ प्रतीति' फल है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार यदि उपमान का स्वरूप ऐसा ही है, तो उसे स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। प्रामाणिक ज्ञान सदैव सविषयक होता है। 'यस्य न विषयत्वं न तस्य प्रामाण्यम्'' एक सर्वमान्य नियम है। नैयायिकों का उपमान प्रमाण निर्विषयक होने से अप्रमाण है। उनके मत में समाख्या सम्बन्ध को उपमान का विषय माना गया है। समाख्या-सम्बन्ध वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है। इसकी असिद्धि के लिये निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यदि समाख्या सम्बन्ध को दृश्य माना जाय तो अनुपलब्ध होने के कारण उसका बाध हो जाता है। उसे अदृश्य मानने पर उसकी सत्ता की सिद्धि के लिये कोई प्रमाण ही नहीं दीख पड़ता है। यहाँ यह भी पूछा जाना चाहिये कि संज्ञा-संज्ञी या समाख्या-सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है अथवा अभिन्न है। भिन्न मानने पर समाख्या सम्बन्ध का सम्बन्धियों से सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में अनवस्था की उपपत्ति होती है। अभिन्न मानने से केवल सम्बन्धी ही रहेंगे, उनसे अतिरिक्त समाख्या नामक कोई सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि यह कहा जाय कि सम्बद्ध ज्ञान का कारण ही समाख्या सम्बन्ध है तो भी यह उचित नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान 'ये दोनों सम्बद्ध हैं' अपने हेतु वशात् सम्बद्ध दो वस्तुओं से भी सम्भव हो सकता है। इसके लिये किसी अन्य सम्बन्ध की संकल्पना अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार उपमान-प्रमाण में प्रतीत होने वाली समाख्या सम्बन्ध विषयता वस्तुत: विषयाभास होने से उपमान प्रमाण को प्रमाणाभास में रूपान्तरित कर देता है।[२३] इसी तरह मीमांसा सम्मत उपमान-प्रमाण भी निर्विषयक होने से अप्रमाण ही है।

शबर स्वामी ने उपमान का लक्षण करते हुये 'उपमानमपि सादृश्य असन्निकृष्टेऽर्थे-बुद्धिमुत्पादयति' कहा है।[२४] नैयायिकों से भिन्न मीमांसकों के अनुसार सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात गौ का वन में स्मरण होता है। तब उसके पश्चात् गवय के देखने पर 'एतत्सदृशी मदीया गौ' का ज्ञान उपमिति है। ध्यातव्य है कि इस प्रक्रिया में 'सादृश्य से विशिष्ट पिण्ड' अथवा 'पिण्ड से विशिष्ट सादृश्य' उपमान प्रमाण का विषय होता है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य नामक विषय की स्थापना युक्तिसंगत नहीं है। यदि अतिरिक्त सादृश्य को दृश्य माना जाय तो मीमांसकों की ऐसी मान्यता दृश्यानुपलब्धि दोष से ग्रसित हो जाती है। अतिरिक्त सादृश्य को अदृश्य मानने पर उससे सम्बद्ध हेतु के अभाव में अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सादृश्य ज्ञान से ही सादृश्य सम्बन्ध की सिद्धि होती है। सादृश्य ज्ञान तो अपने कारणों से उत्पन्न सदृश वस्तुओं के द्वारा भी सम्भव है। स्वयं उपमान प्रमाण को भी सादृश्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त करना उचित नहीं है। यदि अन्य प्रमाण से सिद्ध सादृश्य और पिण्ड में विशेषण-विशेष्य भाव एवं उसमें उपमान की विषयता मीमांसकों को स्वीकार्य हो तो उपमान-पूर्वक सादृश्य की स्वीकृति सुतरां अयुक्त है। इस प्रकार सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य नामक वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध के असिद्ध हो जाने से मीमांसकों का उपमान भी निर्विषयक हो जाता है।[२५] वस्तुत: उपमान की निर्विषयकता ही उसे प्रमाण कोटि से बहिष्कृत कर देता है।

V

कतिपय बौद्धेतर दार्शनिकों ने प्रमाणों के परस्पर भेद को प्रकारातामूलक मानकर अपने प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में अर्थापत्ति को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है। मीमांसक और वेदान्ती इसके प्रबल समर्थक हैं। उभय मत में उक्त प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। शबर स्वामी ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा कि दृष्ट एवं श्रुत अर्थ जिसके बिना उपपन्न न हो, उसकी कल्पना ही अर्थापत्ति है।[२६] कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रत्यक्षादि छ: प्रमाणों से व्यवस्थानुसार प्रमित होकर जो अर्थ अपनी अनुपपत्तिं से दूसरे अर्थ की कल्पना करे, वही अर्थापत्ति है।[२७] इस वार्त्तिक के अनुसार प्रमाण षट्कपूर्विका अर्थापत्ति के छ: प्रकार बताये गये हैं। वस्तुत: प्रत्यक्षादि प्रमाण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है और वह प्रतीत अर्थ जिसके बिना सिद्ध नहीं हो पाता है, तब उस अर्थ की कल्पना के लिये अर्थापत्ति नामक प्रमाण को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के दो स्पष्ट पक्ष हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमिति इसका ज्ञात पक्ष है। इस ज्ञातपक्ष की सिद्धि जिसके बिना नहीं हो सकती, वह अर्थापत्ति का अज्ञात पक्ष है। यहाँ विचारणीय है कि अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के ज्ञात और अज्ञात पक्ष में कैसा सम्बन्ध होता है ? यदि दोनों के मध्य तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध माना जाय तो अर्थापत्ति पूर्वक होने वाली प्रतीति स्वभाव या कार्य

हेतु से जन्य होने के कारण अनुमान हो जायेगी। यदि ज्ञात और अज्ञात पक्ष में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो तो अर्थापत्तिपूर्वक अज्ञात अर्थ की प्रमिति ही नहीं हो सकती है। एतावता अर्थापत्ति को अनुमान से पृथक् एवं स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करना युक्ति संगत नहीं है।[२८]

ऐसे ही प्रमाण विषयक अनावश्यक अतिरेकता प्रसक्ति को ध्यान में रखे बिना प्रमाणों का विस्तार करते हुये मीमांसक और वेदान्तियों ने अनुपलब्धि को भी एक स्वतंत्र प्रमाण से अभिहित किया है। शबर स्वामी ने इसकी परिभाषा करते हुये ''अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति' इत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य'' कहा है।[२९] इस लक्षण में प्रमाणाभाव शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाण पञ्चक का अभाव अभिप्रेत है। प्रत्यक्षादि प्रमाण पञ्चक घटादि वस्तुओं की सत्त्वविषयक प्रतीति के अन्य कारणों के न रहने पर भी उनकी प्रतीति के उत्पादन में सफल नहीं होते हैं। अत: उन वस्तुओं की असत्ता को ज्ञापित करने के लिये अनुपलब्धि नामक प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुपपत्ति रूप अनुपलब्धि का तो कोई स्वरूप ही प्राप्त नहीं होता, तब वह प्रमाण कैसे हो सकता है ? यहाँ विचारणीय है कि यह अनुपपत्ति क्या है ? क्या यह प्रसज्य अथवा पर्युदास वृत्ति से प्रमाणों की अनुपपत्ति मात्र है ? यदि यह कुछ अन्य है तो उसे जड़ अथवा ज्ञान रूप में से क्या कहा जा सकता है ? उसे ज्ञान रूप ही माना जाय तो वह ज्ञान मात्र है अथवा किसी विषय से सम्बन्धित ज्ञान विशेष है ? उपर्युक्त विकल्पों के संदर्भ में अनुपलब्धि को प्रसज्य रूप मानना उचित नहीं है। प्रसज्य रूप अनुपलब्धि सर्वशक्तिशून्य होने के कारण परिच्छेदक अथवा ज्ञान का जनक कैसे ही सकता है ? ऐसी स्थिति में किसी प्रकार से उसका ज्ञान होना सम्भव नहीं होगा। वस्तुत: अनुपलब्धि न तो किसी की प्रतिपत्ति है और न ही किसी प्रतिपत्ति का हेतु है। तब अनुपलब्धि की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है ? इसे जड़ रूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जड़ कभी परिच्छेदक नहीं होता है। अनुपलब्धि ज्ञान मात्र भी नहीं है। ऐसा मानने पर देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट वस्तुओं का भी ज्ञानमात्र से अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा अभाव मानना पड़ेगा। यदि एक ज्ञान से सम्बन्धित भूतलादि को ही अनुपलब्धि कहा जाय तो यह विशेष आपत्तिजनक नहीं है। इस रूप में अनुपलब्धि प्रत्यक्ष विशेष का ही दूसरा नाम है।[३१] वस्तुत: अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करना प्रमाण संख्या का अतार्तिक विस्तार मात्र है।

VI

इस प्रकार बौद्ध नैयायिक सम्भव सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और अनुमान में सफलतापूर्वक दिखाते हैं। ध्यातव्य है कि प्रमाणों की संख्या या प्रकार का निर्धारण विषय-भेद अथवा प्रकारतामूलक ज्ञान भेद के आधार पर ही सम्भव है। उभय दृष्टि से अर्थ और ज्ञान को सामान्यतया प्रत्यक्ष और परोक्ष कोटि में विभाजित करने पर

किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। प्रत्यक्ष और परोक्ष परस्पर व्यावर्त्तक कोटि होने से दोनों मिलकर तर्कत: किसी तीसरी कोटि को प्रस्तावित नहीं करते हैं। इसमें प्रत्यक्ष साक्षात् प्रतिपत्ति के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है। साक्षात् प्रतिपत्ति ''इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्'' से लेकर 'ज्ञानं तु स्वरूपस्य स्वतो गति:' पर्यन्त कुछ भी हो सकता है। परोक्ष प्रतिपत्ति किसी अनिवार्य सम्बन्ध पर आश्रित प्रतिपत्ति है। अनिवार्य सम्बन्ध 'आगमनात्मक सामान्यीकरण' से लेकर 'स्वभाव प्रतिबन्ध' पर्यन्त अपनी सुविधानुसार कुछ भी स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्यक्षेतर जितने भी प्रमाण यत्किचिंत प्रसिद्ध हैं, उनकी संरचना किसी-न-किसी सम्बन्ध से प्रतिबन्धित है। सम्बन्ध से प्रतिबन्धित होने के कारण उन सबको परोक्ष प्रतिपत्ति अर्थात् अनुमान कोटि में अन्तर्भावित किया जा सकता है। एतावता प्रत्यक्ष और अनुमान में सम्भव सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रमाणमीमांसा के अतार्किक विस्तार को निरस्त करते हुये एक सुदृढ़ प्रमाणमीमांसीय ढाँचे को प्रस्तावित करता है। इस समीक्षा से यह भी निगमित होता है कि वास्तव में जबयह कहा जाता है कि 'प्रमा' का करण ही 'प्रमाण' है तो कहा यह जाना चाहिएकि प्रत्येक प्रमाण अपनी निजतामें इस रूप से 'प्रमा' का करण है जिसका अन्तर्भाव किसी दूसरे प्रमाण में नहीं किया जा सकता। अतएव प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण पर विचार वस्तुत: प्रमाणों के अनन्तर्भाव्य स्वरूप की खोज है। इसमें कोई दो राय नहीं कि बौद्ध नैयायिकों का प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण एक तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसीय निष्पत्ति है। यह भी सही है कि किसी भी प्रकार की प्रमाणमीमांसा एक विशेष तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से न्यूनाधिकरूप में अधिशासित होती ही है। इसके बावजूद बौद्ध नैयायिकों द्वारा उठाये गये प्रश्न किसी भी प्रमाणमीमांसीय संरचना के लिये समान रूप से विचारणीय हैं।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. *प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार भाष्य-२/२३- उपलम्भेन यल्लक्ष्यम्पारमार्थिकमेव तत्। सत्तोपलम्भ एवेति भावानाम्पारमार्थिकी॥ और- प्रमाणान्तर्भाव-दि एशियाटिक सो. पृ.१- उपलभ्यता न यस्यास्ति सत्तायोगो गति: कथम्। उपलम्भभावो यस्यास्ति सत्तायोगो वृथा पर:।*

२. *रत्नकीर्ति निबन्धावली-के.पी. जायसवाल इन्स्टीट्यूट,पटना-पृ.९३ अनिष्टञ्चेत् प्रमाणं हि सर्वेष्टिनां निबन्धनम्। भावाभाव व्यवस्था क: कर्तुमन्तेन बिना प्रभु:॥*

३. *तत्त्वोपप्लवसिंह-बौद्धभारती-वाराणसी-तदुच्येत-सल्लक्षण निबन्धनं मानव्यवस्थानाम्, माननिबन्धना च मेयास्थिति:, तदभावे तयो सद्व्यवहार विषयत्वं कथम्.......इत्यादि।*

४. *प्रमाणवार्त्तिक-२-६७-अभावेविर्निवृत्तिश्चेत् प्रत्यक्षस्यैव निश्चय:। विरूद्धं सैव वा लिङ्गमन्वय-व्यतिरेकिणी॥*

५. *वही, २-६८-सिद्धं च परचैतन्यप्रतिपत्ते: प्रमाद्वयम्। व्यवहारादौ प्रवृत्तेश्च सिद्धस्तद्भावनिश्चय:॥*

६. *रत्नकीर्ति निबन्धावली-पृ.८७।*

७. *वही, पृ.९७-किमर्थदर्शनम्। अर्थस्य धर्मोद्रृश्यत्वम्। ज्ञानस्य धर्मो द्रष्ट्रत्वम्। प्रथम पक्षे*

नीलत्ववद् दृश्यत्वस्यापि साधारणत्वादेकगोचरोऽर्थ: सर्वगोचर स्यात्। द्वितीय पक्षे तु कथमन्यस्मिन्न ज्ञान स्वभावं द्रष्ट्रत्वे सत्यन्यस्यासम्बद्धस्यार्थस्य प्रत्याशा स्यात् ।

८. वही, पृ.९७-ननु ज्ञानार्थयोरुपत्तिसारुप्यबलतो द्रष्टृदृश्यत्वव्यवस्थापनमेतत् ।

९. शाबर भाष्य-१-१-५ ।

१०. श्लोकवार्त्तिक-शव्द परि.-प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसायेनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥

११. शास्त्र दीपिका, पृ.६८-विज्ञाताच्छव्दात् पदार्थाभिधान द्वारेण यद्वाक्यार्थ विज्ञानम् तच्छाब्दं नाम प्रमाणम् ।

१२. वात्स्यायन भाष्य, २-१-५३-आप्तोदेशसामर्थ्याच्छाव्दार्थ सम्प्रत्यय: ।

१३. तत्त्वसंग्रह पञ्जिका १४९९ - अकृतकस्य हि वाक्यस्य सम्भवो नास्त्येव, व्यापिन: क्षणभङ्गस्य साधित्वात्।

१४. वही, १५००-शक्ताशक्त स्वभावस्य सर्वदा ह्यनुवर्तनात् । तदा तद्भाविविज्ञानं भवेन्नो वा कदाचन ।

१५. वही, १५०२-तदाश्रयनराभावे न तयोरपि सम्भव: । आतर्थक्यमत प्राप्तं वचस्यपुरुषाश्रये ।

१६. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ.१०२- तदेवमाप्तत्वस्य दुर्बोधत्वेन तत्प्रणीतत्त्वानिश्चयादेक-प्रहारनिहतमाप्त वचस: प्रामाण्यम् ।

१७. तत्त्वसंग्रह, १५१२-१३- वचसां प्रतिबन्धो वा को बाह्येप्वस्ति वस्तुषु । प्रतिपादयतां तानि येनैकं स्यात् प्रमाणता । भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो नैकात्म्यं न तदुद्भव: । व्यभिचारान्न चान्यस्य युज्यतेऽव्यभिचारिता ।

१८. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. १००-वाच्यवाचक सम्बन्धा: सन्ति यद्यपि वास्तवा: । संकेतैरनभिव्यक्ता न तेऽर्थव्यक्ति हेतव: ॥

१९. वही, पृ.१००-यदि स्वतोभवति तदसङ्गतम् स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अथाहेतुत: तदयुक्तम् अहेतोर्देशादिनियमायोगात् ।

२०. वैशेषिक सूत्र, ९-२-४-हेतुपेदेशो लिङ्ग प्रमाणं करणमित्यर्थान्तरम् ।

२१. तत्त्वसंग्रह, १५२०-विवक्षायां च गम्यायां विस्पष्टैव त्रिरूपता । पुंसिधर्मिणी सा साध्या कार्येण वचसा यत: ॥

२२. न्याय सूत्र,१-१-६

२३. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ.१०३-नैयायिकपरिकल्पितोपमान निराकरणार्थ-मण्यमेव प्रयोगो द्रष्टव्य:.....न सामाख्यासम्बन्धो नाम य: कश्चिदुपमानस्य विषय: स्यात् ।

२४. शाबर भाष्य, पृ.३७ ।

२५. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. १०२-ततश्च सादृश्यासिद्धेर्नतद्विशिष्ट: पिण्ड: पिण्ड विशिष्ट वा सादृश्यमुपमानस्य विषय: । तदेवमुपमानस्य निर्विषयत्वं सिद्धमिति नासिद्धो हेतु: ।

२६. अर्थापत्तिरपि दृष्ट:श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना ।

२७. श्लोकवार्त्तिक, अर्था. परि. १- प्रमाणषटक विज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरूदाहृता ॥

२८. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ.१०४-तस्मान्नार्थापत्ति: प्रमाणान्तरमिति ।

२९. शाबर भाष्य,आनन्दाश्रम, पृ.३९ ।

३०. श्लोकवार्त्तिक-अथाऽभावप्रामाण्यवाद: १-प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥

३१. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. १०५- न ह्यभाव: कस्यचित् प्रतिपत्ति: प्रतिपत्ति हेतुर्वा.......प्रत्यक्ष विशेषस्यैवाभावनामकरणात् ।

अध्याय : सात



प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्ववाद

भारतीय दर्शन में इन्द्रियों की संज्ञानात्मक प्रस्थिति एवं भूमिका पर बहुत गम्भीरता से विचार-विमर्श हुआ है। आरम्भ में इस विचार को 'साधना' की दृष्टि से अग्रसारित किया गया था लेकिन बाद में मुख्य रूप से यह विचार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के उपपादन में ज्ञानेन्द्रियों की कार्यप्रणाली को लेकर किया गया है। इन्द्रियों की संख्या और उनके विषयों में न्यूनाधिक मतैक्य होते हुए भी एक प्रश्न जो सर्वाधिक विवादास्पद रहा है वह यह कि इन्द्रियाँ प्राप्यप्रकाशकारी[1] होती हैं अथवा अप्राप्यप्रकाशकारी ? प्राप्यप्रकाशकारित्व का साधारण तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सम्बद्ध होकर उन-उन विषयों के ज्ञान की उपपादिका होती हैं। इसके विपरीत अप्राप्यप्रकाशकारित्व का तात्पर्य यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों से सम्बद्ध हुए बिना ही उनके ज्ञान का उपपादन करने में समर्थ होती हैं। वैसे दार्शनिक सम्प्रदाय जो प्राप्यकारित्व का समर्थन करते हैं, उन्हें इन्द्रिय और अर्थ के मध्य विभिन्न प्रकार के सन्निकर्षों[2] की संकल्पना करनी पड़ती है। परन्तु कुछ ऐसे भी दार्शनिक सम्प्रदाय हैं जो इन्द्रिय एवं अर्थ के मध्य किसी प्रकार का सन्निकर्ष (भौतिक और बाह्य अर्थ में) नहीं मानते और इस तरह प्रत्यक्षोपपादन में इन्द्रियों के अप्राप्यकारित्व का समर्थन करते हैं।

I

इस अवधारणा के इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि भारतीय

दार्शनिक चिन्तन में इन्द्रियों की कार्यप्रणाली को समझने की चेष्टा प्रारम्भ से ही की गई है। उपनिषदों में इन्द्रियों को 'पराञ्चिरवानि'[3] कहा गया है। इसीतरह कई औपनिषद् उपाख्यानों में इन्द्रियों के बलाबल का निर्धारण मन और आत्मा के सन्दर्भ में किया गया है। संज्ञानात्मक भूमिका में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का विचार सर्वप्रथम व्यक्त रूप से न्यायसूत्र[4] में प्राप्त होता है जबकि कुमारिल[5] प्राप्यकारित्व के प्रबल पक्षधर होने का श्रेय सांख्यवादियों को देते हैं। गौतम के न्यायसूत्र का काल यदि पहली शताब्दी के आसपास मानें तो उसी समय के लगभग जैन दर्शन के प्रज्ञापना[6] सूत्र में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता की चर्चा स्पष्ट रूप से मिलती है। वैसे ही बौद्ध दर्शन की पाली परम्परा में परमत्थदिपनी[7], अठ्ठसालिनी[8], विभाषा[9], इत्यादि ग्रन्थों में भी इन्द्रियों के सम्प्राप्तग्राहित्व एवं असम्प्राप्तग्राहित्व की चर्चा बहुत गहराई से की गई है।

इसके बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनों के बीच इस समस्या पर पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के रूप में संसदीय वाद-विवाद दिङ्नागोत्तर काल में प्रारम्भ हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समस्या को भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के एक महत्त्वपूर्ण 'प्रकरण' के रूप में स्थापित करने में दिङ्नाग की उपष्टम्भक भूमिका रही है। दिङ्नाग द्वारा इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का प्रबल विरोध और कुछ इन्द्रियों को अकाट्य तर्कों से अप्राप्यकारी सिद्ध किये जाने के चलते "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं" प्रत्यक्ष की उपजीव्यता ही संकटापन्न हो गई थी। अवान्तर रूप से इसका दुष्प्रभाव आस्तिक दर्शनों के कुछ अन्य आधारभूत ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों, जैसे ज्ञानोत्पत्ति विषयक कारक सिद्धान्त, उसमें घटित होने वाली वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध की अवधारणा और प्रमाण- प्रमाणफल में भेद तथा बाह्यार्थ की बाह्यत्वेन प्रतिष्ठा इत्यादि संकल्पनाओं पर पड़ना स्वाभाविक ही था। अतएव दिङ्नागोत्तर काल में इस समस्या के प्रति प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदायों में एक विशेष जागरूकता दिखाई पड़ती है। परिणामस्वरूप एक ओर जहाँ न्याय-वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य एवं वेदान्ती इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व को नियमत: सिद्ध करने में एकजुट हो गये, वहीं वैयाकरण एवं बौद्ध दार्शनिकों ने अप्राप्यकारित्व का मार्ग अपना लिया। जैन दार्शनिक अपने स्वभाव के अनुरूप बीच का रास्ता अपनाते हैं और कुछेक इन्द्रियों को अप्राप्यकारी और अधिकांश को प्राप्यकारी मानते हैं। अंतिम विश्लेषण में न्याय सभी इन्द्रियों को नियम से प्राप्यकारी सिद्ध करता है। मीमांसक, वेदान्ती एवं सांख्य इत्यादि दर्शन किंचित् साम्प्रदायिक भेद के साथ न्याय दर्शन की उपस्थापना को ही सम्पुष्ट करते हैं। इसके विपरीत व्याकरण दर्शन में सभी इन्द्रियों को नियम से अप्राप्यकारी बताने का प्रयास किया गया है। बौद्ध दर्शन चक्षु, श्रोत्र और मन को अप्राप्यकारी मानता है तो जैन दार्शनिक केवल चक्षु को अप्राप्यकारी और शेष इन्द्रियों को प्राप्यकारी सिद्ध करते हैं।

अब इन्द्रियाँ चाहे प्राप्यप्रकाशकारी हों अथवा अप्राप्यप्रकाशकारी, इतना तो निर्विवाद है कि इन्द्रियों के द्वारा उनके तत्तद् विषय वेद्य होते हैं और कोई भी विषय इन्द्रियवेद्य हुए बिना प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं रखा जा सकता। यदि विषयों का प्रत्यक्षकोटिक ज्ञान न हो तो प्रत्यक्ष की उपजीव्यता पूर्वक प्रत्यक्षेतर प्रमाणों का अवतरण और उनके द्वारा ज्ञापित वस्तुओं में ऐन्द्रिय आकारों का रूपायन भी सम्भव नहीं हो सकेगा। अनुमानादि प्रमाणों के प्रति प्रत्यक्ष की उपजीव्यता तो सुतरां स्पष्ट है लेकिन शब्द प्रमाण को भी इससे निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शब्द प्रमाण भी वास्तव में 'परार्थ प्रत्यक्ष' ही होता है। यहाँ तक कि अनुमान को छोड़कर अन्य सभी प्रमाण परार्थ होकर शब्द प्रमाण में ही रूपान्तरित हो जाते हैं, केवल अनुमान ही परार्थ होकर भी परार्थानुमान ही बना रहता है। यह परार्थानुमान की एक अवान्तर विशिष्टता है। अत: यह प्रश्न आधारभूत रूप में उपस्थित होता है कि यदि प्रत्यक्ष प्रमाण मौलिक है और उसकी मौलिकता इन्द्रियवेद्य होने में निहित है तो इन्द्रियवेद्यत्व का निहितार्थ क्या है ? भारतीय दर्शन में पदार्थों के इन्द्रियवेद्यत्व को विभिन्न तरीके से निरूपित किया गया है और इस सन्दर्भ में इस बात को देखा जाना रोचक हो सकता है कि प्रत्यक्ष विषयक व्याख्या के वैकल्पिक दृष्टिकोण किस प्रकार आविर्भूत होते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि इन्द्रियवेद्यत्व के लिए विषय और इन्द्रिय के बीच दो द्रव्यों की तरह संयोग रूपा प्रत्यासत्ति स्वीकार की जाय अथवा वर्णाकृति और दर्पणादि उपाधि की तरह बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूपा प्रत्यासत्ति मान्य की जाय। पुन: सादृश्य दर्शनोद्बुद्ध संस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक-उद्दीप्य भाव मानी जाय अथवा गन्ध स्पर्शादि और त्वचानासिकादि इन्द्रिय की तरह ग्राह्य-ग्राहक भाव प्रत्यासत्ति को स्वीकार किया जाय या फिर घट तथा प्रदीपादि की तरह प्रकाश्य-प्रकाशक भावरूपा प्रत्यासत्ति को मान्य किया जाय। वस्तुत: इन्द्रियवेद्यत्व के उपर्युक्त सभी विकल्प किसी न किसी रूप में अनुप्रयुक्त होते ही हैं, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों के स्वरूप में और साथ ही साथ उनकी योग्यता में इतना भेद है कि इन्द्रियवेद्यत्व के किसी एक प्रारूप का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। द्रष्टव्य है कि इन्द्रियों के स्वरूप एवं योग्यता के इसी भेद की पृष्ठभूमि में प्रत्यक्ष के कारणात्मक पक्ष एवं उसके प्रामाण्य से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों यथा- इन्द्रिय कारणता, सन्निकर्ष कारणता, सामग्री कारणता, ज्ञातृव्यापार कारणता, इन्द्रियवृत्ति कारणता, अन्त:करण वृत्ति कारणता एवं सारूप्य कारणता इत्यादि का निर्धारण किया जाता है।

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में इन्द्रियों के प्राप्यप्रकाशकारित्व एवं अप्राप्यप्रकाशकारित्व का विचार इन्द्रियवेद्यत्व के उपर्युक्त रेखांकित सभी विकल्पों को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है बल्कि अधिकांश में इस समस्या पर

'संयोगरूपाप्रत्यासत्ति' को ही सन्दर्भ बनाकर विचार किया जाता है। अतएव प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता की समस्या मूलभूत रूप से, प्रकृत प्रसंग में, सन्निकर्ष की अवधारणा से सम्बन्धित प्रतीत होती है। इसे इन्द्रियार्थ सन्निकर्षवाद के दो परस्पर विरोधी पक्षों के रूप में समझा जा सकता है। इन्द्रियप्राप्यकारित्व की अवधारणा जहाँ सन्निकर्षवाद का समर्थन करती है वहीं इन्द्रिय- अप्राप्यकारित्व का अभ्युपगम सन्निकर्षवाद का बिल्कुल विरोधी पक्ष है। परन्तु यह कोई जरूरी नहीं है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष न मानने पर इन्द्रियवेद्यत्व के विचार का पर्यवसान आत्यन्तिक रूप से इन्द्रियों की अप्राप्यप्रकाशकारिता में ही हो। यह संभव है कि इन्द्रिय और अर्थ के मध्य घटित सन्निकर्ष को नहीं मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय भी तत्तद् इन्द्रियों की योग्यता विषयक भेद को ध्यान में रखते हुए विषयीभावापन्न इन्द्रियों की सम्प्राप्तग्राहिता (प्राप्यकारिता) एवं असम्प्राप्तग्राहिता (अप्राप्यकारिता) का विचार करें।

II

अवधेय है कि इन्द्रियों के सन्निकर्षासन्निकर्ष मूलक सम्प्राप्तग्राहित्व एवं असम्प्राप्तग्राहित्व प्रकृति के निर्धारण में इस बात का भी निर्णायक प्रभाव पड़ता है कि भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में इन्द्रियों के स्वरूप को किस रूप में अवधारित किया गया है। चूँकि इन्द्रियाँ ज्ञानोत्पत्ति में सहयोगी होती हैं, अत: सहयोग की प्रकृति का सहयोगी के स्वरूप से निर्धारित होना स्वाभाविक ही है। द्रष्टव्य है कि सम्प्राप्तग्राहिता एवं असम्प्राप्तग्राहिता को सिद्ध करने के लिए युक्तियों एवं दृष्टान्तों का विन्यास तत्तद् दर्शनों के द्वारा मान्य इन्द्रियों के स्वरूप को ध्यान में रखकर ही किया गया प्रतीत होता है। सांख्यमत के अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार तत्त्व से मानी गई है।[10] अतएव इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं। चूँकि अहंकार तत्त्व विभु और व्यापक है, इसलिए इन्द्रियों द्वारा महत् और अणु दोनों का ग्रहण हो पाता है। साथ ही साथ काँच, अभ्र इत्यादि चक्षुरिन्द्रिय के लिए व्यवधान नहीं बन पाते। इन्द्रियों को भौतिक मानने पर ऐसे तथ्यों की व्याख्या और उनकी प्राप्यकारिता दुष्कर हो जायेगी। न्यायमत में इन्द्रियों के स्वरूप को भौतिक रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि उनकी उत्पत्ति पंचभूतों से होती है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि शरीरस्थ इन्द्रिय गोलकों को ही इन्द्रियों का स्वरूप मान लिया जाये। न्याय दर्शन अपने अन्तिम विश्लेषण में गोलक स्थित भूत विशेष को शक्तिमत् रूप से इन्द्रिय स्वीकार करता है। उदाहरण के लिए शरीर स्थित काली पुतली ही आँख नहीं अपितु उसको आश्रय करके विद्यमान तैजश रश्मि रूप शक्ति विशेष ही चक्षु है। ऐसे ही सभी इन्द्रियों को समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त न्यायाभिमत में इन्द्रियों को ''शरीर संयुक्त ज्ञानकरणमतीन्द्रियं, इन्द्रियम्'' स्वीकार किया गया है।[11] बौद्ध दर्शन भी इन्द्रियों के स्वरूप को (विज्ञानवाद को छोड़कर)

भौतिक ही मानता है। उसके अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति रूप-धर्म के जिस अंश से होती है, वह रूप-प्रसाद कहलाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और मणिप्रभा के समान प्रदीप्त होता है। इसलिए इन्द्रियाँ परभासक और स्वसामर्थ्य के अनुरूप विशेषता के कारण अपने-अपने रूप-रसादि विषयों का प्रतिभास ग्रहण करती हैं।

इन्द्रियों के स्वरूप विषयक मतवैभिन्न्य के साथ ही ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में इन्द्रियों के विकारित्व और अविकारित्व का प्रश्न भी प्रकृत प्रसंग में विचारणीय हो जाता है। इस सन्दर्भ में जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है वह यह कि इन्द्रियाँ ज्ञानोत्पत्ति में करण की भूमिका का निर्वाह करते हुए स्वयं को ज्ञान में निविष्ट करती हैं अथवा नहीं? दूसरे शब्दों में जहाँ 'शब्द' ज्ञान का कारण होता है वहाँ शब्द ज्ञान को उत्पन्न करते हुए स्वयं को ज्ञान में निविष्ट भी करता है। परन्तु इन्द्रियों के साथ भी क्या ऐसा ही है ? यह प्रश्न प्रमाणमीमांसीय विचार-सरणी की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है लेकिन इसके निहितार्थों को पूरे तौर से परखा नहीं जा सका है। भर्तृहरि के टीकाकार हेलाराज[12] की टिप्पणी इस सम्बन्ध में बहुत ध्यानाकर्षी है कि ज्ञान के कारणों में कुछ का स्वभाव ही ऐसा है कि वे ज्ञान को उत्पन्न करते हुए स्वयं को ज्ञान में निविष्ट नहीं करते। ऐसा स्वभाव ज्ञान की कारण-सामग्री में 'इन्द्रियों' का होता है। धर्मकीर्ति ने भी इस बात का समर्थन किया है कि वस्तुओं में ज्ञान की कारणता और विषयता दोनों होती है लेकिन ज्ञान की कारण सामग्री में इन्द्रियों की विशिष्टता यह है कि उसमें कारणत्व तो होता है लेकिन विषयता नहीं होती। वास्तव में इन्द्रियों के इसी स्वभाव में उनके विषयीभावापन्न तटस्थ भूमिका और प्रस्थिति का सही दिग्दर्शन किया जा सकता है और यह उनका विलक्षण स्वभाव है जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद के विरोधी पक्ष को मौलिक रूप से उपस्थापित करता हुआ प्रतीत होता है।

इस प्रकार भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्राप्यकारित्वाप्राप्य-कारित्ववाद सम्बन्धी विचार के दो परस्पर विरोधी पक्ष आधारभूत रूप में सामने आते हैं। इसमें पहले को इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद का पक्ष और दूसरे को इन्द्रिय स्वरूपयोग्यता मूलक प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व के पक्ष से अभिहित किया जा सकता है। यहाँ हम दोनों पक्षों पर विचार न करते हुए केवल बौद्ध दृष्टि से दूसरे पक्ष को सम्यक्तया उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे।

III

बौद्ध दर्शन में इन्द्रियों की कार्यप्रणाली और उनके स्वरूप पर सूक्ष्म एवं व्यवस्थित तरीके से विचार यद्यपि प्रथमतया अभिधार्मिक परम्परा में किया गया है तथापि उनके एतद्विषयक विचार का सम्प्लव बौद्ध दर्शन के अन्य सम्प्रदायों तक भी यत्किंचित्-भेद के साथ देखा जा सकता है। अभिधार्मिकों का मूलभूत उद्देश्य इस

संसार में चेतना की लोकप्रवृत्ति को समझकर चेतना की लोकनिवृत्ति के सूत्रों को खोजना था। इसीलिए अभिधर्म की व्याख्या 'प्रज्ञाऽमलासानुचराभिधर्मः' के रूप में की गई है। चित्त की लोक प्रवृत्ति अर्थात् विषयोन्मुखता को संवेद की प्रक्रिया के माध्यम से ही समझा जा सकता है। संवेद की प्रक्रिया और उसके विभिन्न पहलुओं की जाँच-पड़ताल किये बिना हम चित्त के लोकप्रवर्तन को पुंखानुपुंख समझ ही नहीं सकते हैं। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभिधार्मिक बौद्ध 'धर्म-प्रविचय' (धर्मों को अलग-अलग चुनना) की विभज्यवादी योजना के साथ प्रस्तुत होते हैं। बसुबन्धु ने प्रविचित धर्मों को "अवबोधोपयोगिनः पदार्थाः" कहा है। 'अवबोधोपयोगिनः' पदार्थों में इन्द्रियों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन्द्रियाँ ही वे आयतन अर्थात् द्वार हैं जिनके माध्यम से चित्त की लोक में प्रवृत्ति होती है। बुद्ध का वचन है- "चक्षुर्ब्राह्मण द्वारं यावदेव रूपाणां दर्शनाय।" इसीलिए इन्द्रियों को परम, ईश्वर, अधिपति, अध्यक्ष इत्यादि संज्ञा से अभिहित किया गया है।[१३] अभिधर्म सूत्रों में इन्द्रियों के २२ प्रकार परिगणित किये गये हैं लेकिन उनमें ज्ञानेन्द्रियों की अधिक प्रधानता है। एतदर्थ इन्हें षड़ायतन कहा गया है। ये छहों इन्द्रियाँ छः प्रकार के विज्ञानों को उत्पन्न करने वाली और उनके आश्रयभूत हैं तथा अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप विषयों एवं विषय परिमाण का ग्रहण करती हैं। इसमें घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय सम्प्राप्त और तुल्य परिमाण वाले विषय को ग्रहण करते हैं। चक्षु, श्रोत्र और मन (बुद्धेन्द्रिय) के लिए सम और विषम परिणाम का कोई नियम नहीं, लेकिन तीनों असम्प्राप्तग्राही होते हैं।[१४]

असम्प्राप्तग्राही और सम्प्राप्तग्राही का साधारण अर्थ दूरी से ग्रहण और आसन्न के ग्रहण से लिया जाता है लेकिन बौद्ध परम्परा में इन दोनों पदों का पारिभाषिक अर्थ कुछ गम्भीर है।[१५] चक्षु एवं श्रोत्र को जब सम्प्राप्तग्राही कहा जाता है तो इसका तात्पर्य यह है कि दोनों अप्राप्त अर्थात् अघट्टित आलम्बन का ग्रहण करते हैं। उदाहरण के लिए चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में चार कारणों का सन्निपात अथवा स्पर्श अपेक्षित होता है। यथा- चक्षु प्रसाद, रूपालम्बन, आलोक एवं मनसिकार। यदि चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में रूपालम्बन चक्षुःप्रसाद में घट्टित होकर रहेगा तो दोनों के मध्य 'आलोक' की स्थिति नहीं होगी और रूपालम्बन का ग्रहण नहीं हो सकेगा। अतः चक्षुर्विज्ञान का आश्रय चक्षुःप्रसाद विषय से घट्टित न होकर अर्थात् अप्राप्तरूपालम्बन का ग्रहण करने में समर्थ होता है। उसी प्रकार श्रोत्र विज्ञान की उत्पत्ति के लिए भी श्रोत्रप्रसाद, शब्दालम्बन, आकाश और मनसिकार नामक चार कारण अपेक्षित होते हैं। यदि शब्दालम्बन श्रोत्र प्रसाद में घट्टित होकर रहेगा तो मध्य में आकाश के लिए अवकाश नहीं होगा। अतः शब्दालम्बन के श्रोत्र प्रसाद में घट्टित न होने पर ही श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा अप्राप्त रूप से शब्दालम्बन का ग्रहण होता है। यहाँ अवधेय है कि उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में रूपदर्शन

के लिए 'आलोक' और शब्द ग्रहण के लिए आकाश को सहकारी कारण माना गया है, जो वास्तव में 'माध्यम' का काम करते हैं। ये दोनों माध्यम अप्रतिघ और उपकारक प्रकृति के होते हैं। इनकी विशिष्टता यह है कि ये इन्द्रियग्राह्य विषयों के सूक्ष्म परमाणुओं का लेश्यतोऽपि भी संवहन नहीं करते हैं। अत: अप्रतिघ और उपकारक प्रकृति के माध्यमों का योग और अयोग ही असम्प्राप्तग्राहित्व का अन्वय-व्यतिरेक हेतु बनता है।

इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय सम्प्राप्तग्राही होते हैं तो उसका तात्पर्य यह है कि ये तीनों अपने-अपने प्रसाद में घट्टित आलम्बन का ही ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। इन तीनों के द्वारा जिस-जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है उसके लिए भी आलम्बन, इन्द्रिय, सहकारी और मनसिकार रूप चतुर्विध हेतुओं की अपेक्षा होती है लेकिन प्रत्येक इन्द्रियों के आश्रय में उत्पन्न होने वाले विज्ञान का सहकारी भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरण के लिए कायविज्ञान की उत्पत्ति में पृथ्वी धातु, जिह्वा विज्ञान की उत्पत्ति में अप्धातु और घ्राण विज्ञान की उत्पत्ति में वायुधातु की सहकारिता होती है। अत: काय, जिह्वा और घ्राणेन्द्रिय के आलम्बन जब उन-उन इन्द्रिय प्रसादों में घट्टित होते हैं तभी तत्तद् सहकारी कारणों का योग होता है। एतदर्थ इन तीनों इन्द्रियों को सम्प्राप्तग्राही कहा गया है। यहाँ भी सहकारी कारण रूप 'माध्यम' का योगायोग ही सम्प्राप्तग्राहित्व का अन्वय-व्यतिरेक हेतु बनता है। इन माध्यमों को सप्रतिघ और अनुग्राहक प्रकृति का कहा जा सकता है। इनकी विशिष्टता यह होती है कि ऐसे माध्यम इन्द्रियग्राह्य पदार्थों के सूक्ष्म परमाणुओं का संवहन करते हैं। अतएव पृथ्वीधातु अपधातु एवं वायुधातु के माध्यम से तत्तद् विषयों का सम्प्राप्तरूप से ग्रहण होता है।

संभवत: इन्द्रियों की कार्यप्रणाली और उनके द्वारा विषय-ग्रहण की प्रक्रिया में सहकारी कारण रूप से ''माध्यम'' का विचार अभिधार्मिक परम्परा में पहली बार किया गया प्रतीत होता है जो कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में इन्द्रियों की कार्यप्रणाली में जो विविधता और विलक्षणता दिखाई पड़ती है, उसे तत्तद् इन्द्रियों की प्रकृति, योग्यता तथा उनके माध्यम और ग्राह्य-विषय के 'आन्तर-सम्बन्ध' के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए अभिधार्मिक परम्परा में आलम्बनों की प्रकृति पर भी गम्भीरता से विचार किया गया है। उदाहरण के लिए कुछ रूपालम्बन अचल होते हैं जैसे गृह, पर्वत इत्यादि। कुछ रूपालम्बन सचल होते हैं, जैसे सूर्य, चन्द्र, तारा एवं मणिप्रभा इत्यादि। उसी प्रकार शब्दालम्बनों एवं घ्राणालम्बन भी सचल होकर यथाशक्ति अपनी महाभूत परम्परा को बाहर फैलाते हैं। यहाँ एक प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि जब कुछ एक रूप-शब्द-घ्राणादि के आलम्बन सचल होते हैं और अपने-अपने माध्यम से अपनी भूत-परम्परा का प्रसार करते हैं तो इनका ग्रहण

तभी होना चाहिए जब तत्तद् इन्द्रिय प्रसाद में उनका संघट्टन हो जाय। ऐसा होने से उनका सम्प्राप्त ग्रहण ही मानना चाहिए, असम्प्राप्त नहीं, जबकि रूप-शब्दादि सचल आलम्बनों को भी एकान्तिक रूप से असम्प्राप्त-ग्राह्य और सचल घ्राणालम्बन को सम्प्राप्त-ग्राह्य माना गया है। इसका उत्तर इस रूप में दिया जाता है कि वस्तुत: सम्प्राप्तग्राहित्व एवं असम्प्राप्तग्राहित्व के निर्धारण में तत्तद् इन्द्रियों की प्रकृति ही साधकतम होती है। यद्यपि रूप-शब्दादि के सचल आलम्बन प्रसारित होते हुए चक्षु:प्रसाद और श्रोत्रप्रसाद तक पहुँचते हैं, लेकिन वे पहुँचने से पहले ही असम्प्राप्त रूप से गृहीत हो जाते हैं। यथा - चन्द्रमा की किरणें और दूर स्थित दीपक का प्रकाश। परन्तु सचल घ्राणालम्बन के साथ वैसा नहीं होता। सुगन्ध इत्यादि का ग्रहण सदैव सम्प्राप्त रूप में ही होता है।[१६]

IV

इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण की प्रक्रिया पर विचार करते हुए घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय की कार्यप्रणाली का निर्धारण अपेक्षाकृत सुवच होता है लेकिन चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय की कार्यप्रणाली के निर्धारण कतिपय सन्दर्भों में बहुत जटिल हो जाते हैं। साधारण विचार-सरणी में ऐसे प्रश्न उठने लगते हैं कि इन्द्रियाँ अपने गोलक से निकलकर विषय प्रदेश में जाती हैं और विषय का संस्कार ग्रहण कर लौटती हैं अथवा विषय ही इन्द्रिय प्रसाद तक आकर इन्द्रियों को प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रश्न प्राय: चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय की कार्यप्रणाली पर उठाये जाते हैं। अतएव पाली परम्परा के कई एक गाथाओं में चक्षु: और श्रोत्रेन्द्रिय की असम्प्राप्तग्राहिता को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न युक्तियों का संग्रह किया गया है। उनमें से चक्षु: की अप्राप्यकारिता विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण युक्तियाँ इस प्रकार हैं -

१. **दूरदेसट्ठं** - सूर्य और चन्द्रमा इस पृथ्वीमण्डल से हजारों योजन दूर होते हैं। तब भी पृथ्वीतल से सूर्य एवं चन्द्रमण्डल के संस्थान दिखाई पड़ते हैं। चन्द्रमण्डल का काला धब्बा स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अन्धेरे कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति भी बाहर सूर्य एवं चन्द्रमा तथा दूर स्थित दीपक इत्यादि के प्रकाश को देख पाता है, जहाँ उनकी रौशनी नहीं पहुँचती है। अत: चक्षु द्वारा दूर स्थित रूपालम्बनों का ग्रहण इस तथ्य को सिद्ध करता है कि चक्षुरिन्द्रिय असम्प्राप्तग्राही है।

२. **फलिकादितिरोहितं** - शीशे की अलमारी में रखे हुए रूपालम्बन उस शीशे से तिरोहित होते हुए भी चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा देखे जाते हैं। ऐसा दर्शन चक्षु:प्रसाद की असम्प्राप्तग्राही शक्ति से ही सम्भव है।

३. **महन्तञ्च नगादीनं** - एक पहाड़ को देखने पर देखने योग्य उन महाभूतों के अनेक रूप कलापों को एक साथ देखा जा सकता है। परन्तु करोड़ों रूपालम्बनों का

चक्षु:प्रसाद में एक साथ घट्टित होना सम्भव नहीं। अत: चक्षु द्वारा अप्राप्त रूपालम्बनों का ग्रहण मानना ही समीचीन है।

४. **अक्खिवण्णं-भुमकस्स च** - यदि यह माना जाय कि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा स्वसमीपस्थ आलम्बनों का ग्रहण होता है तो अक्षिवर्ण और भौंह के मूल को सर्वप्रथम और बराबर दिखना चाहिए।[१८] अत: चक्षु द्वार से गृहीत होने के लिए दूर और समीप होना प्रधान नहीं बल्कि चक्षु: प्रसाद के सम्मुख प्रदेश में स्थित होना आवश्यक है। ऐसा नहीं मानने पर चक्षु में पड़े तिनके को तो कम से कम चक्षु के द्वारा अवश्य देखा जाना चाहिए।

इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता को सिद्ध करने के लिए भी पाली गाथाओं में अनेक युक्तियों का संग्रह किया गया है जो इस प्रकार हैं-

१. **आकासादिगतो** - आकाश स्थित मेघ गर्जन अनेकों योजन दूर होने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सुना जाता है। आकाश में उड़ते पक्षी एवं वायु के शब्द दूर होने पर भी गृहीत होते हैं। मेघ गर्जन के कुछ ही शब्द पृथ्वी तल तक पहुँचते हैं और कुछ पृथ्वी तक़ नहीं आ पाते हैं, किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा दोनों सुने जाते हैं। ऐसा तो असम्प्राप्तग्राही श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ही संभव है।

२. **कुच्छिचम्मानन्तरिको** - पेट में वायु का शब्द कुक्षि-चर्म से अन्तरित होने पर भी श्रोत्र-प्रसाद में सुना जाता है, जबकि इन्द्रियों की ग्राह्यता बहिर्मुखी प्रदेश में होती है। अत: श्रोत्रेन्द्रिय को असम्प्राप्तग्राही शक्ति से युक्त मानना ही सुसंगत है।

३. **महन्तो च घण्टादीनं** - घण्टी एवं तोप आदि शब्द तथा समुद्र की गर्जना में असंख्य शब्दालम्बन समूह उत्पन्न होते हैं। उन सभी शब्दों को एक साथ सुना जाता है परन्तु वे सभी एक साथ चक्षु:प्रसाद में संघट्टित नहीं हो सकते। अतएव उन असंख्य शब्दलम्बन समूहों का असम्प्राप्त ग्रहण ही होता है।

४. **सिया च...सरपातनं** - यदि शब्दवेधी बाण सन्धान करने वाला व्यक्ति श्रोत्र प्रसाद में पहुँचने वाले शब्द का ही ग्रहण कर सकता है, तो कर्ण शष्कुली के भीतर पहुँचे हुए शब्द का ही ग्रहण हो सकेगा और तब ऐसी स्थिति में उसे अपने कानों पर ही बाण सन्धान करना पड़ेगा, क्योंकि शब्दवेधी बाण चलाने वाला व्यक्ति वहीं बाण सन्धान करता है, जहाँ वह शब्द सुनता है। अब यदि शब्द जिस प्रदेश में उत्पन्न होता है, वहीं उसे न सुना जाय तो शब्द वेधी बाण का चलाया जाना ही सम्भव नहीं होगा। अतएव शब्द का असम्प्राप्त रूप से ग्रहण मानना ही समीचीन है।

५. **दिव्यचक्षु: श्रौत्रमिह मनुष्येषु ध्यायिनां नोपजायेत** - कुछ मनुष्यों को साधना के बल से दिव्य दर्शन एवं श्रवण की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह बात वैदिक और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में मान्य है। यदि चक्षु: और श्रोत्रेन्द्रिय स्वभाव से ही सम्प्राप्तग्राही

होंगे तो मनुष्य में दिव्य दर्शन एवं श्रवण की शक्ति अनुपपन्न होगी। एतदर्थ दिव्य दर्शन और श्रवण की शक्ति का आधार यदि इन इन्द्रियों में होता है तो वह असम्प्राप्तग्राही रूप से ही सम्भव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पालि बौद्ध परम्परा में विभिन्न युक्तियों, दृष्टातों एवं अनेक सन्दर्भों में नितान्त लौकिक रीति से चक्षु: एवं श्रोत्रेन्द्रिय को असम्प्राप्तग्राही तथा शेष घ्राणादि इन्द्रियों को सम्प्राप्तग्राही सिद्ध किया गया है। अभिधम्म परम्परा का यह निरूपण कितना वैज्ञानिक है, इस बात को लेकर प्रश्न उठाये जा सकते हैं लेकिन लोक-बुद्धि सहज रूप से उपर्युक्त प्रसंगों में वस्तुस्थिति को इसी रूप में अवधारित करती है। अभिधार्मिक बौद्धों की एतद्विषयक युक्तियों का महत्त्व भी इसी बात में निहित है कि वस्तुस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पूर्वाग्रह रहित अनुप्रयुक्त लोक-बुद्धि के आधार पर इन्द्रियों की लोक-प्रवृत्ति एवं कार्यप्रणाली को समझने का प्रयास किया गया है।

V

द्रष्टव्य है कि परवर्ती काल में, एक लम्बे अन्तराल के बाद, दिङ्नाग ने इन्हीं युक्ति-स्थलों के आकार को किंचित् परिष्कार के साथ सुनिश्चित करते हुए इस समस्या की विचार-सरणी को आगे बढ़ाया है। दिङ्नाग के पूर्व प्राप्यकारित्ववाद का व्यापक समर्थन एक तरह से सर्वतंत्र-स्वतंत्र सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया था और यह समस्या एक सिद्धकथा के रूप में स्वीकार्य हो गई थी। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में इस समस्या पर उस प्रकार के कोई प्रकरण ग्रन्थ भी प्रणीत नहीं हुए जैसा कि प्रमाणशास्त्रीय अन्य प्रकरणों को लेकर छोटे- बड़े ग्रन्थ प्रणीत हुए हैं। अतएव कहा जा सकता है कि दिङ्नाग ने इस समस्या को पुन: जीवन्त रूप प्रदान किया है। यद्यपि दिङ्नाग की युक्तियों में कोई नवीनता नहीं है फिर भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की व्यापक रूप से स्वीकृत अवधारणा का खण्डन करने के उद्देश्य से उनका विनियोग बौद्ध एवं बौद्धेतर दर्शनों के मध्य एतद्विषयक एक ऐतिहासिक वाद-विवाद को जन्म दिया। न्याय, मीमांसा, वेदान्त इत्यादि के दार्शनिकों ने दिङ्नाग को एकबारगी पूर्वपक्ष बनाते हुए अपने-अपने पक्ष से प्राप्यकारित्व का भरपूर समर्थन किया है। इसके चलते सन्निकर्षवाद, प्राप्यकारित्ववाद एवं अप्राप्यकारित्ववाद की विचार-सरणी में कुछ नये आयामों का समावेश हुआ है। दिङ्नाग ने प्राप्यकारित्व विरोधी युक्तियों को इस रूप से पुन: प्रस्तुत किया है।

दिङ्नाग के अनुसार-सान्तरग्रहणात्, पृथुतरग्रहणात्, दिग्देशव्यपदेशात्, एककालग्रहणात्, अधिष्ठानात् बहिर्नाक्षं, पश्येदप्युन्मील्य नीमिलनात् - नामक छ: हेतुओं के चलते चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध नहीं किया जा सकता। इन्हीं हेतुओं को

अवान्तर रूप से श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता के पक्ष में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ दिङ्नाग द्वारा पुन: प्रस्तुत उपर्युक्त हेतुओं के युक्त्याकार और बनावट को समझने के लिए आवश्यक है कि इस बात को ध्यान में रखा जाय कि इनकी प्रयुक्ति वास्तव में प्राप्यकारित्व की कैसी अवधारणा को पूर्वगृहीत करके की गई है। इसे स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि उपर्युक्त षड़विध हेतुओं के युक्त्याकार में यह पूर्वगृहीत है कि इन्द्रियाँ भौतिक होती हैं क्योंकि प्राप्यकारित्व भौतिक पदार्थ का धर्म है। पुन: प्राप्यकारित्व के लिए सन्निकर्ष को भी पूर्वगृहीत किया गया है और यह सन्निकर्ष चक्षु का चाक्षुष विषय देश में समानाधिकरण्य पूर्वक ही हो सकता है। अब यदि प्राप्यकारित्व की पूर्वापेक्षायें ऐसी ही हैं तो दिङ्नाग की युक्तियाँ उसके विरोध में निम्नलिखित रूप से फलित होती हैं।

१. **सान्तरग्रहणात्** - यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो उसके द्वारा अन्तर सहित देशान्तर में वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता, जबकि चक्षु के द्वारा दूर, अतिदूर की वस्तु का ही ग्रहण होता है। दूर, अतिदूर की 'प्राप्ति' तो प्राप्यकारित्व नियम से सम्भव नहीं क्योंकि भूत विशेष ही इन्द्रिय है, अर्थात् कृष्णतारा रूप भूतविशेष ही आलोकादि भूत विशेष से अनुगृहीत होकर चक्षु कहलाता है। अत: चक्षुरिन्द्रिय की अप्राप्यकारिता ही सुवच है।

२. **अधिकग्रहणात्** - यदि चक्षु को प्राप्यकारी माना जाय तो उसके द्वारा पृथुतर प्राप्ति अर्थात् राष्ट्र, वन और पर्वत इत्यादि वस्तुओं का ग्रहण नहीं हो सकता, जबकि चक्षु के द्वारा ऐसे महत्-आकार के परिमाणों का ग्रहण होता ही है। अवधेय है कि प्राप्यकारिता नियम से दो वस्तुओं में रहने वाला संयोग सम्बन्ध संयोगी के एक देश में यानी अल्पभाग से ही होता है, समस्त से नहीं। अत: राष्ट, वन, पर्वत के जितने भाग का चक्षु: गोलक से संयोग होगा, उतने का ही ग्रहण मानना चाहिए, परन्तु होता है अधिक-ग्रहण। इस कारण चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानना ही उचित है।

३. **दिग्देशव्यपदेशात्** - यदि चक्षु को प्राप्यकारी माना जाये तो वह चाक्षुष विषय देश में ही प्राप्यकारी होगा और तब ऐसी स्थिति में चक्षु द्वारा दिक् और देश का व्यपदेश नहीं पायेगा, जबकि चाक्षुष ग्रहण में सुतरां ऐसा व्यपदेश होता है और स्पृश्य-ग्रहण में नहीं होता। अत: चक्षु स्वरूपत: अप्राप्यकारी ही है।

४. **एककालग्रहणात्** - यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो उसे अपने गोलक से निकल कर विषय देश में जाकर विषय को प्राप्त करना होगा। ऐसी स्थिति में निकटस्थ और अतिदूरस्थ वस्तु का ग्रहण क्रमश: होना चाहिए जबकि पेड़ की शाखा और चन्द्रमा का ग्रहण एक काल में ही होता है। अत: चक्षु अप्राप्यकारी है।

५. **बहिर्नाक्षं अधिष्ठानाद्** - चक्षु का चाक्षुष विषय देश में वस्तुप्राप्यकारी होने के लिए आवश्यक है कि वह अपने गोलक से निकल कर विषय देश में समानाधिकरण्य

प्राप्त करें। परन्तु चक्षु का अपने गोलक से बाहर जाना मान्य नहीं किया जा सकता। ऐसा इसलिए कि अधिष्ठान गोलक में स्थित कृष्णतारा ही चक्षु है क्योंकि उसकी चिकित्सा आदि कर्म वहीं किये जाते हैं। पुन: अधिष्ठान से बाहर चक्षु में दर्शन-सामर्थ्य नहीं होता है।

६. **पश्येदप्युन्मील्य निमीलनाद्** - यदि प्राप्यकारिता के नियम के तहत यह मान भी लिया जाये कि चक्षु अपने गोलक से निकलकर बाहर जाती है और बाहर जाती हुई चक्षुरिन्द्रिय में भी दर्शन-सामर्थ्य होती है तो यह भी मानना पड़ेगा कि आँख का पलक बंद कर लेने पर भी वस्तु को देखा जाना सम्भव होना चाहिए। ऐसा नहीं होता, इसलिए चक्षु का दर्शन-सामर्थ्य अप्राप्यकारी रूप से ही मानना समुचित है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो उपर्युक्त हेतुओं एवं तज्जनित युक्तियों के द्वारा दिङ्नाग ने प्राप्यकारित्व की अवधारण का विरोध चारों तरफ से घेर कर किया है। इस घेरेबन्दी की मजबूती तब और दिखाई पड़ती है जब यह देखा जाय कि किस तरह दिङ्नाग की युक्तियाँ अन्वय-व्यतिरेक रूप से न केवल एक दूसरे का समर्थन करती हैं बल्कि एक दूसरे के प्रत्युत्तर की सम्भावना को भी निरस्त करती जाती हैं। उदाहरण के लिए मूल युक्ति 'सान्तरग्रहणात्' है और उसके प्रत्युत्तर की सम्भावना को 'अधिष्ठानात् बहिर्नाक्षं' निरस्त कर देता है।

VI

दिङ्नाग के उपर्युक्त आक्षेपों का बौद्धेतर दार्शनिकों में उद्योतकर भारद्वाज, कुमारिल भट्ट, वाचस्पति मिश्र एवं जयन्त भट्ट ने अपनी-अपनी ओर से समाधान प्रस्तुत करने का भूरि-भूरि प्रयास किया है। इनके समाधान के समवेत प्रयास में जो एक बात स्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ती है वह यह कि किसी ने दिङ्नाग की युक्तियों को अन्यथा नहीं कहा बल्कि उन्हें वस्तुस्थिति का संवादी ही स्वीकार किया है। इसलिए समाधान के सारे उपाय और उपालम्भ वास्तव में उन आक्षेपों का प्राप्यकारित्ववादी स्पष्टीकरण देने के प्रयास ही कहे जा सकते हैं। अब यदि स्पष्टीकरण समुचित हो तो कहा जा सकता है कि दिङ्नाग के आक्षेप प्राप्यकारित्व का निरसन कर एकबारगी अप्राप्यकारित्व का विधान नहीं करते हैं। परन्तु यह बात पूरे तौर से नहीं कही जा सकती है, क्योंकि स्पष्टीकरण के लिए जिन आधारों को अपनाया गया है, वे वस्तुस्थिति के उतने संवादी नहीं हैं। यहाँ उन सभी आधारों की चर्चा तो नहीं की जा सकती लेकिन उनमें से कुछ जो महत्त्वपूर्ण है उनका खुलासा इस प्रकार किया जा सकता है। अवधेय है कि दिङ्नाग के सारे आक्षेपों का प्राप्यकारित्ववादी स्पष्टीकरण केवल एक आधार पर दी जा सकती है, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय, जैसा कि नैयायिक स्वीकार भी करते हैं कि चक्षु-रश्मि चक्षु-गोलक से बाहर निकलकर विषय देश में जाती है। परन्तु

इस तथ्य को मान्य ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह बात न केवल काल्पनिक बल्कि सर्वथा अवैज्ञानिक भी है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के आधुनिक मर्मज्ञ प्रो. विश्वम्भर पाही[22] का सुचिन्तित मत है कि "नयनरश्मि विषयक परम्परागत न्याय-वैशेषिक मत, प्राणिशास्त्र, एवं मनोविज्ञान के इन्द्रिय स्वरूप विषयक तथा चाक्षुष प्रत्यक्ष विषयक एवं भौतिक शास्त्र के प्रकाशविषयक सिद्धान्तों के प्रतिकूल होने से अस्वीकार्य है। वस्तुत: इन्द्रियों की संरचना एवं इन्द्रियानुभव की उत्पत्ति प्रकिया के विषय में यथोपलब्धिन्याय रूपी पद्धतिमूलक आधारभूत मान्यता के अनुसार विज्ञान की सम्बन्धित शाखाओं पर आश्रित रहना आवश्यक है।" ऐसे ही प्राप्यकारित्व पक्ष से अप्राप्यकारित्व के विरोध में एक युक्ति दी जाती है कि यदि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी होवें तो दिवार, प्राचीर से ओझल वस्तु का भी ग्रहण होना चाहिए। अब चूँकि काँच, स्फटिक इत्यादि से ओझल वस्तु भी आँख से दिखाई पड़ती है, इसलिए अपातत: ऐसा प्रतीत होता है कि काँच इत्यादि को वेधकर नयनरश्मि उस पार की वस्तु को देखने में समर्थ होती है लेकिन दिवार चूँकि रश्मि का बाधक होता है, इसलिए दिवार के उस पार की वस्तु चक्षु के ग्रहण योग्य नहीं होती। इस प्रतियुक्ति में प्राप्यकारित्ववादी पूर्वाग्रह यह है कि वे ऐसा समझते हैं कि दिवार चूँकि नयनरश्मि का अवरोधक है, इस कारण उस पार की वस्तु से चक्षु का सन्निकर्ष नहीं हो पाता जबकि वास्तविकता यह है कि एक ओर तो नयनरश्मि जैसी कोई वस्तु नहीं होती और दूसरी ओर दिवार नामक भूत पदार्थ नयन का आवरक न होकर उस पार के किसी भूत पदार्थ का आवरक भी तो हो सकता है। वास्तव में जिस आग्रह के साथ अप्राप्यकारित्व के प्रति ऐसे अनर्गल आक्षेप किये जाते हैं, उससे तो अच्छा यही होता कि सर्वग्रहण का प्रसंग उत्थापित कर दिया जाता - इस तथ्य को ध्यान में रखे बिना कि जैसे अयस्कान्त मणि का एक प्रभाव क्षेत्र होता है वैसे ही इन्द्रिय योग्यता-सामर्थ्य का भी एक सीमांकित ग्रहण -क्षेत्र होता है।

वस्तुत: दिङ्नाग की प्राप्यकारिता विरोधी युक्तियों का मूल स्वर इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष का खण्डन करना प्रतीत होता है, क्योंकि सन्निकर्ष की पूर्वापेक्षा में ही प्राप्यकारित्व नियम बनता है। पुन: सन्निकर्ष के निरस्त होने पर यह भी नहीं समझा जाना चाहिए कि अप्राप्यकारित्व का पक्ष ही केवल शेष बचता है। यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो बौद्धों का एतद्विषयक कोई पक्ष ही नहीं बनता है क्योंकि उनकी दृष्टि में कुछ इन्द्रियाँ सम्प्राप्तग्राही और कुछ असम्प्राप्तग्राही स्वीकार की गई हैं। अतएव बौद्धों का वास्तविक पक्ष सन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद और असन्निकर्ष मूलक अप्राप्यकारित्ववाद के बदले ऐन्द्रिक स्वरूप योग्यता मूलक सम्प्राप्तासम्प्राप्तग्राहित्व का पक्ष प्रतीत होता है। इसलिए बौद्ध दर्शन में सन्निकर्ष के बदले फस्सो अर्थात् "त्रयाणां सन्निपात: स्पर्श:" की अवधारणा मान्य की गई है।[23] शान्तरक्षित[24] ने प्राप्यकारिता के नियम के सभी पक्षों की समीक्षा करते हुए अन्त में इस विषय पर एक

बहुत समीचीन टिप्पणी की है कि सन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्व की अवधारणा एक अतिरिक्त और अनावश्यक प्रतिज्ञा है। यदि इसे मान भी लिया जाये तब भी हमें आवश्यक रूप से प्रत्येक इन्द्रियों में अपने-अपने विषय के ग्रहण की स्वरूप-योग्यता को स्वीकार ही करना पड़ेगा। अब इन्द्रियों की यह स्वरूप-योग्यता ही वस्तु के इन्द्रियवेद्य प्रत्यक्षात्मक ग्रहण की व्याख्या के लिए पर्याप्त है। इसके साथ सन्निकर्ष की अवधारणा को अतिरिक्त रूप से स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। इससे समस्या सुलझने के बजाय और उलझ जाती है। इन्द्रियों की स्वरूप-योग्यता के बिना सन्निकर्ष व्यर्थ है, लेकिन सन्निकर्ष के बिना भी इन्द्रियों की स्वरूप-योग्यता किसी वस्तु के प्रत्यक्ष-ग्रहण के लिए आधार प्रदान करती है। भर्तृहरि ने भी 'इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता तथा' कहते हुए प्रत्येक इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में अनादि योग्यता को स्वीकार किया है। ज्ञानश्री मित्र[43] ने भी सन्निकर्षवाद की कठिनाईयों को आधारभूत रूप से उजागर करते हुए यह दिखाया है कि इस अभ्युपगम से सविकल्पक ज्ञान की सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती है। उनका निष्कर्ष यह है कि यह तो अनुभव से ही निश्चित होगा कि उष्ट्र के साथ न होकर घट के साथ सन्निकर्ष हुआ और अनुभव तब होगा जब सन्निकर्ष से उसकी उत्पत्ति हो। इसप्रकार अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग उपस्थित होता है और इसके निवारणार्थ आवश्यक है कि सन्निकर्ष के अतिरिक्त इन्द्रियों की योग्यता जैसी किसी व्यवस्था को स्वीकार किया जाय। परन्तु योग्यतामूलक व्यवस्था मान लेने पर सन्निकर्ष अनावश्यक - अतिरेक रूप से व्यर्थ हो जायेगा। पुनः, सन्निकर्ष द्वारा उत्पत्ति से अनुभव मानने पर विकल्पों की शृंखला से व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी और तब अर्थानुभव का स्पष्ट प्रतिभास असम्भव होगा क्योंकि अव्यवहित क्षण का ही अनुभव स्पष्ट हो सकता है। इस समस्या के समाधान के लिए निर्निमेष प्रत्यक्ष पर्यन्त को अव्यवहित अनुभव नहीं कहा जा सकता। ऐसा मानने पर सन्निकर्ष की प्रौढ़ता का तारतम्य मानते हुए स्मृति पर्यन्त प्रत्यक्ष का विस्तार स्थापित किया जा सकता है। अतएव अन्दर ही अन्दर सन्निकर्षवाद की अनेक कठिनाईयाँ हैं। इन्द्रियों की स्वरूप-योग्यता के आधार पर ही सभी प्रकार के अनुभवों की व्याख्या सम्भव है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

1. *प्राप्यप्रकाशकारित्व पद में प्राप्य पद ''आप्लृ व्याप्तौ'' स्वादिगणपठित धातु के साथ प्र- उपसर्ग पूर्वक निष्पन्न होने से 'ल्यप्' प्रत्ययान्त प्रयोग है। अतएव व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्राप्यप्रकाशकारिता स्वीकार करने पर चक्षुरादि द्वारा प्रकाश्य विषय के देश में इन्द्रियों का समानाधिकरण्य अपरिहार्य हो जाता है। अप्राप्यकारित्व का व्युत्पत्तिपरक अर्थ इसके विपरीत समझना चाहिए।*

२. 'सम' तथा 'नि' उपसर्ग के साथ "कृष विलेखने (आकर्षणे)" धातु से 'धञ्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'सन्निकर्ष' शब्द अपने में आकर्षण का भाव लिये हुए सामीप्य का अर्थ व्युत्पन्न कराता है।

३. कठोपनिषद् - २१/१ - पराञ्चिरवानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

४. न्यायसूत्र - ३/१/४४-४५-४६

५. श्लोकवार्त्तिक - ४/४३

६. प्रज्ञापना सूत्र - १५/९९१

७. परमत्थदीपनी, पृ. २५१ - तत्थ पसादे अल्लीयित्वा लग्गित्वा उप्पपन्नं आरम्भणं "सम्पतं" नाम। केसग्गमत्तं पि मुञ्चित्वा उप्पन्नं "असम्पत्तं" नाम।

८. अट्ठसालिनी, पृ. २५३- घाण-जिह्वा-काया सम्पत्तविसयगाहका, निस्सयवसेन चैव सयञ्च अत्तनो निस्ससंय अल्लीने येव विसये विञ्ञाण हेतुता।

९. विभाषा, पृ. १५६ - चक्खुसोतं पनेतेसु होता सम्पत्तगाहकं। विञ्ञाणुप्पत्तिहेतुत्ता सान्तराधिक गोचरे॥

१०. न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका, वाचस्पति मिश्र - पृ. ५२१, अहङ्काराद्धि बुद्धिविकाराद् वैकारिका- दशेन्द्रियाणि जायन्त इति ...।

११. तर्कभाषा, केशवमिश्र - पृ. २२,

१२. द्रष्टव्य - एच. एम. गांगुली, फिलॉसफी ऑफ लॉजिकल कन्स्ट्रक्शन, पृ. ७१

१३. यामाकामी सोगेन, सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्ट थॉट - पृ. १४६ - कः पुनरिन्द्रियार्थ इति। इति परमेश्वमें इति पद्यते। तस्य धारतोन्दिन्तीन्द्रियाणीति रूप द्रव्यम्। कथं कृत्वा इन्दन्तीति इन्द्राणीरप्रत्यय औणादिकः। इन्द्राप्येवेन्द्रियाणीति स्वार्थ धस्तद्धितः। अथवा इन्दन्तीतीन्द्रियम्।

१४. अभिधर्मकोश - १/४३-४४- चक्षुः श्रोत मनोऽप्राप्त विषयं त्रयमन्यथा, त्रिभिर्घ्राणादिभिस्तुल्यविषय ग्रहणं मनम्।
इन्द्रियों के सम्प्राप्त ग्राहित्व एवं असम्प्राप्तग्राहित्व के लिए अभिधर्मकोश १/४५-४६-४७ में युक्तियों का संग्रह इस प्रकार किया गया है- अप्राप्तग्राहिणः सिद्धा दूरासन्न समग्रहात्। प्रदीपादिप्रभावश्चेत् न समं तत्समुद्भवात्॥ सर्वग्रहण प्रसंगश्चेन्नायस्कान्तादि दर्शणात्। सर्वगत्वाददोषश्चेन्ना योगात्तितैलवत्॥

१५. पूर्वोक्त सन्दर्भ सं. - ७, परमत्थदीपनी एवं ८, अट्ठसालिनी।

१६. पूर्वोक्त सन्दर्भ सं. - ९, विभाषा

१७. विभाषा- पृ. १५६, चक्खुसोतं पनेतेसु होता सम्पत्तगाहकं। विञ्ञाणुप्पत्तिहेतुत्ता सन्तराधिक गोचरे॥ तथा हि दूरदेसट्ठं फलिकादितिरोहितं। महन्तं च नगादीनं वण्णं चक्खु उदेक्खति॥[२७]

१८. विभाषा- पृ. १५६ - यदि चेतं द्वयं अत्तसमीपं येव गण्हति। अक्खिण्णं तथा मूलं पस्सेयं भुमुकस्स च॥

१९. विभाषा- पृ. १५७ एवं अभिधर्मकोश स्फुटार्था - १/४३, आकासादिगतो कुच्छिचम्मानन्तरिको पि च। महन्तो च घण्टादीनं सद्दो सोतस्स गोचरो॥ दिसा देसववत्थानं सद्दस्य न भवेय्य च। सिया च सद्दवेधिस्स सकण्णे सरपातनं॥

२०. प्रमाण समुच्चय, एच. आर. आर. आयंगर द्वारा पुनः रचित में भी यह कारिका उद्धृत की गई है लेकिन मैंने वाचस्पति मिश्र द्वारा उद्धृत इस कारिका का यहाँ उल्लेख किया है। सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च। अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं तच्चिकित्सादि योगतः॥

२१. वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका- पृ. ११८ पर उद्धृत। सत्यपि च बहिर्भावो न शक्तिर्विषये क्षणे। यदि च स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात्॥

२२. वैशेषिक पदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श- पृ. २८६, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय - २०००

२३. सन्निकर्ष के बदले सन्निपात की अवधारणा और उसकी व्याख्या के लिए द्रष्टव्य हमारा आलेख-बौद्ध दर्शन में सारुप्य की अवधारणा, उन्मीलन, वर्ष १८ अंक १, २००४.

२४. द्रष्टव्य-सतकड़ी मुखर्जी, बुद्धिस्ट फिलॉसफी ऑफ युनिवर्सल फ्लक्स- पृ. ३०६

२५. ज्ञानश्री मित्र निबन्धावली-पृ. ३५१- घटेन्द्रियसन्निकर्षो नोष्ट्रेणेति तदनुभवादेव निश्चेयम्। तदनुभवत्वं चास्य तत्सन्निकर्षेणोत्पत्तेरितीतरेतराश्रय दोष:, प्रकारान्तरेण तदनुभसिद्धौ वा सन्निकर्षोत्तरस्थ वैयर्थ्यात्। अपि च तत्सन्निकर्षेणोत्पत्तेस्तदनुभवत्वे विकल्प मात्र व्यवस्थापिता स्पष्ट प्रतिभासोर्थस्यानुभव: स्यान्न स्पष्ट:।

अध्याय : आठ



ज्ञान की स्वयंप्रकाशता

'आत्मदीपो भव' की आध्यात्मिक निष्ठा में अद्यतन चिन्मूलक दृष्टि की प्रधानता भारतीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस विशेषता की तात्त्विक पृष्ठभूमि और ज्ञानमीमांसीय विन्यास में 'ज्ञान की स्वयंप्रकाशता' या 'स्वसंवित्ति' एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अभ्युपगम के रूप में प्रस्तुत होता है। यद्यपि निर्विवाद रूप से इसका उत्स औपनिषद् चिन्तन में देखा जा सकता है तथापि संसदीय भारतीय दर्शन के इतिहास में यह विज्ञानवादी बौद्ध आचार्यों, प्रभाकर मीमांसक और वेदान्तियों की मेधा का सहयोग पाकर सम्यक् रूपेण विकसित हुआ है। नैयायिकों और कुमारिल भट्ट के द्वारा प्रस्तुत किया गया इस सिद्धान्त का प्रतिपक्ष न केवल इसके तार्किक स्वरूप को प्रखरता प्रदान करता है, बल्कि इसे भारतीय प्रत्ययवाद के पोषक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत भी करता है। यह ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से ज्ञान की उस अवस्था की खोज है जहाँ ज्ञान का सत् उसके अन्तर्वस्तु के रूप में प्राप्त होता है और उसके स्वरूप की भावपरकता स्वत: प्रमाणित होती है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से यह ज्ञान में आचरित एक ऐसा संदर्भ है, जो हमें बाह्य संसार की आत्मबाधक बाह्यता से सर्वथा मुक्त ही नहीं करता बल्कि उसके बाह्यत्व की आद्यनियामकता स्वयं ज्ञान में है, इसे अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में तात्त्विक स्थिति प्रदान करता है।

I

भारतीय दर्शन में ''ज्ञान की स्वयंप्रकाशता'' एवं उसकी तात्त्विक परिणति के विषय में पर्याप्त मतवैभिन्न्य है। यह मतवैभिन्न्य अन्तत: चेतना के स्वरूप विषयक

तत्त्वमीमांसीय मतभेद में परिलक्षित या पर्यवसित होता है। क्या ''ज्ञान की स्वयंप्रकाशता'' या ''स्वसंवित्ति'' इति विषयक मतभेद को एक निश्चित दिशा प्रदान कर सकती है; या यह स्वयं चेतना के तात्त्विक स्वरूप विषयक मतभेद की पृष्ठभूमि में अपनी संज्ञानात्मक भूमिका को प्राप्त करती है ? वस्तुत: सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। हम इसी से प्रारम्भ करते हैं और अन्ततः हमें इसी में लौटना होता है। यदि मनुष्य इस संसार का अंग है या यह संसार स्वयं मानव मन की ही कोई प्रागनुभविक संरचना है, तो दोनों ही स्थितियों में मानवीय संज्ञानात्मक प्रक्रिया में जाने-अनजाने तात्त्विक पूर्वकल्पना का पूर्वगामी होना ''संसार में मनुष्य'' होने की बाध्यता है। यह बाध्यता किसी विशेष तत्त्वमीमांसा का उद्घाटक है या तत्त्वमीमांसा सामान्य ही उपर्युक्त बाध्यता से विवक्षित है ? ऐसे प्रश्न दार्शनिक चिंतन के इतिहास में अद्यतन विवादास्पद रहे हैं। तथापि किसी भी दर्शन की ज्ञानमीमांसीय भूमि पर कुछ ऐसे संदर्भों को अवश्य प्राप्त होना चाहिए जो उस दर्शन की तत्त्वमीमांसा से संवाद या संसक्तता रखते हों। ऐसे संवाद या संसक्तता के अभाव में किसी दार्शनिक तंत्र की वैचारिक योजना में स्ववचन व्याघात, स्वज्ञान व्याघात और स्वक्रिया व्याघात की सम्भावना सदैव बनी रहेगी। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वंसवित्ति ज्ञान में आचरित एक ऐसा ही संदर्भ है। यह चेतना के किस तात्त्विक स्थिति को प्रस्तावित करता है; या इसकी तात्त्विक परिणति ज्ञानमीमांसा का अतार्किक विस्तार है अथवा जिसे हम तात्त्विक परिणति समझते हैं वह हमारे सभी अनुभवों का, काण्ट की भाषा में, अनुभवातीत तार्किक आधार मात्र है ? ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति के संदर्भ में इन्हीं समस्याओं का बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि से विश्लेषण और समीक्षा प्रस्तुत निबन्ध का विचार्य विषय है। इसे स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को सम्यक् रूपेण उद्घाटित करना आवश्यक है, अन्यथा इसके महत्त्व और मर्म को नहीं समझा जा सकता।

II

स्वयंप्रकाश ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका का समारम्भ इस सामान्य प्रश्न से होता है कि सम्पूर्ण जगत् ज्ञान से प्रकाशित है। ज्ञान-प्रकाश मौलिक है। यह ''प्रकाशों का प्रकाश'' स्वयंप्रकाश है। इसे ज्ञात होने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। जानना और इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ रहना, कुछ भी नहीं जानना है। अज्ञात ज्ञान तो वदतोव्याघात है। इसलिये प्रत्येक ज्ञान का स्वयं ज्ञान होना या प्रत्येक चेतना का स्वचेतना होना परिनिष्ठित है। यद्यपि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, इसे एक सीमा तक सभी दार्शनिकों की सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, तथापि यह कैसे होता है इसके बारे में दार्शनिकों के मध्य पारस्परिक मतभेद है। भारतीय दर्शन में इतिविषयक नैयायिकों का ''अनुव्यवसायवाद'', मीमांसकों का ''ज्ञाततालिंगनुमेयवाद'' और

''त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद'', बौद्धों का ''स्वसंवेदनवाद'' या ''विज्ञानस्वयंप्रकाशतावाद'' तथा वेदान्तियों का ''आत्म स्वयंप्रकाशतावाद'' अतिप्रसिद्ध है। उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों की सम्यक् व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है। अतएव हम अपने विश्लेषण और समीक्षा को इतिविषयक न्यायवादी बौद्ध अवधारणा तक ही सीमित रखेंगे।

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्धों ने स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को उद्घाटित किया है और बाद में बौद्ध नैयायिकों ने इसे पुष्ट करने के लिए कुछ प्रबल तर्कों को भी उपस्थापित किया है। प्रत्यक्ष विषयक सौत्रान्तिक अवधारणा की अव्याख्येयता और माध्यमिकों द्वारा चित्तमात्रतावाद के विरुद्ध उपस्थापित ''न हि चित्तं चित्तं पश्यति''[३] का विप्रतिषेध ही वह कारण है, जिसके फलस्वरूप विज्ञानवादी बौद्धों ने दृढ़ता के साथ ज्ञान की स्वयंप्रकाशता को प्रस्तावित किया। इसे बौद्ध अपनी शब्दावली में ''स्वसंवेदन'' या ''स्वसंविति'' कहते हैं। इस सम्बन्ध में धर्मकीर्ति की यह गवेषणा कि ''अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टि प्रसिध्यति'' बड़ा ही प्रसिद्ध है। प्राय: सभी परवर्ती बौद्ध और बौद्धेतर दार्शनिक इसका अनुगमन करते हुए प्रतीत होते हैं। वस्तुत: स्वसंवित् ज्ञान के पक्ष में बौद्धों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्क सम्पूर्ण ज्ञान की संरचना को ही प्रभावित करते हैं। यदि ज्ञान को स्वंसवित् न माना जाय तो ज्ञाता-ज्ञेय के ढाँचे में ज्ञेय की ज्ञानात्मक उपलब्धि सम्भव ही नहीं हो सकती। यह एक सार्वजनीन तथ्य है कि वह ज्ञान जिसके द्वारा किसी विषय की ज्ञेयोपलब्धि होती है,वह विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना के द्वैविध्य में बँटा होता है। इसके लिए बौद्ध ग्रंथों में ग्राह्याकार-ग्राहकाकार, स्वाभास- अर्थाभास, ज्ञानाकार-अर्थाकार जैसे शब्द प्राप्त होते हैं। इस दूसरे पक्ष के द्वारा न केवल विषयाकार चेतना होती है बल्कि विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना के ग्राहक रूप में स्वग्रहण भी होता है। यदि ऐसा स्वीकार न करते हुए केवल यह स्वीकर किया जाय कि प्रत्येक ज्ञान का केवल एक ही पक्ष होता है, यानी वह अर्थाकार होता है या तो स्वाकार होता हैं, तब तो विषय की चेतना और विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना की चेतना का भेद ही समाप्त हो जाने से ज्ञाता-ज्ञेय का ज्ञान ढाँचा ही असंभव होगा और विषय की ज्ञात ज्ञेयोपलब्धि ही अनुपपन्न होगी। अत: प्रत्येक चेतना का द्वयपक्षात्मक होना ज्ञान की ''स्वयंप्रकाशता'' या ''स्वसंवित्ति'' को पूर्वापेक्षित करता है।

वस्तुत: चित्त की कोई ऐसी अवस्था नहीं है, जिसका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष न होता हो। सभी चित्त और चैत्तों की आत्मसंवित्ति अनुभव सिद्ध है।[४] यह विज्ञानवादी बौद्धों की वैचारिक योजना की दोषपूर्ण गौरव दृष्टि न होकर एक अपरिहार्य तथ्य है। चित्त वस्तुमात्र का ग्राहक होता है और चैत्त विशेष अवस्थाओं के ग्राहक होते हैं। बौद्ध शब्दावली में सुख-दु:खादि की वेदना चैत्त कहे जाते हैं। सुखादि के स्फुट होने के

कारण उनका स्वसंवेदन असंन्दिग्ध है। रूप आदि वस्तु दिखने पर उसी समय आन्तरिक सुखादि आकृति का संवेदन होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि नीलादि रूपाकृति का ग्रहण ही सौख्य रूप में होता है। क्योंकि नीलादि रूपाकृति का ही सुख रूप से ग्रहण हो रहा है, ऐसा तद्विषयक निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होने से ही नीलादि वस्तुओं को सौख्य रूप कहा जा सकता है। जिस रूप का प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार होता है, विकल्प उसी का अनुगमन करते हुए निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न करते हैं।[५] इस प्रकार उस रूप का प्रत्यक्ष व्यवहृत होता है। नीलादि रूपाकृति का इस प्रकार निश्चय नहीं होता है; अतएव "यह नील है" के अनुभव काल में ही सुख-दु:ख का अनुभव नीलादि वस्तुओं से भिन्न रूप में होता है। सुख-दु:खादि चैत्त धर्म वस्तुत: ज्ञान रूप हैं। ऐसे अनुभवों में किसी को यह संदेह नहीं होता कि उसे सुख का अनुभव हो रहा है या नहीं। इसलिए सुख-दु:खादि के अनुभव स्वसंवित् होते हैं।

इसके अतिरिक्त स्मृति एक ऐसा दृष्टान्त है जो स्वसंवित् अनुभव को सिद्ध करता है। स्मृति में केवल पूर्वानुभूत विषय की ही स्मृति नहीं होती बल्कि पूर्वानुभूत विषय की अनुभूति अनुभूत होती है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो स्मृति ही असम्भव होगी और लोकव्यवहार अवरुद्ध हो जायेगा। चूँकि स्मृति स्थल पर पूर्व अनुभूत वस्तु की अनुपलब्धि होती है, इसलिए पूर्वानुभूत अनुभूति स्वसंवित् रूप में ही स्मृति का सम्पादन करती है।[६]

इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध विभिन्न तर्कों के आधार पर ज्ञान की स्वसंवित्ति को सिद्ध करते हैं। वस्तुत: अनुभव-प्रकाश के अभाव में समस्त संसार अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जायेगा। यदि संसार ज्ञान से प्रकाशित होता है तो ज्ञान का स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् होना अपरिहार्य है। चेतना की प्रकृति ही ऐसी है कि उसका स्वरूप उसके उपादानों से आवृत्त नहीं होता। जड़ वस्तुयें अपने उपादानों से ही स्वरूपतया आवृत्त होती हैं। इसलिए जड़वस्तुओं को प्रकाशक की आवश्यकता है। चेतना के साथ ऐसी बात नहीं। चेतना विषयों से सम्बद्ध होकर उन्हें प्रकाशित करने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करती है। विषय से असम्बद्ध स्थिति में चेतना पर-प्रकाशक नहीं होती लेकिन तब भी चेतना की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का अत्यन्ताभाव नहीं होता है।

III

बौद्धों द्वारा प्रस्तावित ज्ञान की स्वयं प्रकाशता या स्वसंवित्ति की ऐसी अवधारणा उन सभी बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए असह्य रही है जो ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानते हैं और नहीं भी मानते हैं। उनकी आलोचनाओं में दो बातें बहुत ही स्पष्ट रूप से देखने को मिलती हैं। प्रथम यह कि ज्ञान सदैव वस्तुतन्त्र होने से "जानना" एक

सकर्मक क्रिया पद है। इसलिए ज्ञानक्रिया के कर्ता का उस क्रिया के साथ मिश्रण नहीं किया जाना चाहिए। द्वितीय, यह कि यद्यपि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, यह अनिवार्य तो नहीं लेकिन व्यवहारसम्मत् तो अवश्य है, तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं कि ज्ञान स्वसंवित् होता है। स्वसंवित्ति से परे और पृथक् भी अनुभव-प्रकाश की व्याख्या हो सकती है। आलोचकों के इन दोनों आधारों पर विचार किया जाय तो प्रथम वस्तुवाद के पूर्वाग्रह में विज्ञानवाद की आलोचना प्रतीत होती है और द्वितीय स्वसंवित् ज्ञान के बदले एक वैकल्पिक सिद्धान्त के प्रतिपादन का आग्रह प्रतीत होता है। अतएव कहा जा सकता है कि बौद्धेतर दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों से मोहग्रस्त होकर बौद्धों की आलोचना की है। वस्तुत: आलोचनाओं का भी अपना एक महत्त्व होता है। आलोचनायें चाहे गलत हों या सही, दोनों ही स्थितियों में वे विचार के इतिहास को एक अतिरेक त्वरण प्रदान करती हैं।

कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में बौद्धों के ''स्वसंवेदन'' का इतना अधिक खण्डन किया है कि परवर्ती आलोचकों की आलोचनाओं में कुछ भी नया नहीं प्रतीत होता। संक्षेप में कुमारिल के अनुसार बौद्ध जब यह कहते हैं कि ज्ञान ''स्वसंवित्'' होता है, तो इसका द्विविध तात्पर्य हो सकता है। प्रथम यह कि ज्ञान ही ज्ञाता और ज्ञेय है और द्वितीय यह कि ज्ञान-क्रिया स्वयं को ज्ञेय रूपेण ज्ञात करती है। प्रथम विकल्प में कर्तृ-कर्म का अभेद उपलब्ध होता है,[७] तो दूसरे पक्ष में क्रिया-कर्म का एकत्व आसन्न है।[८] इस प्रकार का अभेदीकरण ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के लोक सम्मत व्यवहार के विरुद्ध है। व्यवहार-सम्मत ज्ञान के प्रसंग में ज्ञानकर्ता, ज्ञानक्रिया और ज्ञातविषय का पार्थक्य विवक्षित होता है। यदि ज्ञान को यथार्थता का प्रदर्शक सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया जाय तो ऐसा एकत्व उतना ही असंभव है, जितना कि तर्जनी द्वारा स्वयं अपने अग्रभाग को छूना या नट का स्वयं अपने मस्तक पर नृत्य करना। ध्यातव्य है कि बोधिचर्यावतार में भी विज्ञानवादी बौद्धों के प्रति कुछ इसी प्रकार की आलोचनाओं की उद्भावना की गयी है।

पुन: कुमारिल स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की अनुपपन्नता प्रदर्शित करते हुए यह दिखाना चाहते हैं कि कोई भी कारण एक कार्य के उत्पादन के समय दूसरे कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता है। इसलिए न तो उत्पत्ति काल में ज्ञान ''स्व'' का ग्रहण कर सकता है, क्योंकि अपने उत्पत्ति काल में तो वह नीलादि विषयों के प्रकाशन में व्यापृत होता है और न तदन्तर ही ''स्व'' का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि बाद के क्षणों में वह स्वयं विनष्ट हो जाता है।[१०]

इसी प्रकार ''प्रमाणाभाव'' का प्रसंग उपस्थापित करते हुए कुमारिल कहते हैं कि यदि उपर्युक्त प्रतिपादन के विरुद्ध यह कहा जाता है कि उत्पत्ति काल में ज्ञान ग्रहण का कोई प्रतिबन्धक नहीं है, अतएव प्रतिबन्धकाभाव से ही ज्ञान प्रथम क्षण में गृहीत

हो जायेगा, तो यह ठीक नहीं।[११] केवल प्रतिबन्धक से ही कार्य की उत्पत्ति प्रतिरूद्ध नहीं होती, बल्कि विशिष्ट कारणों के अभाव से भी कार्य की उत्पत्ति प्रतिरूद्ध होती है। प्रकृत में तो ज्ञान प्रथम क्षण में ग्रहणविशिष्ट कारण के अभाव से ही प्रतिरूद्ध होता है, प्रतिबन्धक से नहीं। अत: प्रतिबन्धकाभाव से उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञानग्रहण में प्रमाणाभाव सिद्ध है।[१२]

इस प्रकार स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत में दोषोद्भावन करते हुए कुमारिल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान अपनी प्रकृति में स्वप्रकाश नहीं बल्कि सदैव पर - प्रकाशक होता है। अपने प्रकाश के लिए ज्ञान एक परवर्ती क्रिया की अपेक्षा करता है। संक्षेप में कुमारिल का पक्ष यह है कि ''ज्ञान'' एक क्रिया है। जिस प्रकार पाकज क्रिया के द्वारा भोज्य पदार्थों में ''पाक'' उत्पन्न होता है , उसी प्रकार जब हम घट नामक पदार्थ को देखते हैं और ''यह घट है'' के रूप में उसका व्यवहार करते हैं, तो घट नामक पदार्थ में ''ज्ञातता'' नामक एक अतिरिक्त धर्म उत्पन्न होता है। घट ज्ञान से पैदा होने वाली ज्ञातता केवल घट में ही होती है, पट में नहीं। इसलिए घट ज्ञान का विषय केवल घट ही होता है। यह ज्ञातता घट के आदि और अन्त में नहीं होती, बल्कि उसकी प्रतीति उस समय होती है जब हम ''ज्ञातोमयाघट:'' का व्यवहार करते हैं। ''ज्ञातता'' ही किसी विषय की परिच्छेदित विषयता को नियत करती है। इस ज्ञातता की सिद्धि ''विषयत्व अन्यथा अनुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति'' से होती है। यह ज्ञातता-रूप धर्म अपने कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतएव ''ज्ञातता अन्यथा अनुपपत्ति प्रसूत अर्थापत्ति'' से ज्ञातता की प्रतीति अनुगृहीत होती है। स्वसंवित् ज्ञान के बदले यही कुमारिल का ''ज्ञाततालिंगानुमेयवाद'' है, जिससे ज्ञान का ज्ञान होता है।[१३]

बौद्धों के पक्ष से उपर्युक्त आक्षेपों का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार का भेद दो बाह्य पदार्थों के मध्य होता है, उसी प्रकार का भेद ज्ञान और ज्ञेय में विवक्षित नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय का भेद केवल संगति का अभाव मात्र है।[१४] इसलिए ज्ञान प्रसंग में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के पार्थक्य की व्यवस्था हम इसे आरोपित मान कर भी कर सकते हैं। वस्तुत: ज्ञान में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव कल्पित ही है। बोध की बोधरूपता से उत्पत्ति ही उसकी स्वसंवित्ति कहलाती है।[१५] शान्तरक्षित कुमारिल को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि ज्ञान स्वयं क्रिया न होकर क्रियाफल है। यह सदैव जड़रूपों से अपनी पृथक्ता को ज्ञापित करते हुए अभिव्यक्त होता है। ज्ञान अचेतन होकर अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार से नहीं कर सकता। इसलिए यह स्वयंचेतन ही है।[१६] पुन: ज्ञान को स्वसंवित् मानने से अपने आप में कर्ता और कर्म होने का विरोध नहीं है। ऐसा इसलिए कि संवेदन रूप व्यापार विज्ञान के स्वरूप से भिन्न नहीं है।[१७] स्वसंवित्ति का वास्तविक तात्पर्य न समझने के कारण ऐसा विरोध ऊपरी तौर पर परिलक्षित होता है। वस्तुत: विज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी वह अप्रकाशित नहीं होता है।[१८] यही स्वसंवित्ति की स्वरूपस्थिति है। इतने पर भी यदि प्रतिपक्षी विरूद्ध धारणा रखते हैं तो

स्वसंविति के लिए स्वभाव हेतु पूर्वक अनुमान प्रमाण को प्रयुक्त करते हुए कहा जा सकता है कि जिसका प्रकट होना जिसके अधीन होता है, वह उसके प्रकट होने से ही प्रकट होता है। यथा-दण्डी, जिसका ज्ञान दण्ड के अधीन है। इसी प्रकार रूपादि विषयों का प्राकट्य ज्ञान के प्रकट होने पर निर्भर है। इस अनुमान का इन्द्रियों में व्यभिचार दिखाते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए स्वयं अनभिव्यक्त ही रहती हैं, उसी प्रकार ज्ञान रूपादि विषयों को प्रकाशित करते हुए स्वयं अप्रकाशित ही होता है। वास्तव में ऐसा व्यभिचार प्रदर्शन उपमावैदृश्य के कारण अनुचित है। अन्त में कुमारिल की यह उपस्थापना कि प्रतिबन्धकाभाव के कारण उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञान-ग्रहण की बात निरर्थक है, क्योंकि उत्पत्ति काल में ज्ञान-ग्रहण विशिष्ट कारणों के अभाव से ही प्रतिरूद्ध होता है, अनुचित है। यह आक्षेप निराकार ज्ञानवाद के संदर्भ में सही है, लेकिन साकार ज्ञानवाद के संदर्भ में यह अनुपपन्न है।[१९] साकार ज्ञानवाद विज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्त पक्ष है। साकारज्ञानवाद के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि विज्ञान अपने में अन्तर्निहित विषयाकारों को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। इसलिए ग्रहण-विशिष्ट कारणों का अभाव भी नहीं होता और वे सप्रतिबन्धक स्वरूप भी नहीं होते हैं।

अब यदि एतद्विषयक कुमारिल के स्वपक्ष पर विचार किया जाय तो उनका ''ज्ञाततालिंगानुमेयवाद'' भी कतिमय दोषों से ग्रसित है। प्रथमत: अनवस्था दोष की उद्‌भावना करते हुए कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान-क्रिया विषय में ''ज्ञातता'' नामक धर्म उत्पन्न करती है और जब ज्ञान स्वयं परवर्ती क्रिया के द्वारा अनुगृहीत होता है, तो कुमारिल ज्ञान में ''ज्ञातता'' की उत्पत्ति क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ? काव्यप्रकाशकार की इतिविषयक टिप्पणी उचित प्रतीत होती है कि नैयायिकों और मीमांसकों में केवल इतना ही अन्तर है कि एक आत्मा में तो दूसरा विषय में ''ज्ञातता'' की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। इसलिए एक के लिए ज्ञान का ग्रहण परवर्ती मानस प्रत्यक्ष से होता है, तो दूसरे में ज्ञान का ग्रहण अनुमानपूर्वक होता है। द्वितीयत: कुमारिल द्वारा स्वत: प्रामाण्यवाद का समर्थन और ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंविति का खण्डन परस्पर विरोधी आग्रह प्रतीत होते हैं। ये दोनों बातें एक साथ स्वीकार नहीं की जा सकती। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता ज्ञाननिष्ठ स्वत: प्रमाणता का पूर्वापेक्षी है। यदि इनमें तादात्म्य नहीं तो भी ये परस्पर उपकारी अवश्य हैं। स्वत: प्रमाणत्व कुछ और हो सकता है, लेकिन स्वत: ज्ञानत्व उसमें अवश्य होना चाहिये। जिस प्रकार किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उसकी प्रमाणता पर कोई संदेह नहीं करता कि उसे उस वस्तु का प्रत्यक्ष हुआ या नहीं, उसी प्रकार ज्ञान के संदर्भ में भी किसी को यह संदेह नहीं होता कि उसे ज्ञान हुआ या नहीं। जिस प्रकार स्वत: प्रामाण्य का इतना ही मतलब है कि ज्ञान अपनी प्रमाणता के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करता है, उसी प्रकार स्वसंवित् ज्ञान का भी इतना ही मतलब है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं

करता है। जिस प्रकार परतः प्रामाण्यवाद में अनवस्था दिखाई जाती है, उसी प्रकार परतः प्रकाश में भी अनवस्था आसन्न होती है। वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य को स्वयंज्ञात होना चाहिए। एक ओर अज्ञातप्रमाणता की बात निरर्थक है, तो दूसरी ओर किसी परवर्ती क्रिया के अधीन उसकी स्थापना नहीं हो सकती है। इसलिए ज्ञाननिष्ठ स्वतः प्रमाणता और स्वसंवित्ति एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् परस्परपूरक सिद्धान्त हैं। यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि क्या जो लोग ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति को स्वीकार करते हैं, उनके लिए स्वतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि भारतीय दर्शन में इस निकष का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता, तथापि कहा जा सकता है कि यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस दर्शन में प्रामाण्य ज्ञान का क्या निकष अपनाया गया है। बौद्धों और वेदान्तियों ने अन्ततः "प्रामाण्यं व्यवहारेण" का ही निकष स्वीकार किया है। इसलिए "प्रवृत्तिसाफल्य" को प्रमाणता का निकष स्वीकार कर वे ज्ञान को स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् मानते हुए भी व्यवहारत्वेन प्रामाण्य की व्याख्या कर सकते हैं। जहाँ तक प्रवृत्ति-साफल्य से परे और पृथक् स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की प्रमाणता का प्रश्न है तो वह स्वनिष्ठ ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता जैसा कि कुमारिल स्वीकार करते हैं, तो स्वसंवित्ति उनके लिए पूर्वापेक्षित है। वस्तुतः यह कुमारिल का वेदों के प्रति अतिशय अनुराग और बौद्धों के प्रति अतिशय द्वेष ही है, जिसके चलते वे इस अन्तर्विरोध में पतित होते हैं। शायद इस अन्तर्विरोध को ध्यान रखते हुए ही प्रभाकर ने ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता के लिए स्वसंवित्ति की उपयुक्तता और उसके विज्ञानवादी निष्पत्ति के मध्य अपने "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" का प्रतिपादन किया है। प्रभाकर ने स्वसंवित्ति के तत्त्वमीमांसीय लंगर को काटते हुए यह स्वीकार किया है कि विषय और विषयी के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है, जो समान रूप से विषय को विषयी के लिए प्रकाशित करता है।[२०] प्रभाकर का "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" ज्ञान की स्वयंप्रकाशता विषयक अ-तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के रूप में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान है।

IV

मीमांसकों के बाद बौद्धों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी नैयायिक हैं। नैयायिकों और बौद्धों के मध्य पारस्परिक खण्डन-मण्डन का इतिहास बड़ा लम्बा और दृष्टिविदारक है। स्वसंवित्ति विषयक प्रश्न पर नैयायिकों का मानना है कि बौद्ध "अनुव्यवसाय" का मर्म नहीं समझते हैं, इसलिए उन्होंने स्वसंवित्ति की भ्रान्त अवधारणा प्रतिपादित करने में अपनी शक्ति का अनावश्यक दुरूपयोग किया है। नैयायिक यह प्रस्तावित करते हैं कि 'ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए', यह कोई अनिवार्य प्रतिज्ञा नहीं है। यह सम्भव है कि ज्ञाता में ज्ञान उत्पन्न हो और फिर भी वह उसके लिए अज्ञात ही रहे। यदि 'ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए', यह व्यवहारसम्मत है और अनुकूल कारकों के होने से यह ज्ञात होता है, तो

इसके लिए ज्ञान को स्वसंवित् मानना ही अनिवार्य नहीं है। बौद्धों ने स्वसंवित्ति को सिद्ध करने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किया है, वह नैयायिकों की राय में ज्ञान की स्वसंवित्ति को सिद्ध नहीं करता है।[२१] यह बात गम्भीर है और उतने ही गम्भीरता से विचारणीय भी है। प्रथम, जब यह कहा जाता है कि प्रत्येक ज्ञान के दो पक्ष होते हैं, तो ज्ञान में आचरित विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना से केवल इतना ही निगमित होता है कि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए। ज्ञान का स्वसंवित् स्वरूप इससे निगमित नहीं होता है। यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि ज्ञात होना या तो ज्ञान को स्वसंवित् मानने से सम्भव है, या किसी अन्य ज्ञान के द्वारा उसे ज्ञात हुआ माना जा सकता है। इसमें प्रथम पक्ष बौद्धों का ही है, लेकिन दूसरे पक्ष के लिए ज्ञान की एक अज्ञात अवस्था को स्वीकार करना होगा। ज्ञात की अज्ञात अवस्था में कोई भी तर्क विधि या निषेध मुखेन नैयायिकों का साथ नहीं दे सकता है। अत: स्वसंवित्ति पूर्वक ही ज्ञान का पक्ष-द्वैविध्य व्याख्येय है। द्वितीय, जब यह कहा जाता है कि पूर्वानुभूत अनुभव की अनुभूति के बिना स्मृति सम्भव नहीं है, तो इससे भी यही आपादित होता है कि अनुभव अनुभूत होता है। वह स्वसंवित् है, यह सिद्ध नहीं होता। यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि पूर्वानुभूत अनुभव की अनुभूति या तो स्वत: वेद्य होगी या परत: वेद्य मानी जा सकती है ? स्वत: वेद्यता तो बौद्धाभिमत ही है। परत: वेद्यता मानने पर अनवस्था होगी जो स्मृति को ही असम्भव बना देगी। इसलिए अपने संदर्भ में स्मृति स्वसंवित्ति को ही सिद्ध करती है। यह बात अलग है कि सभी पूर्वानुभवों की स्मृति नहीं होती है। तृतीय, जब यह कहा जाता है कि सुखादि की अनुभूति स्वसंवित् होती है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी अनुभव स्वसंवित् होते हैं। कुछ अनुभव बिना ज्ञात हुए समाप्त हो जाते हैं, तो कुछ तीव्र संवेगिता के कारण उत्पत्ति काल में ही गृहीत हो जाते हैं। अतएव तीव्र संवेगिता के कारण सुखादि अनुभवों की स्फुटता का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है।[२२] यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि क्या यह सम्भव है कि किसी को माथे में दर्द हो और उसे ज्ञात न हो ? पुन: सुख-दु:खादि चैत्त ज्ञान रूप हैं, तो इनका सामान्यीकरण क्यों नहीं किया जा सकता है ?

इस प्रकार स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की अनेकविध आलोचना करते हुए नैयायिक इसे एक प्रकार के मानस प्रत्यक्ष नामक अनुक्रिया में रूपान्तरित कर देते हैं। वस्तुत: नैयायिकों के अनुसार ज्ञान अपने उत्पत्तिकाल में 'यह घट है' के स्वरूप का होता है। वही बाद में अव्यवहित रूप से "मैं जानता हूँ कि यह घट है" के अनुव्यवसाय में परिणत हो जाता है। यह अनुव्यवसाय एक प्रकार का मानस प्रत्यक्ष है। ये दोनों ज्ञान अपने स्वरूप में भिन्न होते हैं, क्योंकि प्रथम स्थिति में घट विषय वेद्य होता है तो द्वितीय स्थिति में घटानुभव विदित होता है। ज्ञान अपने स्वरूप में परप्रकाशक ही है। शान्तरक्षित का यह प्रस्ताव अनुचित है कि ज्ञान को परप्रकाशक मानने से जड़ और चेतन का भेद ही

समाप्त हो जायेगा।[23] चेतना को परप्रकाशक और अचेतन पदार्थों में इसका अभाव बताते हुए चेतन और अचेतन का भेद सुरक्षित रहता है। प्रज्ञाकर गुप्त[24] इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम अपनी विचारसरणी में तीन प्रकार की वस्तुओं को सम्मिलित कर सकते हैं। प्रथम प्रकार में ऐसी वस्तुओं को रखा जा सकता है जो न तो स्वप्रकाशक हैं न ही परप्रकाशक। दूसरे प्रकार में दो प्रकार की परप्रकाशक वस्तुओं को रखा जा सकता है। यथा-प्रकाश और ज्ञानेन्द्रियाँ। अब प्रथम प्रकार की वस्तुयें कुछ ऐसी हैं, जो द्वितीय प्रकार में आने वाली दोनों वस्तुओं की अपेक्षा करती हैं। द्वितीय प्रकार में आने वाली वस्तुओं को भी एक अन्य तृतीय प्रकार की वस्तु की आवश्यकता है जो उनका प्रकाशक हो। इस प्रकार अन्ततः हमें एक ऐसी तृतीय वस्तु की कल्पना में अवश्य ही पर्यवसित होना पड़ेगा जो स्वप्रकाश हो। सुरेश्वराचार्य[25] ने भी परप्रकाशता के विभिन्न स्तरों के द्वारा एक निरतिशय स्वयंप्रकाशतत्त्व की अनिवार्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। भासर्वज्ञ[26] ने न्याय पक्ष से इसका उत्तर देते हुए कहा है कि उपर्युक्त तर्कों में असिद्धि दोष है, क्योंकि प्रश्न है ज्ञान की स्वयंप्रकाशता और उपर्युक्त तर्क इसे सिद्ध करने का प्रयास करता है कि ज्ञान की सभी स्थितियाँ ज्ञात होती हैं। इसी प्रकार शान्तरक्षित विहित स्वसंवित्ति की परिभाषा में भी असिद्ध साधनता की उद्‌भावना की जा सकती है। वस्तुतः नैयायिकों ने बौद्धों द्वारा स्वसंवित्ति की सिद्धि के लिए प्रयुक्त सभी तर्कों में असिद्ध साधनता के दोष को दिखाने को प्रयास किया है। इतिविषयक बौद्धों की तार्किक संरचना में "असिद्ध साधनता" की प्रतीति इसलिए होती है कि बौद्धों ने स्वसंवित्ति की सिद्धि के लिए जिन-जिन उपालम्भों को प्रयुक्त किया है वे "आरग्युमेन्ट" नहीं बल्कि "कन्सिडरेशन्स्" हैं जो स्वसंवित्ति की अवधारणा को मात्र अनुभव प्रकाश के लिए अपेक्षित सम्भव संकल्पानाओं में सर्वोत्तम के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं।

नैयायिक इसके वैकल्पिक सिद्धान्त के रूप में जिस अनुव्यवसायवाद की अवधारणा को प्रतिपादित करते हैं, वह न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित है न हि व्यवहार सम्मत है। यदि ज्ञान का ज्ञानान्तर से वेदन स्वीकार किया जाय तो यह बलात् ही "अनवस्था" को निमंत्रित करता है, जिसका मूलगामी रूप से अन्ततः "न किंचित्वेदनं" में पर्यवसित हो जाना आवश्यम्भावी है। यदि इस अनवस्था के परिहार के लिए यह स्वीकार किया जाता है कि ज्ञान का ज्ञात होना कोई आवश्यक नहीं, तो यह नैयायिकों का "अज्ञात ज्ञानस्थिति" के प्रति अनावश्यक मोह है। इसका समान्यीकरण नहीं किया जा सकता है। कोई भी ज्ञान बिना ज्ञात हुए व्यवहार साधक भी नहीं हो सकता। नैयायिक अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए यहाँ एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करते हैं, जो विचारणीय है। उनका मानना है कि "व्यवसायात्मक" ज्ञानस्थिति यद्यपि ज्ञात नहीं होती तथापि व्यवहारोत्प्रेरक अपेक्षित स्नायुविक प्रभावमत्ता को उत्पन्न

करने में वह समर्थ होती है। तदनन्तर जब व्यवसाय अनुव्यवसायात्मक मानसप्रत्यक्ष से अनुगृहीत हो जाता है, तो व्यवहार संचार के लिए इतना ही अपेक्षित है। व्यवहार इतने पर आकर अपने व्यापार से निवृत्त हो जाते हैं। अन्य कोई व्यापार अवशिष्ट नहीं रहता जो ''ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेदने'' के संदर्भ में उपदर्शित अनवस्था पूर्वक प्रतिरूद्ध होता हो।[२५] इस प्रकार नैयायिक यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि ज्ञान के कारणभूत विषयों की उपलब्धि होने से ही सम्पूर्ण व्यवहार चलते हैं। इसलिए उपर्युक्त उपदर्शित अनवस्था वास्तव में लक्ष्य को छोड़ते हुए तीर के समान उनके सिद्धान्त का हन्ता नहीं है। परन्तु नैयायिकों का यह समाधान सम्यक् नहीं कहा जा सकता है। व्यवहार संचार को एक यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में देखना जीवन के वैचारिक पक्ष की अवहेलना करना है। व्यवहारों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष वैचारिक भी होता है। व्यवहार के इस पक्ष में नैयायिकों के अनुव्यवसायवाद की अपर्याप्तता दिखाते हुए धर्मकीर्ति की यह युक्ति ''दीर्घादिग्रहणं न स्यात् बहुमात्रा अनवस्थिते'' जैसी अनुपपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है।[२६] व्यवहार संचार के लिए एक विचार से दूसरे विचार में गति और पुन: विचारों के भाषीय प्रवहन के लिए भावप्रवाहिका भाषा में दीर्घस्वरों का ग्रहण आवश्यक है। ये दोनों बातें नैयायिकों की विचारसरणी में स्वसंवित् ज्ञान के बिना असम्भव है, क्योंकि उनके मत में ज्ञान और कण्ठ-तालु संयोग से उत्पन्न ध्वनि, दोनों ही क्षणिक हैं। दीर्घबुद्धि को अक्रम नियम से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए क्रम-नियम और क्रमयोग-बोध अपेक्षित है। स्वसंवित्ति के अभाव में विज्ञान और वर्णों की क्षणिकता के कारण क्रमनियम में आसन्न अनवस्था से क्रमयोगबोध पूर्वक दीर्घबुद्धि अनुपपन्न है। यदि पूर्व-पूर्व वर्णों से उपकृत उत्तर-उत्तर वर्णों की उत्पप्ति मानी जाय तो जिस उत्तरवर्ती अन्त्य वर्ण पर इस प्रक्रिया का विराम होगा, वहीं एक साथ उस शृंखला के सभी पूर्ववर्ती वर्णों का ग्रहण प्रसक्त न होने से उसे दीर्घ ग्रहण नहीं कहा जा सकता है। बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद में यह समस्या विज्ञानों के स्वसंवित् होने के कारण अनुपपन्न है, क्योंकि प्रत्येक विज्ञान अर्थाभास पूर्वक स्वाभास या स्वाभासपूर्वक अर्थाभास की विज्ञानस्थिति होती है। क्या अर्थाभासपूर्वक स्वाभास और स्वाभासपूर्वक अर्थाभास से परे और पृथक् कोई विज्ञान की स्वरूपस्थिति हो सकती है? इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस प्रकार नैयायिकों की समीक्षा से बौद्ध इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि ज्ञान को स्वसंवित् न माना जाय तो जगत् अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जाता है और इससे बचने के लिए यदि ज्ञान का प्रकाश ज्ञानान्तर से माना जाय तो मूलोच्छेदक अनवस्था में पतित हो जाना अवश्यंभावी है।

V

ऐसे ही अद्वैत वेदान्तियों ने भी स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की आलोचना करते हुए एतद्विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को उद्घाटित किया है। यद्यपि दोनों

सम्प्रदायों में इतिविषयक स्वपक्ष स्थापन और परपक्ष खण्डन के लिए अपनाये गये तार्किक उपक्रम में कोई मौलिक भेद प्रतीत नहीं होता, फिर भी दोनों के निष्कर्ष नितान्त भिन्न हैं। इस भिन्नता को चेतना की तात्त्विक स्थिति में आत्यन्तिक भेद को ध्यान में रखकर ही समझा जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्रीहर्ष का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि यदि स्वयंप्रकाश ज्ञान को नित्य, साक्षी, सर्वात्मा, ब्रह्मस्वरूप माना जाय तो अद्वैत वेदान्त सिद्ध होता है और क्षणिक माना जाय तो क्षणिक विज्ञानवाद सिद्ध होता है।[२९]

शंकराचार्य की दृष्टि में नैयायिक और बौद्ध दोनों ही ज्ञान को वेद्य मानते हैं। यद्यपि ज्ञान की वेद्यता की प्रक्रिया दोनों दर्शनों में भिन्न-भिन्न है तथापि ज्ञान चाहे स्वविषयक हो या परविषयक हो, दोनों ही स्थितियों में "विषयता" का समावेश हो ही जाता है। इसलिए ज्ञान की वेद्यता के खण्डन से शंकराचार्य को उभयविध मतों का खण्डन अभिप्रेत है। प्रश्नोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य बौद्धों को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि यदि विज्ञान वेद्य है तो वह स्वयं का वेदक कैसे हो सकता है ? यह किसी दूसरे विज्ञान से ही वेद्य हो सकता है, तब बौद्धाभिमत अनवस्था दोष से ग्रसित हो जाएगा।[३०] पुन: यदि विज्ञान स्वयमेव अनुभूत होता है तो बौद्धाभिमत में कर्तृ-कर्म विरोध की उपपत्ति होगी।[३१] इस तरह बौद्धों की स्वयंप्रकाशता से अनुभव प्रकाश की तर्कसंगत व्याख्या नहीं हो सकती है। ज्ञान में आचरित विषयबोध और प्रतिबोधित स्वयंबोध के लिए दोनों का साक्षी, स्वयंप्रकाश,स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्व को स्वीकार करना होगा, जिसकी समस्त प्रतीतियाँ विषय होती हैं, जो समस्त बोधों के समय प्रतिबोध रूप में जाना जाता है। ऐसे साक्षी चैतन्य की पृष्ठभूमि में ही समस्त ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय व्यवहार फलित होते हैं। इसलिए जब कोई ज्ञान होता है तो न ही तद्विषयक कोई संदेह रहता है और न तो उसके साक्षी को जानने की आवश्यकता होती है। क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मा सभी प्रतीतियों का नित्य साक्षी है। बौद्धों का क्षणिक विज्ञान स्वयं अपने ही उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साक्षी नहीं हो सकता, तो वह सर्वसाक्षी क्या होगा। इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत को नित्य आत्मा की स्वयंप्रकाशता में रूपान्तरित कर देते हैं।

शंकराचार्य कृत उपर्युक्त आलोचनाओं की समीक्षा करते हुए कहा जा सकता है कि एक ओर शंकराचार्य बौद्धों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव बलात् ही आरोपित कर अनवस्था दिखाते हैं, तो दूसरी ओर वहीं कर्तृ-कर्म विरोध भी उपस्थापित करते हैं। एक ही प्रतिज्ञा में उपुर्यक्त दोनों प्रकार के दोषों की उद्भावना स्वयं में विरोधग्रस्त हैं। एक ही प्रतिज्ञा को 'यह' या 'वह' के ऐसे विकल्प में व्याख्यायित करना जो परस्पर विरुद्ध हों, एक विचित्र प्रकार का तार्किक दोष है। यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव के कारण अनवस्था उपपन्न है, तो वहाँ कर्तृ-कर्म विरोध नहीं हो सकता; लेकिन यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में कर्तृ-कर्म विरोध नहीं है तो वहाँ अनवस्था प्रसंग

भी नहीं होगा। वस्तुत: स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत इन दोनों ही दोषों से सर्वथा मुक्त है। स्वयं वाचस्पति मिश्र ने ''न हि संवेदनस्य स्वरूपादन्यावृत्तिरस्ति'' कहते हुए स्वसंवित्ति में कर्तृ-कर्म विरोध का निराकरण किया है।[३२] ऐसे ही ''स्वसंवेदन'' में ''वेदन'' पद से आपातत: ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार विज्ञान अन्य की वित्ति का ग्राहक होता है, उसी रूप में वह स्वयं की वित्ति का भी ग्राहक है। सभी बौद्धेतर दार्शनिक स्वसंवेदन विषयक बौद्धाभिमत के इसी प्रारूप को ध्यान में रखते हुए इसकी आलोचना करते हैं। किन्तु स्वसंवेदन का परिष्कृत स्वरूप इससे पूर्णतया भिन्न है। बौद्ध दर्शन के विकासात्मक इतिहास में स्वसंवेदन को त्रिविध प्रारूपों में देखा जा सकता है। प्रथम-विज्ञान इस अर्थ में स्वसंवित् होता है कि जब विषय का ज्ञान होता है, तो प्रतिचेतना के रूप में स्वयं की भी वित्ति होती है। यहाँ स्वसंवित्ति अर्थाभासपूर्वक स्वाभास है।[३३] द्वितीय-विज्ञान इस अर्थ में स्वसंवित् होता है कि वह स्वसंवित् होकर ही विषय को प्रकाशित करता है। यहाँ स्वसंवित्ति स्वाभास पूर्वक अर्थाभास है।[३४] तृतीय-विज्ञान अर्थाभासपूर्वक स्वाभास और स्वाभासपूर्वक अर्थाभास से पृथक् और परे अपने स्वस्वरूप में ही आत्मसंवित् है।[३५] यही स्वसंवेदन का निरपेक्ष स्वरूप है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि बौद्ध दर्शन में स्वसंवित्ति विषयक तीन सिद्धान्त हैं। इन त्रिविध प्रारूपों को स्वसंवित् विज्ञान की ज्ञानमीमांसीय भूमिका और उसकी तात्त्विक परिणति के मध्य त्रिविध सोपानों के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। नैयायिक, मीमांसक और अद्वैत वेदान्तियों की आलोचनायें केवल प्रथम प्रारूप के संदर्भ में ही प्रयुक्त हो सकती हैं। स्वसंवेदन का तृतीय प्रारूप जो उसका निरपेक्ष स्वरूप है, वह पूर्वोक्त सभी दोषों से मुक्त है। शान्तरक्षित ने स्वसंवित्ति की परिभाषा करते हुए ''स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते। न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविद:॥'' कहा है।[३६] चित्सुखाचार्य ने अद्वैतमतेन् ''अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहार योग्यत्वम्'' के रूप में स्वयंप्रकाशता का सर्वदोषमुक्त लक्षण प्रस्तुत किया है।[३७] इन दोनों परिभाषाओं में वेद्यत्व की अवस्थिति एक समान है, लेकिन दोनों परिभाषायें अपनी परम्परा की दार्शनिक योजना में चेतना के जिस तात्त्विक स्वरूप को प्रस्तावित करते हैं, वह नितान्त भिन्न है। इतिविषयक विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्तियों की परस्परिक ईर्ष्याजनक स्थिति दोनों का अपना-अपना गौरव है। यह गौरव चेतना की तात्त्विक स्थिति को इच्छात्मक चेतना और ज्ञानात्मक चेतना के परमत्व में देखा जा सकता है। अन्त में जहाँ तक साक्षी का प्रश्न हैं, तो स्वसंवित् क्षणिक विज्ञान त्रिविध उपक्षणों में विभाजित ही नहीं है, तथापि जिस प्रकार अद्वैतमत में स्वयंप्रकाश आत्म तत्त्व को किसी अन्य साक्षी की आवश्कता नहीं होती है, उसी प्रकार बौद्धों का क्षणिक विज्ञान भी स्वयं साक्षी तो हो ही सकता है। साक्षी को ''सर्वसाक्षी'' के रूप में स्वीकार करना अद्वैतवादियों का अपना गौरव है। इस गौरव भेद की खाई को पाटने में ज्ञान की

स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की कोई महत्त्वपूर्ण मध्यस्थ भूमिका हो सकती है-ऐसा प्रतीत नहीं होता।

VI

इस प्रकार ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की संज्ञानात्मक भूमिका के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि अनुभव प्रकाश की व्याख्या के लिए यह एक अपेक्षित सिद्धान्त है। यदि ज्ञान स्वसंवित् है, तो वस्तुवादियों का यह तर्क कि ज्ञान किसी की अपेक्षा करता है जिसे वह जानता हो, शक्तिहीन हो जाता है। इस तर्क के शक्तिहीन हो जाने से ज्ञान से परे और पृथक् वस्तु की सत्ता स्वीकार करने की बाध्यता तार्किक और निरपेक्ष न होकर मनोवैज्ञानिक बाध्यता में रूपान्तरित हो जाती है। ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तु की सत्ता की सिद्धि करने के लिए उस वस्तु की ज्ञात और अज्ञात स्थिति में तादात्म्य बताना आवश्यक है। इस तादात्म्य को बताने के लिए अज्ञात स्थिति में वस्तु को जानने की आवश्यकता होगी। ऐसा जानना बिना जाने हुए जानना है। वस्तुत: अज्ञात अवस्था में वस्तु की सत्ता का निषेध और स्वीकृति दोनों ही अनुपपन्न हैं। यदि अज्ञात अवस्था में वस्तु की सत्ता का निषेध वस्तुवादियों की दृष्टि में ''अहंकेन्द्रित दुरवस्था'' है, तो उसके विधान को भी विज्ञानवादी ''वस्तु केन्द्रित दुरवस्था'' कह सकते हैं। इस वस्तु केन्द्रित दुरवस्था से निकलने का प्रयास करते हुए वस्तुवादी वस्तु की स्वतंत्र सत्ता को स्थापित करने के लिए स्वयं ज्ञान की ही एक अज्ञात अवस्था का पक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। ''भारतीय वस्तुवाद'' में नैयायिकों का ''व्यवसाय'' और मीमांसकों की ''ज्ञातता'' वस्तुवाद को ऐसा ही विलक्षण आधार प्रदान करने का सराहनीय प्रयास है। परन्तु ज्ञान को यथार्थता का प्रदर्शक सिद्धान्त स्वीकार करते हुए ज्ञान की ही एक अज्ञात अवस्था पर वस्तुवाद को स्थापित करने के लिए पुन: ज्ञान की अज्ञातावस्था को ज्ञानान्तर के द्वारा जानने की आवश्यकता होगी, जिससे वस्तु की चेतना और वस्तुसारूप्यविशिष्ट चेतना की चेतना के द्वारा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की पृथक्ता स्थापित हो सके। इस अभ्युपगम को अपनाने में अनवस्था दोष के कारण कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, यह पूर्वोक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट ही है। इससे निकलने का वे जितना ही प्रयास करते हैं, उतना ही उलझते जाते हैं। 'पर' और 'परे' वस्तु की सत्ता के प्रति एक सामान्य विश्वास ही उनकी मूल भित्ति बन कर रह जाती है। इसके विपरीत विज्ञानवादी ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। स्वसंवित् ज्ञान अहंकेन्द्रित दुरवस्था को एक दिशा प्रदान करते हुए इस बात के लिए एक सामान्य आधार प्रदान करता है कि चेतना को आधारभूत तत्त्व मानकर समस्त संसार की व्याख्या चेतना की आद्यनियामकता में प्रस्तुत की जा सकती है। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता इस सामान्य अर्थ में विज्ञानवादी दर्शन का पोषक सिद्धान्त है। यद्यपि विज्ञानवादी दर्शनों के विशेष स्वरूप के निर्धारक घटक कुछ और हो

सकते हैं तथापि विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्त दोनों ही परस्पराओं में स्वसंवित्ति या स्वयंप्रकाशता अनुभव प्रकाश की व्याख्या के लिए अपेक्षित और अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ही प्रस्तुत होता है। वस्तुत: जिसके नहीं स्वीकार किये जाने से अनवस्था उत्पन्न होती हो, बुद्धि उसका अध्याहार अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ही करती है। उसे प्रमाणों का विषय नहीं बनाया जा सकता। न्यायलीलावतीकार ने स्वयंप्रकाशत्व में इसी युक्ति से प्रमाणविषयता को दिखाकर उसका खण्डन किया है, जो अनुचित है। यह अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता चेतना के जिस किसी तात्त्विक स्वरूप को प्रस्तावित करती है, वह वसुबन्धु की "विज्ञप्तिमात्रता" या धर्मकीर्ति की "अविभक्त बुद्ध्यात्मा" अथवा शंकाराचार्य का "सच्चिदानन्द" या कुछ और भले हो, लेकिन ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का शर्त केवल इतना ही है कि उसका निरपेक्ष तात्त्विक स्वरूप विषय और विषयी से परे होना चाहिए। विषय और विषयी दोनों परस्पर सापेक्षिक हैं। अतएव इन दोनों का पूर्ण निषेध ही स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् विज्ञान की स्वरूपस्थिति है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. *किसी वैचारिक योजना की आन्तरिक संरचना में असंगति इन्हीं तीन प्रकार के व्याघातों के कारण उत्पन्न होती है। उदयन- आत्मतत्त्वविवेक-सम्पा. और अनु पं. केदारनाथ त्रिपाठी (श्री विद्याप्रेस वाराणसी) पृ. २२३-२२४*

२. *शान्तिदेव-बोधिचर्यावतार,९.१७, उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति।*

३. *एम. हतोरी - दिङ्नाग ऑन परसेप्शन, पृ.२२९-३०.*

४. *धर्मकीर्ति - न्याय बिन्दु,१.१० सर्वचित्त चैत्तानामात्मसंवेदनम्.*

५. *धर्मोत्तर - न्यायबिन्दु टीका १.१० यस्मिन् रूपे प्रत्ययक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत् प्रत्यक्षम्। न च नीलस्य सत्तादिरूपत्वमनुगम्यते।*

६. *धर्मकीर्ति -प्रमाणवार्त्तिक २.४८५, स्मृतेरप्यात्मवित् सिद्धा ज्ञानस्या: अन्य वेदने। और एम्. हतोरी - दिङ्नाग ऑन परसेप्शन, पृ. ३०.१ कारिका ११-१२.*

७. *कुमारिल भट्ट - श्लोकवार्त्तिक (औत्पत्तिक सूत्रे शून्यवाद:) -६४ नैतदास्ति, त्वयैकं हि ग्राहयं ग्राहकमिष्यते। न चैकस्यैवामात्मत्वे दृष्टान्त: कश्चिदस्ति ते॥*

८. *वहीं, ७३- अभिन्नत्वं यदा चेष्टं ग्राह्यग्राहकवस्तुनो:। तदान्यतर संवित्तौ द्वयाकारं ग्रहणं भवेत्॥*

९. *शान्तिदेव - बोधिचर्यावतार, ९.१७ -२३.*

१०. *कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्त्तिक (औत्पत्तिक सूत्रे शून्यवाद:) १८४ - व्यापृतं चार्थसंवित्तौ ज्ञानं नात्मानमृच्छति। तेन प्रकाशकत्वेऽपि बोधायान्यत् प्रतीक्ष्यते॥*

११. *वहीं - २४ ज्ञानस्योत्पद्यमानस्य प्रतिबन्धो न कश्चन। न चाप्रकाशरूपत्वं येनास्याग्रहणं भवेत्॥*

१२. *वहीं - १८३ - न चाऽपि प्रतिबन्धेन कवलेनाऽग्रहो भवेत्। विशिष्टकारणाऽभावेप्यर्थो नैवाऽनुभूयते॥*

१३. पार्थसारथी मिश्र - शास्त्रदीपिका, पृ. १५७-१६१.

१४. प्रज्ञाकर गुप्त - प्रमाणवार्त्तिक भाष्य - प्रत्यक्ष परिच्छेद, २ - तुरंगस्य न भेदेऽस्ति गवादेरूपभिन्नता। सङ्गत्यभावान्न ज्ञानज्ञेययोरेव मिष्यते ॥

१५. न्यायबिन्दु प्रकरणम्, सम्पा.स्वामी द्वारिकादास शास्त्री,बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, पृ. ३७-३८- बोधस्य तु बोध रूपतयोत्पत्तिरेव स्वप्रकाशकत्वम्

१६. शान्तरक्षित - तत्त्वसंग्रह १९१९ - विज्ञानं जड़रूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते। इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजड़रूपता ॥

१७. वहीं -२०१६ ननु चार्थस्य संवित्तिर्ज्ञानमेवाभिधीयते। तस्यां तदात्मभूतायां को व्यापारऽपरो भवेत्।

१८. वहीं -२०११ - स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते। न चाविदितमस्तीद- मित्यर्थोऽयं स्वसंविदः।

१९. वहीं -२०१९ - न हि तत्र परस्यास्ति प्रत्यासत्तिर्निबन्धनम्। यथा साकारविज्ञानपक्षेऽर्थप्रतिबिम्बिकम् ॥

२०. शालिकनाथ - प्रकरण पञ्चिका - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ. १६८- सर्वत्र प्रमातृप्रमिति प्रमेयेषु त्रिषु संविदेकैव।

२१. मतिलाल बी.के.-परसेप्शन -क्लारेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, पृ. १५३

२२. उदयन-परिशुद्धि-बिब्लिओथिका इण्डिका, पृ. १२१.

२३. शान्तरक्षित - तत्त्वसंग्रह -२०२० प्रकृत्या जड़रूपत्वान्नस्यात्मानुभवो यदि। ज्ञानसंवेदनाभावात् परार्थानुभवस्तदा ॥

२४. प्रज्ञाकर गुप्त-प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य -काशी प्रसाद जायसवाल, पटना, पृ. ३५३.

२५. सुरेश्वरवार्त्तिक -अ. ३ ब्रा.४ -स्वमहिमनैवचन्नस्यात् ग्राहकादिततोन्यतः। न स्यात् अतिशयाभावात् नैव स्यात् अविशेषतः ॥

२६. न्यायभूषणम्- स्वामी योगीन्द्रानन्द. पृ. १३८.

२७. वात्स्यायन-न्यायभाष्य-२.१.२०-न चास्ति व्यवहारन्तरमनवस्थासाधनीयम् येन प्रयुक्तोऽनवस्थामुपाददीतेति।

२८. धर्मकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक-२.४८४-दीर्घादिग्रहणं न स्याद् बहुमात्राऽनवस्थिते।

२९. श्रीहर्ष -खण्डनखण्डखाद्यम् - हिन्दी व्याख्या - श्रीहनुमान दास जी षट्शास्त्री, चौखम्भा प्रका. पृ.४५ ,वाराणसी।

३०. प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य ४.२ अवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम्। स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थानिवार्या ।

३१. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, २.२.२८ - न चार्थ व्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते स्वात्मनि क्रिया विरोधादेव।

३२. न्यायकणिका -मेडिकल हॉल,काशी पृ. २६५.

३३. दिङ्नाग - प्रमाणसमुच्चय १.१० - स्वसंवित्तिः फलम् चास्य ताद्रूप्यात् अर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥

३४. धर्मकीर्ति - प्रमाणवार्त्तिक २.४४४ - आत्मरूपं नो वेत्ति पररूपस्य वित् कथम्। सारूप्याद् वेदनाख्या च प्रागेव प्रतिवर्णिता ॥

३५. धर्मोत्तर - न्याय बिन्दु टीका १.१० - नास्ति च काचिद् चित्तावस्था यस्यात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षंस्यात्। येन ही रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवदेनं प्रत्यक्षम्।

३६. तत्त्वसंग्रह, २०११.

३७. तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी)- हिन्दी अनु., स्वामी योगीन्द्रानन्द, पृ. ५, षड़दर्शन प्रकाशन, वाराणसी

अध्याय : नौ



सारूप्य की अवधारणा

भारतीय दर्शन में प्रमाणों पर विचार करते हुए उसे दो प्रकार के मूल्यों के सन्दर्भ में सम्यक् रूप से समझा जा सकता है। इसमें पहले प्रकार को 'संज्ञानात्मक मूल्य' और दूसरे प्रकार को 'अवधारणात्मक मूल्य' कहना उचित हो सकता है। किसी भी प्रमाण को उसका संज्ञानात्मक मूल्य लोकव्यवस्था एवं लोकप्रतीति की अनुरूपता में निरूपित किये जाने से प्राप्त होता है, लेकिन वह अपने अवधारणात्मक मूल्य को एक विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि की अनुरूपता में निरूपित करते हुए प्राप्त करता है। अब, भारतीय दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में 'प्रत्यक्ष' को एक आधारभूत प्रमाण माना गया है, क्योंकि वह किसी वस्तु की साक्षात् उपलब्धि का साधन और साथ ही साथ उपलब्धि के प्रत्यक्षेतर साधनों का उपजीव्य होता है। परन्तु ऐसा होने पर भी प्रत्यक्ष की आधारभूत महत्ता को केवल उसके संज्ञानात्मक मूल्य तक सीमित नहीं किया जा सकता। उपजीव्यता[1] के कारणमूलक साधारण अर्थ से भिन्न एवं विशिष्ट इसके आधारभूत महत्त्व का एक बृहत्तर आयाम भी होता है। वह यह कि प्रत्यक्ष ही प्रथमतया किसी प्रमाणमीमांसा पर पड़ने वाले सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को वहन करता है। प्रत्यक्ष ही वह द्वार है जिसके माध्यम से तत्त्वमीमांसा किसी प्रमाणमीमांसा में अपनी 'विश्वदृष्टि' के साथ संक्रमित होती है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो मनुष्य के मूल्यात्मक अभिनिवेशों की कोई ज्ञानमीमांसा नहीं हो सकती। वास्तव में एक विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को आत्मसात् करते हुए ही कोई प्रमाणमीमांसा अपने स्वतंत्र एवं समानान्तर स्वरूप को विज्ञापित कर पाती

है। इस रूप में तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को किसी प्रमाणमीमांसा-विशेष के प्रति 'नीति निर्देशक तत्त्व' के रूप में समझा जा सकता है। सर्वप्रथम, प्रत्यक्ष ही उपजीव्य प्रमाण होने से तत्त्वमीमांसा से निर्दिष्ट होता है और तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के आलोक में निरूपित होते हुए अपने को अपने संज्ञानात्मक मूल्य के ऊपर अवधारणात्मक मूल्य में स्थापित करता है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि प्रत्यक्षपूर्वक ही अन्य प्रमाण फलित होते हैं, तो इसका तात्पर्य यह भी है कि तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के आलोक में स्वयं निरूपित होकर प्रत्यक्ष उन तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों को अन्य प्रमाणों तक अग्रसारित करते हुए ही उनका उपजीव्य होता है।

I

साधारण तौर पर प्रत्यक्ष को बड़ा ही सरल एवं शुद्ध प्रमाण माना जाता है। समझा जाता है कि यह इन्द्रियों के माध्यम से प्रदत्त वस्तु को उसी रूप में उपलब्ध कराता है जैसी वह होती है। परन्तु उपर्युक्त रूप में प्रत्यक्ष के अवधारणात्मक महत्त्व (तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के वाहक रूप में) को स्वीकार कर लेने पर प्रत्यक्ष के सरल एवं शुद्ध स्वरूप का निर्धारण प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से उतना सरल एवं शुद्ध नहीं रह जाता। प्रमाणमीमांसा के वैकल्पिक प्रारूपों के सम्भव होने के कारण उनके मध्य यह निश्चित कर पाना और भी कठिन हो जाता है कि प्रत्यक्ष का कोई सरल और शुद्ध स्वरूप होता है अथवा नहीं। वास्तव में प्रत्यक्ष का होना जितना निर्विवाद है उतना ही विवादस्पद यह है कि प्रत्यक्ष किसका और कैसे होता है ? यदि प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता, अर्थात् सद्य: एवं साक्षात्कारी ज्ञान, को कम से कम प्रत्यक्ष का सरल एवं शुद्ध स्वरूप मान भी लिया जाय तो भी साक्षात्कारित्व की आधारभूमि पर प्रत्यक्ष अपनी बहुविध व्याख्या का विरोध करता हुआ प्रतीत नहीं होता है। वस्तुत: प्रत्यक्ष की यह तथाकथित सरलता एवं शुद्धता ऐन्द्रिक संवेदन की एक ऐसी प्रभावाभिनत् स्थिति है कि उससे उसके स्वरूप एवं व्याख्या को आसानी से प्रभावित करते हुए प्रत्यक्ष विषयक एक से अधिक अवधारणाओं को निर्मित करने का लाभ लिया जा सकता है। इसीलिए तो विभिन्न दर्शनों के प्रस्थान-भेद से प्रत्यक्ष की भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ विकसित हुई हैं और तब भी सबके सब प्रत्यक्ष के नितान्त वास्तविक स्वरूप को ही उद्घाटित करने का दावा करते हैं। अवधेय है कि यदि किसी प्रमाणमीमांसा-विशेष के अन्तर्गत प्रत्यक्ष पर संशोधनात्मक तरीके से विचार करते हुए उसके सरल एवं शुद्ध स्वरूप को उद्घाटित करने का एक नवीन दावा किया जाता है तो ऐसे प्रयासों में भी प्रत्यक्ष को किसी अन्य प्रकार के तत्त्वमीमांसीय अधिभारों से युक्त रूप में निरूपित किये जाने का आग्रह ही अन्तर्निहित होता है। अतएव प्रत्यक्ष की बहुविध व्याख्या की सम्भावना को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक दृष्टि से प्रत्यक्ष का संज्ञानात्मक मूल्य जितना

महत्त्वपूर्ण नहीं होता उससे कहीं अधिक उसका अवधारणात्मक मूल्य होता है। प्रत्यक्ष को ऐसा अवधारणात्मक मूल्य किसी तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता की अनुरूपता में निरूपित किये जाने से प्राप्त होता है और वहीं से वह अपने निर्दिष्ट स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए युक्तियों एवं तर्कों को भी आहरित करता है। दो या दो से अधिक दर्शनों के मध्य प्रत्यक्षविषयक जो निर्णायक मतभेद होते हैं उन्हें प्रत्यक्ष के अवधारणात्मक मूल्य के संदर्भ में ही सम्यक् रूप से समझा जा सकता है।

प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की त्रिपुटीय संरचना (प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय) में करण एवं विषय उसके दो महत्त्वपूर्ण घटक होते हैं। ज्ञान के स्वरूप और उसकी व्याख्या में बदलाव के प्रति दोनों घटकों की निर्णायक भूमिका होती है। एतदर्थ तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के आलोक में प्रत्यक्ष अपने को निरूपित करे, इसके लिए उसे अपने करण एवं विषय में परस्पर सामंजस्य स्थापित करते हुए दोनों ही दृष्टियों से अपने को निरूपित करना पड़ता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के करणोपकरण एवं विषय को लेकर रोचक विवादों का एक लम्बा इतिहास देखने को मिलता है। प्रमाणों के लक्षण, संख्या, विषय और फल सम्बन्धी विवाद का मूल भी यही है। इसका एक प्रमुख निहितार्थ यह भी रहा है कि प्रत्यक्ष के करणात्मक पक्ष की व्याख्या में किसी प्रकार का बदलाव प्रत्यक्ष के स्वरूप को प्रभावित करते हुए उसके विषय पक्ष में भी बदलाव के पूर्वग्रह को न्यूनाधिक रूप से सूचित करता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष के करणात्मक पक्ष की व्याख्या ही प्रत्यक्ष की उस पात्रता को निर्धारित करती हुई प्रतीत होती है कि निर्दिष्ट प्रत्यक्ष का विषय कैसा होगा ? अब यदि विषय का स्वरूप एक तत्त्वमीमांसीय निर्धारण है तो प्रत्यक्ष के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वह तदनुरूप ही अपने को इस तरह निरूपित करे कि प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता और निर्दिष्ट विषय के प्रति उसकी प्रमाणता दोनों ही सुरक्षित रह सकें। प्रत्यक्ष का ऐसा निरूपण इस बात पर आवश्यक रूप से निर्भर करता है कि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के करणोपकरण की प्रस्थिति और भूमिका को किस रूप में स्वीकार किया गया है।

भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिंतन में प्रत्यक्ष के करणात्मक पक्ष से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के सिद्धांतों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। इनमें इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षवाद (न्यायवैशेषिक), सामग्रीकारणवाद (जरन्नैयायिक जयन्तभट्ट), ज्ञातृव्यापारवाद (मीमांसक), इन्द्रियवृत्तिवाद (सांख्य-योग), अन्त:करणवृत्तिवाद (अद्वैतवेदान्त) एवं सारूप्यवाद (बौद्ध) इत्यादि प्रमुख हैं। ऐसे ही प्रत्यक्ष के विषय से सम्बन्धित जातिविशिष्ट व्यक्ति, सामान्य-विशेषाश्रय व्यक्ति, महासामान्य ब्रह्म एवं सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षण इत्यादि सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं। इन सभी सिद्धांतों की यथास्थिति में उनके करणपक्ष एवं विषयपक्ष के मध्य तत्त्वमीमांसीय हस्तक्षेप कुछ

मूलभूत अवधारणाओं के माध्यम से प्रसवित होता है। इन्हें ज्ञान की सविषयता, निराकारता और पर-प्रकाशता तथा ज्ञान की निर्विषयता, साकारता और स्वयंप्रकाशता के रूप में मोटे तौर पर रेखांकित किया जा सकता है। अवधेय है कि उपर्युक्त दोनों वर्गों के सिद्धांत ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में दो परस्पर विरोधी तत्त्वमीमांसीय दृष्टियों (अपने विकसित रूप में वस्तुवाद और विज्ञानवाद) का प्रतिनिधित्व करते हैं और साथ ही साथ ज्ञान की संरचना और स्वरूप को बहुत गहरे अर्थों में प्रभावित भी करते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इसी परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हम 'सारूप्य' की बौद्ध अवधारणा को सन्दर्भ बनाकर प्रत्यक्ष के करण एवं विषय पक्ष के मध्य तत्त्वमीमांसीय हस्तक्षेप और समायोजन को उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे।

II

बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा अनात्मवाद और क्षणभंगवाद की तात्त्विक पृष्ठभूमि में कुछ ऐसी विशिष्टताओं को लेकर विकसित हुई है जिसके चलते भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान उपस्थापनीय है। सारूप्यवाद को छोड़कर उपर्युक्त रेखांकित सभी सिद्धांत ज्ञान को किसी न किसी तरह से प्रकाशक मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध प्रकाशक और प्रकाश्य का सम्बन्ध है। इसके लिए दृष्टान्त भी प्राय: दीपक और उसके प्रकाश में प्रकाशित होने वाली वस्तुओं का दिया जाता है। यहाँ अवधेय है कि जब ज्ञान का स्वभाव ही 'पर' का प्रकाशन है तो दूसरे को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को भी स्वयं किसी अन्य से ही प्रकाशित मानना पड़ेगा। तब या तो अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होगी अथवा मूल में एक ऐसे तत्त्व को स्वीकार करना पड़ेगा जो स्वयंप्रकाशित हो। ऐसी स्थिति में स्वयंप्रकाशित तत्त्व के द्वारा अन्य का प्रकाशन और अन्य से प्रकाशित होकर किसी अन्य का प्रकाशन एक ही तरह एवं एक ही स्तर के प्रकाशन नहीं कहे जा सकते। इन दोनों प्रकार के प्रकाशनों का अन्तर इस बात में निहित है कि स्वयंप्रकाशित तत्त्व आवश्यक रूप से आत्मचेतन होता है जबकि दूसरे से प्रकाशित होकर दूसरे को प्रकाशित करने वाला तत्त्व चेतन तो हो सकता है लेकिन उसका आत्मचेतन होना आवश्यक नहीं है। वस्तुत: चेतना केवल ज्ञानात्मक ही होती है जो अपने प्रभाव-क्षेत्र में आने वाली वस्तुओं का यथावत् प्रकाशन मात्र करती है। इससे भिन्न आत्मचेतना मात्र ज्ञानात्मक नहीं होकर सृजनात्मक भी होती है और किसी वस्तु को आत्मसात् कर उसे प्रतिभासित करती है और फिर विकल्पित। बौद्धों के 'सारूप्यवाद' का उद्गम इसी मूलगामी दृष्टि में है कि ज्ञान, वास्तव में, प्रकाशक नहीं अपितु प्रतिभासक होता है, क्योंकि सभी ज्ञानात्मक स्थितियाँ अपने स्वरूप में ही आत्मचेतन हुआ करती हैं। प्रत्येक चेतना का आत्मचेतन होना अनिवार्य है। (सर्व चित्तचैत्तानामात्म- संवेदनम्)।

किसी विषय का प्रकाशक होना, यह विषय की अपेक्षा होने से विषयाधिशासित दृष्टि है, यहाँ हमें चेतना का महज ज्ञानात्मक स्वरूप प्राप्त होता है। परन्तु ज्ञान के आत्मचेतन स्वरूप की यह अपेक्षा है कि वह विषय का प्रतिभासक हो, अर्थात् विषय को अपने आयाम में आत्मसात् कर उसे प्रकाशित करे। अतएव प्रतिभासवाद में, वास्तव में, विषयितामूलक दृष्टि से हमें चेतना का न केवल ज्ञानात्मक स्वरूप बल्कि आत्मचेतना का सृजनात्मक स्वरूप भी प्राप्त होता है। इस रूप में अर्थप्रकाशक चेतना और अर्थप्रतिभासक चेतना की अवान्तर निष्पत्ति भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की दो आधारभूत दृष्टियों, निराकारज्ञानवाद और सकारज्ञानवाद में होती है, जो ज्ञान के स्वरूप को अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं। पुन: सारूप्यवाद के अतिरिक्त सभी सिद्धांत ज्ञान के विषय को ज्ञान-क्रिया से स्वतंत्र स्थापित करने का हर सम्भव प्रयास करते हैं, जिससे कि ज्ञान एक सकर्मक क्रिया बनी रहे। लेकिन बौद्धों का सारूप्य -सिद्धांत अकेले ही इसका विरोध करता है और अपनी चरम परिणति में ज्ञान के विषय को ज्ञान-क्रिया में ही अन्तर्भुक्त कर देता है जिससे ज्ञान की अपने स्वरूप में ही अवगति बनी रहे और वह अपना ही अतिक्रमण करने के दोष से भी मुक्त रह सके (स्वरूपस्य स्वतो गति:)। 'ज्ञान अपना अतिक्रमण नहीं कर सकता', इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञान की व्यवहारसम्मत विषयमूलकता और विषयप्रापकता का उच्छेद हो जाता है। हम आगे देखेंगे कि सारूप्यवाद में यह किस प्रकार सुरक्षित रहता है। अन्त में उपर्युक्त दोनों प्रकार के अभ्युपगमों की एक महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति प्रमाण और प्रमाणफल के भेद और अभेद में होती है। सारूप्यवाद प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद का समर्थक सिद्धांत है। इस प्रकार, वास्तव में, सारूप्यवाद बौद्ध प्रमाणमीमांसा की एक आधारभूत दृष्टि है जो अपनी सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ उसे व्यावर्त्तक स्वरूप प्रदान करती है। अपने विकास-क्रम में सारूप्य के सिद्धान्त की व्याप्ति न्याय-वैशेषिक, मीमांसा इत्यादि दर्शनों के साधारण वस्तुवाद के विरोध से लेकर निरालम्बनवादी विज्ञानवाद और उसके विभिन्न प्रारूपों तक देखी जा सकती है। परन्तु सारूप्यवाद का वास्तविक स्वरूप साधारण वस्तुवाद और निरालम्बन विज्ञानवाद के मध्य ही न्यूनाधिक रूप से उभरता है।

बौद्ध साहित्य में सारूप्य की अवधारणा के आरम्भिक सन्दर्भ कथावत्थु[2] और अभिधम्मत्थ सङ्गहो[3] इत्यादि पालि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। लेकिन ज्ञानमीमांसीय महत्त्व की दृष्टि से इसका प्रारम्भिक रूप इन्द्रियों की साकारता (इन्द्रिय-विकार) के रूप में वैभाषिकों की प्रत्यक्ष सम्बन्धी अवधारणा में मिलता है, यद्यपि स्वयूथ्य एवं परयूथ्य के दार्शनिकों की तरह वैभाषिकों ने प्रत्यक्ष की ज्ञानमीमांसा उस रूप में प्रस्तुत नहीं की है जैसी कि प्रमाणशास्त्र में रुचि रखने वाले अन्य दर्शन करते हैं। वस्तुत: प्रत्यक्ष

की एक विशेष अवधारणा वैभाषिकों के द्वारा किये गये धर्म-प्रविचय में अन्तर्निहित है, क्योंकि प्रविचित धर्मों की संज्ञा ही है- अवबोधोपयोगिन: पदार्था: ।[४] अवबोधोपयोगी पदार्थों के रूप में धर्मों के प्रविचय के पीछे वैभाषिकों की मूलभूत दृष्टि इस संसार में चेतना की लोक-प्रवृत्ति को समझ कर चेतना की लोक-निवृत्ति के सूत्रों को खोजने की थी। इसीलिए अभिधर्म की व्याख्या 'प्रज्ञाऽमलासानुचराभिधर्म:'[५] अर्थात् 'निर्वाणोन्मुखी धर्म' के रूप में की गई है। चित्त की लोक-प्रवृत्ति अर्थात् विषयोन्मुखता के साथ ही संवेद की प्रक्रिया और उससे सम्बन्धित एक सिद्धान्त का जन्म हो जाता है। संवेद की प्रक्रिया और उसके विभिन्न पहलुओं की जाँच-पड़ताल किये बिना हम चित्त की लोक-प्रवृत्ति को पुंखानुपुंख समझ भी नहीं सकते हैं। वैभाषिकों ने इसके लिए 'ये धम्मा हेतु प्रभवा...' इस बुद्ध-वचन को आधार बनाकर अवबोधोपयोगी तत्त्वों का प्रविचय, अर्थात् छान-बीन, स्कन्ध, आयतन और धातुओं के रूप में की है। स्कन्ध के अन्तर्गत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान परिगणित हुए हैं। आयतन के रूप में पंच ज्ञानेन्द्रियों और एक मन तथा तत्तद् इन्द्रियों के रूप-शब्दादि विषयों को सम्मिलित किया गया है। इसी तरह द्वादश आयतनों में षड्विध इन्द्रियविज्ञानों को सम्मिलित कर अष्टादश धातुओं की व्यवस्था की गई है। हमारा जीवन और जगत् इन्हीं धर्मों की एक सुसंहत व्यवस्था है। इस व्यवस्था में धर्मों की ही यथार्थ सत्ता है, धर्म-संघात को कल्पित अथवा अविद्या-दृष्टि के रूप में मान्य किया गया है। वस्तुत: संघात-दृष्टि ही वैभाषिक-सम्मत पुद्‌गलनैरात्म्य-दृष्टि है। प्रत्येक धर्म संस्कृत, अर्थात् हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण एक-दूसरे से सर्वथा पृथक्-पृथक्, क्षणिक, स्वलक्षणात्मक, प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं अनात्मलक्षण से संयुक्त होते हैं। यहाँ तक कि इन्हें बाह्य एवं आन्तरिक धर्म के रूप में भी वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। धर्मों का बाह्य और आन्तरिक धर्म के रूप में विभाजन एक अनौपचारिक अभिनिवेश है क्योंकि विज्ञान जिस रूप में एक संस्कृत धर्म है विज्ञान का विषय भी उसी रूप में एक संस्कृत धर्म है। सब धर्म एक-दूसरे के लिए बाह्य ही हैं और अपनी-अपनी स्वायत्तता का उपभोग करते हुए भाव, लक्षण, अवस्था एवं कारित्र की दृष्टि से क्षणे-क्षणे अध्व-संक्रमण करते रहते हैं, परन्तु द्रव्यात्मक दृष्टि से इनके त्रैकालिक अस्तित्त्व को मान्य किया गया है।[६] ऐसे पृथक्-पृथक् धर्मों की सुसंहत व्यवस्था प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के अन्तर्गत एक व्यापक निर्मिति है।[७]

वैभाषिक-सम्मत अवबोधोपयोगी धर्मों की उपयुक्त व्यवस्था में प्रत्यक्ष विषयक प्रमाणमीमांसीय प्रश्न उनकी क्षणिकता के चलते तनिक जटिलता के साथ इस रूप में प्रस्तुत होते हैं कि ज्ञान के क्षणभंगुर घटक ज्ञानोत्पत्ति में किस प्रकार का सहयोग करते हैं ? पारमार्थिक रूप में प्रदत्त धर्मों की प्रत्यक्षोपलब्धि कल्पित धर्म-संघात दृष्टि की

व्याख्या के लिए आवश्यक है, अन्यथा प्रदत्त और कल्पित का भेद ही समाप्त हो जायेगा। ज्ञानोत्पत्ति के सम्बन्ध में बौद्ध दार्शनिकों की एक सामान्य मान्यता है कि नील-पीत इत्यादि विज्ञानों की उत्पत्ति आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय,और सहकारी प्रत्यय के अधीन होती है।[८] नील-वस्तु नील-विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय हैं क्योंकि इसी के चलते नील-विज्ञान नील-वस्तु विषयक होता है। इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय हैं, क्योंकि नीलादि विज्ञानों के आश्रय होने के साथ-साथ रूपादि ज्ञान की परिच्छेदक इन्द्रियाँ ही होती हैं। समनन्तर प्रत्यय बौद्धों की एक विशेष अवधारणा है। चित्त की सन्तान-धारा में पूर्ववर्ती क्षण उत्तरवर्ती क्षण के प्रति समनन्तर प्रत्यय होता है। इसी के चलते विज्ञान में 'इदं नीलं' रूप बोधरूपता आती है। इसके अतिरिक्त, प्रकाश आदि को सहकारी प्रत्यय के रूप में परिगणित कर लिया गया है। कोई भी ज्ञान इन्हीं कारणभूत प्रत्ययों से प्रतीत्यसमुत्पन्न एक मिश्रित उत्पाद है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि ज्ञान के कारणभूत घटकों में प्रत्यय रूप से उन्हीं आयतनों एवं धातुओं को प्रकारान्तर रूप में ग्रहण किया गया है जो एक-दूसरे से स्वतंत्र एवं पृथक्-पृथक् क्षणों में विभक्त हैं। ऐसा होने से प्रथमतया ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या में आपातत: यह निश्चित करने में कठिनाई प्रतीत होती है कि ज्ञान के कारणभूत घटकों का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार होता है ? इनका पारस्परिक सम्बन्ध उतना ही आवश्यक है जितना कि स्वयं ज्ञान का घटित होना। परन्तु क्षणिक धर्म आखिर किस प्रकार एक-दूसरे से सम्बन्धित हो सकते हैं ? पुन: ज्ञान के कारणभूत घटकों का कालिक अनुक्रम में विनियोग भी सम्भव नहीं है, जो विषय-वस्तु और उसके ज्ञान में कारण-कार्य सम्बन्ध और स्वयं ज्ञान की क्रियामीमांसीय व्याख्या के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। वस्तुत: क्रिया की उत्पत्ति-प्रक्रिया में ज्ञानोत्पत्ति का विश्लेषण जब स्थैर्यवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत किया जाता है तो क्षणिकवादी दृष्टि से ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या में उपर्युक्त विप्रतिपत्तियों का दिखाई पड़ना स्वाभाविक ही है। परन्तु ज्ञानोत्पत्ति का क्रियामीमांसीय सिद्धांत कोई अन्तिम और सर्वतन्त्र स्वतंत्र सिद्धान्त नहीं है।[९] इसकी व्याख्या दूसरे सिद्धान्त के द्वारा भी की जा सकती है। सर्वास्तिवादी वैभाषिकों ने "सर्व: स स्पर्श प्रतीत्य" की दृष्टि से ज्ञानोत्पत्ति को कालिक अनुक्रम में न देखकर सन्निपात के प्रारूप में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानोत्पत्ति के कारणभूत घटकों का समवधान, वास्तव में, कालिक अनुक्रम में न होकर समानान्तर और युगपद् रूप में होता है। ये सभी घटक अपनी समानान्तर और युगपद् उपस्थिति के अतिरिक्त ज्ञान को उत्पन्न करने में किसी अन्य प्रकार की क्रिया नहीं करते, जैसाकि परयूथ्य के दार्शनिक कर्त्ता, करण, करणनिष्ठ व्यापार तथा फल के रूप में ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या करते हैं। ज्ञानोत्पत्ति के घटक तत्त्वों का स्वभाव ही ऐसा है कि उनके बीच न

कोई वास्तविक सम्बन्ध है और न कोई वास्तविक क्रिया-प्रतिक्रिया ही है, फिर भी उन कारण सामग्रियों के युगपद् सन्निपात से विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है। वैभाषिकों के अनुसार आलम्बन, इन्द्रिय-विकार और विज्ञान का त्रिक सन्निपात होना ही प्रत्यक्ष का घटित होना है। त्रिक सन्निपात को पारिभाषिक शब्दावली में 'फस्सो' (पालि) अथवा स्पर्श (संस्कृत) कहा जाता है।[१०] त्रयी का स्पर्श होने से इन्द्रियाँ विकारी होती हैं[११] और तत्तद् इन्द्रियाश्रित विज्ञानों के द्वारा तत्तद् विषयों का साक्षात्कार होता है। उदाहरण के लिए चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण, रूप का एक क्षण और विज्ञान का एक क्षण इन तीनों के युगपद् स्पर्श से चक्षुरिन्द्रिय में रूप का विकार, अर्थात् रूपाकारवृत्ति होती है और तदाश्रित चक्षुर्विज्ञान द्वारा रूप-स्वलक्षण का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। ऐसे ही सभी इन्द्रियों का विकारी होना और तत्तद् आश्रित इन्द्रिय विज्ञानों द्वारा उनसे परिच्छेदित विषयों का प्रत्यक्ष समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में वैभाषिकों की एक विशेष मान्यता है कि चक्षुरिन्द्रिय देखती है और विज्ञान जानता है।[१२] यहाँ चक्षुरिन्द्रिय से सभी इन्द्रियों की उपलक्षण रूप से विवक्षा है। प्रत्यक्ष के घटित होने की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया कारण सामग्रियों के युगपद् सन्निपात से ठीक वैसे ही होती है जैसे सूर्य का उदय और दिवस का होना।

इस प्रकार वैभाषिकों के प्रत्यक्ष-विचार में सारूप्य जैसी किसी अवधारणा को खोजने का प्रयास किया जाय तो कहा जा सकता है कि उनके मत में सारूप्य का ग्रहण इन्द्रियविज्ञानों के द्वारा न होकर इन्द्रिय-विकार के रूप में फलित होता है। इस सम्बन्ध में तीन बातें विचारणीय हैं। प्रथमत: यह कि वस्तुक्षण (आलम्बन प्रत्यय), इन्द्रियक्षण (अधिपति प्रत्यय) और विज्ञानक्षण (समनन्तर प्रत्यय) का स्पर्श (सन्निपात) होने से इन्द्रियाँ विकारी होती हैं। इन्द्रियों के विकारी होने का तात्पर्य उनमें वस्तुक्षण के आकार का आकारित होना है जिसे इन्द्रियाँ अपनी सम्प्राप्तग्राही और असम्प्राप्तग्राही[१३] प्रकृति के अनुसार ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों में वस्तुप्रतिभास गृहीत होने के पीछे वैभाषिकों का एक साधारण तर्क यह है कि चूँकि सप्रतिघ (मूर्त-व्यवधान युक्त) रूपों का प्रतिभास नहीं होता और 'तद्भावभावित्व' के नियम से रूपादि विषयों का परिच्छेद इन्द्रियों द्वारा ही निर्धारित होता है अतएव इन्द्रियों के द्वारा ही प्रतिभास ग्रहण समीचीन है।[१४] आँखों से देखना, कानों से सुनना इत्यादि लोकव्यवहार भी इसी का समर्थन करता है। द्वितीय यह कि वैभाषिक निराकारज्ञानवादी हैं।[१५] इनके मत में इन्द्रियाँ साकार और इन्द्रियाश्रित विज्ञान निराकार होता है। इन्द्रियाश्रित विज्ञानों के द्वारा वास्तव में इन्द्रियगत प्रतिबिम्बों का साक्षात्कार किया जाता है। यदि विज्ञान में ही रूपादि का प्रतिभास माना जाय तो सप्रतिघ रूपों का भी ग्रहण होने लगेगा।[१६] विज्ञान का चूँकि स्वभाव ही अप्रतिघ होता है अत: प्राचीर, कुड्यादि रूपी धर्म उसके गमन में बाधक नहीं होते। तृतीय यह कि

वस्तुक्षण, इन्द्रियक्षण और विज्ञानक्षण के त्रिक सन्निपात होने से ज्ञेय वस्तु-क्षण अपने विज्ञान-काल में मृतपूर्ववर्ती क्षण नहीं बल्कि अपने ज्ञान के साथ-साथ जीवित रहता है। वैभाषिकों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे सहभूहेतुओं की अन्योन्य हेतु-फल-व्यवस्था कहते हैं।[१७] अपनी इसी मान्यता के चलते उन्हें क्षणस्थायी बाह्यार्थों के अव्यवहित प्रत्यक्ष को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

III

सौत्रान्तिकों ने वैभाषिकों के प्रत्यक्ष की व्याख्या और उससे सम्बन्धित उपर्युक्त त्रिविध निष्पत्तियों की कटु आलोचना करते हुए कुछ मूलभूत परिष्कारों को प्रतिपादित किया है। ऐसे परिष्कार मूलत: क्षणिकता की अवधारणा के तार्किक स्वरूप को लेकर किये गये हैं। लेकिन सर्वास्तिवादी ज्ञानमीमांसा पर उनका जैसा प्रभाव पड़ा है उससे ज्ञान के विषय और कारण पक्ष की व्याख्या बदली है और परिणामस्वरूप 'सारूप्य' की अवधारणा को आधारभूत ज्ञानमीमांसीय प्रस्थिति एवं भूमिका प्राप्त हुई है।

सौत्रान्तिकों के द्वारा किया गया पहला परिष्कार संस्कृत धर्मों के स्वरूप-लक्षण से सम्बन्धित है। बुद्ध वचनों में संस्कृत धर्मों को उत्पाद, व्यय और स्थित्यन्यथात्व नामक तीन लक्षणों से प्रज्ञात बताया गया है।[१८] वैभाषिक इसके आधार पर संस्कृत धर्मों की व्याख्या जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता नामक चतुर्विध लक्षणों के अन्तर्गत करते हैं।[१९] जाति संस्कृत धर्मों का उत्पाद लक्षण है, स्थिति उनका स्थापनीय लक्षण है, जरा उनके ह्रास लक्षण को सूचित करती है और अनित्यता उनका विनाशी लक्षण है। इस तरह वैभाषिक संस्कृत धर्मों के अतीत, वर्तमान और अनागत कारित्र के आधार पर उनकी त्रैकालिकता और क्षणिकत्व (द्रव्यगत त्रैकालिकता और भाव, लक्षण, अवस्था एवं कारित्र की दृष्टि से क्षणिकत्व) का समन्वय करते हैं। सौत्रान्तिक इसकी आलोचना करते हुए पूछते हैं कि यदि धर्मों के वर्तमानकालिक अस्तित्व की तरह ही उनका अतीत और अनागत अस्तित्व है तो उन्हें आखिर किस लिए अतीत और अनागत कहा जाता है ? ऐसा मानने से तो धर्मों के त्रैकालिक लक्षणों का किसी भी एक काल में व्यामिश्रण हो जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि धर्मों की सत्ता तो तीनों कालों में रहती है लेकिन कारित्र केवल वर्तमानकालिक होता है, क्योंकि वास्तव में कारित्र से पृथक् एवं परे धर्मों की कोई अन्य सत्ता नहीं है। वैभाषिकों के ऐसे विचार शाक्यगोत्रीय न होकर एक प्रकार से प्रच्छन्न शाश्वतवाद मूलक हैं जो स्वयं के तर्कबल पर खड़ा न होकर बुद्ध-वचनों के विनेयजन-सुलभ अर्थ को उनका गूढ़ार्थ समझता है। सौत्रान्तिकों के अनुसार यावत्संस्कृत धर्मों का केवल उत्पाद और विनाश ही वास्तविक लक्षण है।[२०] उत्पाद और विनाश के निरन्तर प्रवाह में वैभाषिकों के चारों लक्षणों का अन्तर्भाव एवं समन्वय हो जाता है। उत्पाद अभूत्वाभाव है, स्थिति प्रबन्ध है, जरा

इसकी पूर्वापर विशिष्टता है और अनित्यता प्रवाह का उच्छेद है।[21] इस तरह संस्कृत धर्मों का केवल अभूत्वाभाव और भूत्वाभाव होता है। धर्मों का वास्तविक स्वभाव कारित्र (या भूति सैव क्रिया) है। इस दृष्टि से तत्क्षण क्रिया को समाप्त कर निरन्वय विनाश ही क्षणिकता का वास्तविक अर्थ है।[22]

सौत्रान्तिकों के द्वारा किया गया दूसरा महत्त्वपूर्ण परिष्कार सहभू हेतुओं की अवधारणा से सम्बन्धित है। वैभाषिकों के अनुसार सभी धर्म स्वत: से अन्य सभी संस्कृत धर्मों के कारण हेतु हैं, क्योंकि उत्पन्न होने वाले सभी धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविघ्न भाव से अवस्थान होता है।[23] परन्तु कुछ एक धर्म सहोत्पन्न, अर्थात् साथ-साथ उत्पन्न होने से सहभूहेतु कहलाते हैं। सहभूहेतुओं की विशिष्टता यह है कि उनका परस्पर हेतु-फलभाव होता है।[24] उदाहरण के लिए चक्षु, रूप और विज्ञान क्षण सहभू-हेतु के रूप में उत्पत्तिमान् धर्म कहे जाते हैं। इनके मध्य परस्पर अर्थक्रिया होने से परस्पर हेतु-फलभाव व्यवस्थित होता है। सौत्रान्तिक इसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि लोक में कुछ वस्तुओं का हेतु-फलभाव सदैव इस रूप में व्यवस्थित है कि हेतु फल का नियत पूर्ववर्ती होता है। परन्तु सहोत्पन्न धर्मों में इस न्याय की प्रयुक्ति नहीं देखी जाती।[25] यहाँ न्याय शब्द का प्रयोग लौकिक निर्धारण के अर्थ में हुआ है, जो इस बात का द्योतक है कि सौत्रान्तिक मत में परमार्थत: और वास्तविक रूप में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि वास्तव में सभी धर्म निर्व्यापार हैं। वैभाषिकों का इस पर कहना है कि ''तद्भावभावित्व'' रूप अन्वयव्यतिरेक ही हेतु-फल व्यवस्था का सुष्ठु लक्षण है और यह नियम सहोत्पन्न धर्मों पर लागू होता है।[26] यहाँ सौत्रान्तिकों का पक्ष यह है कि सहोत्पन्न धर्मों में एक धर्म दूसरे धर्म का हेतु हो सकता है परन्तु सहोत्पन्न धर्म परस्पर हेतु और फल के रूप में व्यवस्थापित नहीं किये जा सकते।[27] क्षणिकवाद में फलोत्पत्ति के क्षण में हेतु क्षण का सहावस्थान सम्भव नहीं है। यह बात सही है कि आलम्बन प्रत्यय (रूप), अधिपतिप्रत्यय (इन्द्रिय) और समनन्तरप्रत्यय (पूर्ववर्ती विज्ञान) की सहोत्पत्ति हेतु रूप से प्रथम क्षण है लेकिन इन्द्रिय-विज्ञान रूप फलोत्पत्ति द्वितीय क्षण में होती है।[28] इस द्वितीय क्षण में सहोत्पन्न रूप-इन्द्रियादि निरूद्ध हो चुके रहते हैं। वास्तव में हेतु-प्रत्ययवाद के अन्तर्गत विषयपरिच्छेदक इन्द्रिय-विज्ञान सहोत्पन्न नहीं बल्कि समनन्तरोत्पन्न हुआ करता है। हेतु और फल को सहोत्पन्न मानने पर फल, जो कि जन्य धर्म है, उसका अतिक्रम होगा और यह कथमपि उचित नहीं है।[29] वस्तुत: सौत्रान्तिकों के अनुसार संज्ञान की व्याख्या में कारणभूत घटकों अर्थात् सहभूहेतुओं का परस्पर हेतु-फल-भाव इसलिए व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे सभी परस्पर अर्थक्रियाकारी नहीं होते बल्कि सहभूहेतु एकार्थक्रियाकारिता के द्वारा इन्द्रिय-विज्ञान रूपी फल को उत्पन्न

करते हैं। सहभू हेतुओं की एकार्थक्रियाकारिता मानने पर ही हेतु और फल (इन्द्रिय-विज्ञान) का पूर्वापर भाव व्यवस्थित रहता है।

सौत्रान्तिकों के द्वारा किया गया तीसरा परिष्कार इन्द्रियों और इन्द्रियाश्रित विज्ञानों की संज्ञान विषयक भेदपूर्ण भूमिका से सम्बन्धित है। यह परिष्कार पूर्व के दोनों संशोधनों की पृष्ठभूमि में सारूप्य की अवधारणा को सीधे-सीधे प्रस्तावित करता है। काश्मीरी वैभाषिकों का मानना है कि चक्षु के द्वारा रूप को देखा जाता है और विज्ञान के द्वारा उसे ही जाना जाता है। (चक्षु: पश्यति, विज्ञानं विजानाति)।[30] इस प्रश्न पर वैभाषिकों एवं सौत्रान्तिकों के बीच बहुत लम्बा वाद-विवाद हुआ है। दोनों अपने-अपने अनुकूल आगमों की सुविधापेक्षी व्याख्या एवं युक्तियों का संग्रह करते हैं। अन्त में सौत्रान्तिक[31] इस टिप्पणी के साथ विवाद को समाप्त कर देता है कि चक्षु देखता है और विज्ञान को वस्तु की चेतना होती है - दोनों में अन्तर करते हुए विवाद करना शून्याकाश को चबाने जैसा है। कौन द्रष्टा है, कौन सी क्रिया है, यह सब निरर्थक प्रश्न हैं। धर्मों के अतिरिक्त किसी अन्य का अस्तित्व नहीं है। वे ही निर्व्यापार धर्म हेतु-प्रत्यय रूप से समुत्पन्न होते हैं। 'चक्षु देखता है', विज्ञान को ज्ञान होता है, जैसी अभिव्यक्तियों का महत्त्व केवल लोक-व्यवहार के लिए है। इस प्रकार की लोक-प्रचलित अभिव्यक्तियों का वास्तव में सैद्धान्तिक निर्धारण की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। ऐसा स्वयं बुद्ध का वचन भी है -'जनपद-निरुक्ति नाभिनिवेशेत संज्ञा च लोकस्य नाभिधावेत।'

वस्तुत: इन्द्रियों और इन्द्रियाश्रित विज्ञानों के कार्यों का 'पश्यति' और 'विजानाति' के रूप में द्वैधीकरण करते हुए वैभाषिक विज्ञानों की निराकारता और इन्द्रियों की साकारता का प्रतिपादन करना चाहते थे। इस आधारभूमि पर बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी दृष्टि से सर्वास्तिवाद की प्रतिष्ठा करना अपेक्षाकृत आसान था। परन्तु सौत्रान्तिकों को ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में इन्द्रियों के साकार होने जैसा हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं है। वास्तव में इन्द्रियों की साकारता और साकार इन्द्रियों में निराकार विज्ञान की आश्रयता, जैसा कि वैभाषिक मानते हैं, कथमपि उचित नहीं। उनकी दृष्टि में इन्द्रियाँ एक तटस्थ और पारदर्शी द्वार की तरह हैं। इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय के रूप में विज्ञानाश्रय होती हैं लेकिन स्वयं को ज्ञान में निविष्ट नहीं करतीं। भर्तृहरि के प्रसिद्ध टीकाकार हेलाराज[32] का भी ऐसा ही मानना है कि ज्ञानोत्पत्ति में सहयोगी होते हुए भी स्वयं को ज्ञान में निविष्ट न करना, ज्ञान के कारणों में से कुछ का स्वभाव ही ऐसा होता है। ज्ञानेन्द्रियों का स्वभाव ऐसा ही समझना चाहिए। ज्ञानश्री मित्र ने भी इन्द्रियों की भूमिका को 'कल्याणकामनामात्रमेतत्' रूप से ही निर्धारित किया है।[32क] इस प्रकार सौत्रान्तिक अपना पक्ष इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूपादि में प्रवृत्त नहीं होती अपितु चक्षुर्विज्ञान, अर्थात् चक्षु को सम्मुख करता हुआ विज्ञान ही रूप का

ग्रहण करता है। विज्ञान के द्वारा सप्रतिघ रूपों के ग्रहण का प्रसंग (वैभाषिक आपत्ति) तो तब उत्पन्न होगा जब यह माना जाय कि विज्ञान चक्षुरिन्द्रियों से निरपेक्ष होकर रूपादि के ग्रहण में प्रवृत्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रसंग में एक और परिष्कार जो अवधेय है वह यह कि वैभाषिक विज्ञान का स्वसंवेदन स्वीकार नहीं करते जबकि सौत्रान्तिक स्वसंवेदन को अनिवार्य मानते हैं।

IV

अब यदि उपर्युक्त परिष्कारों के साथ सौत्रान्तिक व्याख्या की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रत्यक्ष का स्वरूप कुछ भिन्न रूप में सामने आता है, साथ ही साथ वैभाषिकों का 'बाह्य प्रत्यक्षवाद' कतिपय विरोधाभासों से भरा हुआ प्रतीत होता है। वस्तुत: वैभाषिकों ने क्षणिकता की अवधारणा को गम्भीरता से नहीं लिया है और तदनुरूप उनकी प्रत्यक्ष की व्याख्या भी उसी अगम्भीरता के साथ प्रस्तुत हुई है। प्रत्यक्ष साधारण अर्थ में प्रदत्त का साक्षात् बोध है। सौत्रान्तिक समीक्षा में प्रदत्त का स्वरूप अर्थक्रियाकारी होने से अत्यन्त क्षणिक है, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही रूपों में क्षणिकत्व को ही सिद्ध करता है। अतएव प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय भी वही क्षणिक धर्म होना चाहिए। परन्तु कठिनाई यह है कि उनके अनुसार न केवल धर्म क्षणिक हैं बल्कि प्रत्यक्ष बोध भी उतनी ही क्षणिक है। यहाँ क्षणिक विज्ञानों के निरन्तर उत्पाद-विनाश के अतिरिक्त किसी आधारभूत नित्य आत्मा को भी नहीं स्वीकार किया गया है जो ज्ञायमान वस्तु में होने वाले सतत् परिवर्तन को ग्रहण कर सके। पुन:, प्रत्यक्ष की प्रक्रिया और प्रत्यक्ष का विषय यदि समान रूप से क्षणिक हैं तो दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध संभव नहीं है जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष-रूप फल उत्पन्न हो सके। यह सब कुछ प्रत्यक्ष के उस अर्थ की असम्भावना को प्रदर्शित करते हैं जिस अर्थ में प्रत्यक्ष को बाह्यार्थ का ग्राहक और बाह्यत्वेन उसका प्रकाशक माना जाता है। प्रत्यक्ष के लिए विज्ञान और वस्तुक्षण में इन्द्रियों के माध्यम से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य अपेक्षित है लेकिन क्षणभंगुर तात्कालिकता इसके लिए पर्याप्त आधार प्रदान नहीं करती। इसके लिए वस्तुक्षण को कम से कम प्रत्यक्ष की प्रक्रिया पूर्ण होने तक स्थिर रहना चाहिए, ताकि एक क्षण दूसरे क्षण को प्राप्त कर ग्रहण कर सके। परन्तु ऐसा स्वीकार करने में अंतत: क्षणभंगुरता का ही विरोध होगा।[३३] पुन:, यदि वस्तुक्षण को ज्ञानक्षण का कारण, अर्थात् आलम्बन प्रत्यय, माना जाता है तो कारण को कार्य रूप फल का पूर्ववर्ती होना चाहिए। लेकिन उसकी पूर्ववर्तिता भी किसी काम की नहीं, क्योंकि पूर्ववर्ती क्षण क्षणिक होने से कार्य के समुत्पन्न होने के पहले ही विनष्ट हो जाता है।[३४] अत: परमार्थत: कुछ भी नहीं जाना जा सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह जो हमारे वर्तमान ज्ञान के विषय के रूप में प्रकट

होता है, उसके अस्तित्त्व का कोई वस्तुनिष्ठ क्षण नहीं है। जब वस्तुक्षण रहता है तो ज्ञानक्षण नहीं होता और जब ज्ञान क्षण होता है तो वस्तुक्षण नहीं रहता।[३५] सौत्रान्तिकों के अनुसार अतीत क्षण असत् है क्योंकि वर्तमान में उसका उपलम्भाभाव है। वह जो अनुपलम्भ है, हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता और यदि होता है तो अतीत-अनागत सब कुछ अनायास ही हमारे ज्ञान के विषय हो जायेंगे।[३६] अत: क्षणभंगुरता की परिकल्पना के अन्तर्गत वर्तमान ज्ञान का कोई बाह्य वस्तुनिष्ठ प्रतिरूप स्थिर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वस्तुसत्ता की क्षणभंगुरता एवं उसकी प्रत्यक्ष-वेद्यता में पारस्परिक असमंजसता द्रष्टिगत होती है।

ऐसा नहीं है कि वैभाषिकों को इस विरोधग्रस्त स्थिति का आभास नहीं रहा होगा। सम्भवत: इसीलिए उन्होंने प्रत्यक्ष के कारण रूप से तीन धर्मों (आलम्बन, इन्द्रिय-विकार, विज्ञान) के परस्पर स्पर्श को ही 'ज्ञान' स्वीकार किया था और साथ ही तीनों सहोत्पन्न धर्मों के मध्य ही एक प्रकार से 'अन्तर्गत हेतु-फल व्यवस्था' मान ली थी। दूसरे शब्दों में, ज्ञान के कारणों और उत्पन्न ज्ञान में हेतु-फल व्यवस्था नहीं बल्कि ज्ञान के कारणों में ही हेतु-फल व्यवस्था अन्तर्निहित रूप से मान ली गई थी, क्योंकि ज्ञान के त्रिविध कारणों का सन्निपात होना ही ज्ञान है, ज्ञान उस सन्निपात का फल रूप एक नवीन धर्म नहीं है। सौत्रान्तिकों की दृष्टि में वैभाषिकों का ऐसा विचार कोई अविचार-रमणीयता नहीं है फिर भी समस्या के मूल की अनदेखी करने वाला अवश्य कहा जा सकता है। दो या दो अधिक वस्तुओं की समकालिक उपस्थिति को हेतु की भूमिका में रखा जा सकता है, लेकिन इन्हीं समकालिकों के बीच हेतु-फल व्यवस्था का विधान नहीं किया जा सकता।[३७] यह तभी सम्भव है जब ज्ञान के कारणों और ज्ञान को समानकालभावी और सहजीवी माना जाय। परन्तु ऐसा मानने पर ज्ञान के यावत् कारणभूत घटकों की ज्ञान-विषयता माननी पड़ेगी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं हो सकता कि आखिर रूपादि धर्म ही क्यों ज्ञान के विषय होते हैं, इन्द्रियाँ क्यों नहीं होती, जबकि दोनों सहभावी और समान रूप से ज्ञानोत्पत्ति में कारण होने के कारण प्रकाशित होने के अधिकारी हैं।[३८] वैभाषिकों का निराकारज्ञानवादी अभ्युपगम इस आपेक्ष को और भी दृढ़ता प्रदान करता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि सौत्रान्तिकों द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त विरोध से प्रत्यक्ष का सर्वतोभावेन उच्छेद नहीं समझा जाना चाहिए। वास्तव में इससे बाह्यार्थ के बाह्यार्थत्वेन प्रत्यक्ष की अनुपपन्नता विवक्षित है। एतदर्थ विचारणीय हो जाता है कि यदि बाह्यार्थ क्षणिक होने के कारण ज्ञान-ग्राह्य, अर्थात् प्रत्यक्षवेद्य नहीं हो सकता (ज्ञानेन प्रापयितुम् अशक्यत्वात्) तो क्या अनुमेय हो सकता है? बाह्यार्थ ज्ञान के अनुरोध से सौत्रान्तिकों को नित्यानुमेयवादी कहा भी जाता है।[३९] परन्तु बाह्यार्थ की अनुमेयता

भी तो प्रत्यक्षपूर्वक ही सम्भव है, अन्यथा कुछ भी ज्ञेय नहीं हो सकेगा और जगदान्ध की प्रसक्ति होगी। अत: प्रत्यक्ष का कोई न कोई आकार अवश्य होना चाहिए। सौत्रान्तिक यहाँ अपने पक्ष को बहुत ही मौलिक दृष्टि के साथ उपस्थापित करते हैं। वह यह कि वास्तव में 'प्रत्यक्ष' बाह्यार्थ की बाह्यार्थ रूप से उपलब्धि न होकर बाह्यार्थाकार रूप से उपलब्धि है। इसी आकार के अनुरोध से क्षणसन्तान में एकत्व का आरोप करके बाह्यार्थ अनुमित होता है और अनुमेय बाह्यार्थ में ही हमारा अभिनिवेश होता है।

सौत्रान्तिक व्याख्या में 'चक्षु प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्'-चक्षु एवं रूप को प्राप्त कर चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने कारणों से उत्पन्न चक्षु, रूप और समनन्तर विज्ञान क्षण का संयोगवश जब सन्निपात होता है तो उसके फलस्वरूप चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है। चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में उसके कारणभूत क्षण वास्तव में कोई क्रिया नहीं करते बल्कि तीनों की सांयोगिक सन्निपात रूप हेतुता ही समवेत रूप से चक्षुर्विज्ञान की जनक होती है। इस प्रकार से चक्षुर्विज्ञान जब उत्पन्न होता है तो चक्षु और रूपादि क्षण सहकालजीवी नहीं होते बल्कि उनका निरोध हो चुका रहता है, जिनका सन्निपात चक्षुर्विज्ञान को उत्पन्न करता है। यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि इस रूप से उत्पन्न चक्षुर्विज्ञान की विषयिता निरूद्ध हो चुके अर्थात् असत् क्षण में होनी चाहिए जो वास्तव में एक अतिप्रसंग है। पुन:, यदि उत्पन्न चक्षुर्विज्ञान विषयता से रहित है तो ऐसा अन्ध प्रत्यक्ष किसी काम का नहीं। विज्ञान की विषयता बनाये रखने के लिए यदि चक्षुर्विज्ञान के क्षण तक उसके कारणभूत घटकों की स्थिति मानी जाय तो क्षण-भंग-बाध की इष्टापत्ति होगी।

सौत्रान्तिकों के अनुसार इस प्रकार के आक्षेपों की उद्भावना निराकारविज्ञानवादी और स्थैर्यवादी ही कर सकते हैं, क्योंकि उनके मत में ज्ञान प्रकाशक होता है। प्रतिभासवादी दृष्टि में इस प्रकार के आक्षेपों के लिए कोई स्थान नहीं। अवधेय है कि उपर्युक्त प्रक्रिया में चक्षुर्विज्ञान निराकार उत्पन्न नहीं होता, जैसा कि वैभाषिक मानते हैं, बल्कि साकार, अर्थात् अपने आलम्बन का सारूप्य धारण करते हुए, उत्पन्न होता है। अत: आकार का ही प्रत्यक्षात्मक ग्रहण होता है उस वस्तु का नहीं जिसने आकार को अर्पित किया है। क्योंकि यह वस्तु तब तक निरन्वय रूप से निरूद्ध हो चुकी रहती है। हमारे पास केवल साकार विज्ञान ही शेष रहता है और उसी का ग्रहण और ग्रहण-पृष्ठभावी उसका विकल्पीकरण हमें संसारोन्मुख करता है। विज्ञान में विषयसंवेदन वास्तव में 'विपर्ययसरूपस्वरूपसंवेदन' मात्र ही है।[८०] विषयसंवेदन की दृष्टि से क्षणिक आलम्बन की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है। प्रथमत: यह कि उत्पाद लेता हुआ विषय विज्ञान का आलम्बन बनता है, परन्तु उत्पाद पूर्ण होने के पूर्व विषय की सत्ता नहीं होती जिससे कि उसकी आलम्बनता स्थापित हो सके। द्वितीयत: यह कि उत्पन्न होने

के पश्चात् विषय विज्ञान का आलम्बन बनता है। परन्तु ऐसा मानने पर वह विषयोत्पाद का क्षण न होकर विज्ञानोत्पाद का क्षण होगा, जिसमें विषय-प्रतिभास रूप उत्पत्ति को छोड़कर विज्ञान की अन्य क्रिया नहीं हो सकती कि विज्ञान द्वारा विषयालम्बन का ग्रहण हो सके।[४१] धर्मकीर्ति[४२] ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि क्षणिकवाद में वस्तु और समुत्पन्न विज्ञान का काल भिन्न-भिन्न होने से भी विज्ञान के द्वारा बाह्य वस्तु का वस्तुत्वेन ग्रहण सम्भव नहीं। विज्ञान के प्रति वस्तु की हेतुता इतने से सिद्ध हो जाती है कि वस्तु अपने आकार को विज्ञान में अर्पित कर देती है। अतएव अपने स्वगत आकार में निःशेष विज्ञान के लिए आकार ही ग्राह्य होता है। आकार का ग्राह्य होना वास्तव में उसका स्वसंवेद्य होना है। वह अपना अतिक्रमण कर वस्तु को वस्तुत्वेन ग्रहण नहीं कर सकता। कहा भी गया है कि विज्ञान को साकार मानने पर वस्तुप्रतिभास ही वेद्य हो सकता है, स्वयं वस्तु नहीं (साकार ज्ञान पक्षे च तन्निर्भास्य वेद्यते)। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि वस्तु-प्रतिभास ही वेद्य है तो इन्द्रिय-प्रतिभास की वेद्यता क्यों नहीं मानी जाती, जबकि वस्तु जैसे ज्ञान का हेतु है वैसे ही इन्द्रियाँ भी हेतु होती हैं। इस पर धर्मकीर्ति का कहना है कि वस्तुओं में (आलम्बन प्रत्यय) ज्ञान की हेतुता और ग्राह्यता दोनों होती है लेकिन इन्द्रियों में (अधिपतिप्रत्यय) रूपज्ञान की हेतुता तो होती है लेकिन स्वयं की ग्राह्यता नहीं। इसका कारण यह है कि वस्तुएँ बुद्धि में अपना प्रतिभास अर्थात् आकार समर्पित करती हैं लेकिन इन्द्रियाँ ऐसा नहीं करती हैं। इसलिए वस्तुओं में ज्ञान की हेतुता और तदाकार रूप से उनकी ग्राह्यता भी होती है।[४३] तदाकारता के अतिरिक्त ग्राह्यता और कुछ हो ही नहीं सकती।

V

इसी तदाकारता को बौद्ध दर्शन में प्रतिभास, निर्भास, अर्थाभास, सादृश्य, सरूप एवं सारूप्य इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। इन सभी पदों से ज्ञान में एक आकार की संकल्पना को अवधारित किया गया है जो उनकी दृष्टि में ज्ञानमात्र के लिए आवश्यक शर्त है।[४४] परन्तु यह आकार क्या है जिसे सारूप्य पद से अभिहित किया जाता है ? इसे दो वस्तुओं के सादृश्य के साधारण अर्थ में, कम से कम, नहीं समझा जा सकता। बौद्ध दार्शनिकों ने यदा-कदा इसे समझाने के लिए दर्पण और उसमें प्रतिबिम्बित आकार को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया है। यह दृष्टान्त भी एक कामचलाऊ स्थूल उदाहरण मात्र है जो सारूप्य के वास्तविक भाव को प्रकट नहीं करता है। देखा जाय तो दर्पण की प्रतिबिम्ब किसी बिम्ब का समानकालिक हुआ करता है लकिन सारूप्य की बौद्ध अवधारणा में बिम्ब की अनुपस्थिति में केवल उसका प्रतिरूप होता है। इस प्रतिरूप की विलक्षणता इसमें निहित है कि यह आत्मसंवित् होता है। अतएव कहा जा सकता है कि सारूप्य विज्ञान का स्वरूप ही है, क्योंकि यह इसी रूप में उत्पन्न

होता है। यह किसी वस्तु की अतिक्रामी बाह्यता का सचेतन-भाव में रूपान्तरण अथवा पुनर्जन्म है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु के ज्ञात के होने के लिए उसका इस रूप से सचेतन-भाव रूप में पुनर्भव आवश्यक है। अन्यथा कोई वस्तु 'वस्तु' ही बनी रहेगी[८५] कभी सचेतन-भाव रूप से ज्ञात वस्तुता को प्राप्त नहीं हो सकेगी। सारूप्य इसी अर्थ में वस्तु का विज्ञानाकार प्रतिरूप है। यह विज्ञानाकार प्रतिरूप एक स्वसंवित् स्थिति है जो विषयचेतना का समानुपाती होता है।

यहाँ अवधेय है कि ज्ञान के आकार की संकल्पना एक दूसरे रूप में भी अवधारित की जा सकती है। वह यह कि ज्ञान भाषा के आकारों में आकार ग्रहण करता है, अर्थात् शब्दाकार अथवा वाक्याकार से अनुविद्ध हो कर आकारित होता है। नैयायिक एवं मीमांसक ज्ञान को यद्यपि स्वभाव से सविषयक मानते हैं तथापि ज्ञान उनके मत में निराकार ही होता है।[८६] उनकी दृष्टि में आकार एक देशीय संकल्पना है और ज्ञान को देशीय संकल्पना के अन्तर्गत अवधारित नहीं किया जा सकता। एतदर्थ सावयव वस्तुएँ ही आकारवान् होती हैं, तद्विषयक बुद्धि या ज्ञान स्वरूपत: निराकार होता है। चूँकि शब्दों के द्वारा अभिलपित होने की योग्यता ज्ञान के स्वरूप में ही निहित है अतएव सविषयक ज्ञान शब्दों अथवा वाक्यों के आकार द्वारा निरूपित होता है, जो उसे अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। वस्तुत: न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसकों के लिए ज्ञान की आकार विषयक समस्या शब्दाकार अथवा वाक्याकार के स्वरूप विषयक समस्या ही है। ज्ञान स्वभावत: सविषयक होते हुए भी निराकार होता है लेकिन स्वविषय के आकार में उसकी विषयता होने से यह साकार भासित होता है। अत: ज्ञान का आकार वास्तव में ज्ञाननिष्ठ नहीं बल्कि जगन्निष्ठ है। जगन्निष्ठ सावयव पदार्थों के आकार का संसर्ग ज्ञान के साथ भाषा के माध्यम से होता है, क्योंकि ज्ञान को अभिलिपित करने वाले शब्दों अथवा वाक्यों का आकार वास्तव में ज्ञान के विषय का ही आकार है।[८७]

न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसकों की, थोड़े बहुत साम्प्रदायिक भेद के साथ, ज्ञान की आकारयोगिता के सम्बन्ध में उपर्युक्त व्याख्या निश्चित रूप से एक मौलिक दृष्टि है। ये ज्ञानविषयक एकरूपीय और समस्तरीय अवधारणा को प्रस्तावित करते हैं। इसे उनकी वस्तुवादी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि के साथ अपेक्षाकृत अधिक संगत भी कहा जा सकता है। यह बात भी सही है कि ज्ञान और भाषा का सम्बन्ध भी बहुत गहरा और अन्तरंग होता है। परन्तु विचार करने पर यह सम्बन्ध उतना ऋजु और पारदर्शी नहीं है जितना समझा जाता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा 'विकल्पयोनि' और विकल्प 'भाषायोनि' होते हैं।[८८] ऐसा होने से भाषा में आकारित ज्ञान वास्तविकता को वास्तव में आकारित करे, यह आवश्यक नहीं है। भाषा की एक मूलगामी प्रवृत्ति अपोहन है। अपनी इस प्रवृत्ति के चलते भाषा अतद्व्यावृत्तिपूर्वक ही ज्ञान को आकार प्रदान कर

सकती है, जिसे नैयायिक ज्ञान के घटपटादि विषयों का आकार समझते हैं। इस तरह भाषा पहले वास्तविकता को विकल्पित करती है और विकल्पित वास्तविकता ही शब्दों एवं वाक्यों के आकार में भासित होती है। अतएव ज्ञान की आकारयोगिता, वास्तव में, यदि भाषा की आकारयोगिता है तो उनकी व्यवस्था में निर्विकल्पक ज्ञान की कोई स्थिति नहीं बनती है, जहाँ वास्तविकता अपने विकल्परहित स्व-स्वरूप रूप में उपलब्ध होती हो। इस दृष्टि से न्याय मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की स्वीकृति एक तंत्रगत आक्षिप्त व्यवधान ही सिद्ध होती है। उपर्युक्त व्याख्या के संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि भाषीय आकार में जो कुछ निरूपित होता है उसे पदार्थ की संकल्पना में सम्मिलित करने की बाध्यता उत्पन्न हो जाती है। पुनः, ज्ञान को देशीय आकार से बचाने के लिए ज्ञान को भाषा के आकारों में निरूपित करने का उपक्रम किया गया था लेकिन इस अभ्युपगम में स्वयं ज्ञान ही प्रमेयपदार्थ का रूप ग्रहण कर लेता है।

इसलिए बौद्ध नैयायिकों का मानना है कि ज्ञान की आकारयोगिता का प्रथम सम्बन्ध चेतना से है और उसका द्वैतियक सम्बन्ध भाषा से होता है। चेतना अपने में सर्वप्रथम विषयाकार सारूप्य को ग्रहण कर विषय को प्रतिभासित करती है और तदनन्तर भाषा उसे विकल्पित कर अपने सविकल्पक आकारों (नामजात्यादि योजना) में निरूपित अथवा अध्यवसित करती है। इस तरह हमें वास्तविकता के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक प्रतिभास के धरातल पर उसका निर्विकल्पक रूप और दूसरा भाषा के आकारों में अनुविद्ध उसका सविकल्पक रूप। बौद्ध दार्शनिक अपनी शब्दावली में इसे स्वलक्षण और सामान्यलक्षण कहते हैं। अतएव बौद्ध नैयायिकों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि ज्ञान भाषा के आकारों में निरूपित होकर ही सविकल्पक रूप में व्यवहार-योग्य होता है, लेकिन यह ज्ञान स्वयं में निराकार नहीं होता बल्कि विषय के सारूप्य को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। ज्ञान को ही मूलतः अपने विषय का संग्राहक सन्दर्भ होना चाहिए। इसके लिए ज्ञान में विषयाकार सारूप्य जैसा कुछ स्वीकार किया जाना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा ज्ञानमूलक प्रतिकर्म व्यवस्था अनेक प्रकार की कठिनाइयों से ग्रस्त हो जाती है। कोई भी ज्ञान अपने विषय के आकार से रहित नहीं हो सकता। ज्ञान को निराकार मानने पर उसकी सभी स्थितियाँ एक समान हो जाती हैं। उनके बीच का पारस्परिक भेदक उनकी संरचना में नहीं रहता, जबकि प्रत्येक ज्ञान को अपनी संरचना में ही दूसरे से भिन्न होना चाहिए। ज्ञान को निराकार मानने पर नील-ज्ञान को पीत-ज्ञान से किस प्रकार भिन्न किया जाना सम्भव हो संकेगा ?[४९] यह ज्ञान में निहित आकार ही है जो नील-ज्ञान को पीत-ज्ञान से अलग करता है। निराकार ज्ञान किसी विषय का ज्ञापक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञापक होने के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान अपने में विषय का आकार धारण करे। तभी कोई ज्ञान अपने विषय का अन्यव्यावृत्त रूप से ज्ञापक हो सकता है।

नैयायिकादि बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए ज्ञान को साकार मानना इसलिए भी कठिन हो जाता है क्योंकि तब ज्ञान के आकार जगन्निष्ठ नहीं होकर ज्ञाननिष्ठ हो जाते हैं और जगत् की सारी विचित्रता ज्ञान में निहित हो जाती है। पुन:, ज्ञान ज्ञानेतर पदार्थों को प्रकाशित करने के बजाय उनके अस्तित्व की तात्त्विक स्वतन्त्रता को अन्तर्भुक्त कर लेता है। इस तरह ज्ञाननिष्ठ धर्मों का प्रकाशन ही ज्ञान के विषय का प्रकाशन समझा जाता है। वस्तुत: सारूप्यवादी बौद्धाभिमत का निहितार्थ भी यही है कि नीलाकार विज्ञान का स्वरूप-संवेदन ही नील-विषय के संवेदन के समतुल्य होता है। ज्ञान का विषय ज्ञान में सात्मीकृत (आत्मभावावस्थित) हुए बिना ज्ञात नहीं हो सकता। इस तरह से नील-विज्ञान का स्वरूप-संवेदन नीलादि विषयों के अनुभव की लोकव्यवस्था और लोक-प्रतीति को आहत भी नहीं करता, क्योंकि ज्ञान की विषयता तो वस्तु में होती है लेकिन वेद्यता वस्तूल्लेखी आकार में होती है।[१०] नैयायिक ज्ञान में केवल विषयता मानते हैं और भाट्टमीमांसक वस्तुओं में ज्ञातता नामक धर्म स्वीकार करते हैं तथा दोनों ज्ञान की वेद्यता की व्याख्या क्रमश: अनुव्यवसाय और ज्ञाततालिङ्गानुमान द्वारा करते हैं। यदि देखा जाय तो ज्ञान का अपने आप में विदित होना ही पर्याप्त है जो उसकी स्वरूप-योग्यता है। इसके लिए ज्ञान की विषयता और ज्ञान की वेद्यता को अलग-अलग व्याख्यायित करना कदाचित् अनावश्यक भी प्रतीत होता है। पुन: सारूप्य की अवधारणा में जगत् की सम्पूर्ण विचित्रताओं का स्रोत नितान्त ज्ञानांतर्गत नहीं होता, बल्कि जगन्निष्ठ विचित्रताएँ ही ज्ञान में प्रतिभासित होती हैं। जगनिष्ठ विचित्र वस्तुओं की विचित्रता यह है कि वे सभी विज्ञान में अपना प्रतिभास छोड़कर नष्ट हो जाती हैं और उनका सारूप्य लिये हुए विज्ञान को ही व्यवस्थापक एवं व्यवस्थाप्य की भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है।

VI

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा की शुरूआत सार्वभौमिक क्षणभंगुरता की तात्त्विक दृष्टि के अन्तर्गत एक सुसंगत ज्ञानमीमांसा प्रस्तुत किये जाने के प्रयास से होती है, परन्तु इसमें कुछ ऐसी विशिष्टताएँ भी हैं जिसके चलते इसका विकास भारतीय प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन में एक समानान्तर ज्ञानमीमांसीय दृष्टि के रूप में सम्भव हुआ है। सारूप्यवाद अपने मूल रूप में प्रकाशवाद के समानान्तर प्रतिभासवाद है। एक बार जब हम स्वीकार कर लेते हैं कि ज्ञान प्रतिभासक होता है तो ज्ञान के आलम्बन चाहे क्षणभंगुर हों या स्थिर, अथवा वह निरालम्ब ही क्यों न हो, उसके प्रतिभासक चरित्र पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि सैद्धान्तिक निर्धारण की दृष्टि से अन्तर भी किया जाय तो वह यह हो सकता है कि स्थिर आलम्बनों का प्रतिभास अपने आलम्बन का प्रतिनिधि होता है, लेकिन क्षणिक आलम्बन का प्रतिभास चूँकि अपने

आलम्बन का सहजीवी नहीं होता इसलिए उसे वैकल्पिक प्रतिरूप अथवा 'सरूप' कहा जा सकता है। नीलाकार विज्ञान, वास्तव में, नील वस्तु का 'सरूप' ही है। इस तरह प्रतिभासवाद का सामान्यीकरण केवल इस तथ्य को पूर्वगृहीत करता है कि प्रत्येक ज्ञानात्मक स्थिति आवश्यक रूप से आत्मसंवित् होती है। आत्मसंवित्ति के अभाव में इस बात का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि ज्ञान किसी न किसी रूप में विषय को प्रतिभासित करता है।[५१] जो दार्शनिक ज्ञानात्मक स्थितियों को आत्मसंवित्परक नहीं मानते उनकी ज्ञानमीमांसा परप्रकाशवाद, निराकारवाद और सविषयतावाद की मूलभूत दृष्टियों को अपनाकर अग्रसारित होती है। इसके विपरीत वैसे बौद्ध दार्शनिक, जो ज्ञान को स्वरूपत: आत्मसंवित्परक मानते हैं, उनकी ज्ञानमीमांसा स्वप्रकाशवाद, साकारवाद और अवस्तुवाद को लेकर आगे बढ़ती है। वस्तुत: उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ भारतीय दर्शन के ज्ञानमीमांसीय चिन्तन की आधारभूत दो समानान्तर दृष्टियाँ हैं जो ज्ञान के कारण एवं विषय पक्ष की व्याख्या अपने-अपने तरीके से करते हुए प्रत्यक्ष को तदनुरूप ही अधिप्रमाणशास्त्रीय अवधारणात्मक मूल्य प्रदान करती हैं।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. *न्यायकोश : भीमाचार्य, पृ. १५९ - उपजीव्यं च द्विविधं, । स्वसत्ता प्रयोजकत्वं, स्वज्ञानप्रयोजकत्वं च । उपजीव्योपजीवकभावश्च ज्ञान सत्वयो: प्रयोज्यप्रयोजक भाव: । यथा एकस्यान्यसत्ताप्रयोजकत्वं अपरस्य च तत्प्रयोज्यसत्ताकत्वम्। एवं अन्यज्ञानप्रयोजकत्वं अन्याधीनं ज्ञानविषयत्वम् ।*

२. *कथावत्थु : सम्पा. जगदीश काश्यप, पृ. ३७४*

३. *अभिधम्मत्थसङ्गहो - ४/८*

४. *अभिधर्मकोश, पृ.२०, उद्धृत - बौद्ध विज्ञानवाद (पी.टी.राजू) हिन्दी अनु. यशदेव शल्य, पृ. २०, १९५८ (प्रका. - अखिल भारतीय दर्शन परिषद्)*

५. *अभिधर्मकोश, १/२*

६. *वही, २/४६ - प्रतिक्षणं चापि संस्कृतस्यैतानि लक्षणानि युज्यन्ते, विनापि द्रव्यान्तर कल्पनया। कथमिति? प्रतिक्षणमभूत्वाभाव उत्पाद:, भूत्वाऽभावो व्यय:, पूर्वस्यापूर्वस्योत्तरोत्तर क्षणानुबन्ध स्थिति, तस्या विसदृशत्वं स्थित्यन्यथात्वमिति ।*

७. *वही, २/४७,३/१८ - वसुबन्धु ने धर्म संकेत का अभिप्राय ही प्रतीत्यसमुत्पाद प्रतिपादित किया है।*

८. *वही, २/६१ - चत्वार: प्रत्यया उक्ता: । हेत्वाख्या: पंचहेतव: । यद्यपि अभिधार्मिक बौद्ध दर्शन में ज्ञानोत्पत्ति के प्रति चारों प्रत्ययों को कारण सामग्री के रूप में सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है लेकिन तदन्तर महायान दर्शन में इनकी व्याख्याएँ बदलती रही हैं।*

९. *परयूथ्य दार्शनिकों यथा नैयायिक-मीमांसकों की ज्ञानोत्पत्ति सम्बन्धी क्रियामीमांसीय व्याख्या में एक विरोधाभास दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए कारक-सिद्धान्त के अनुसार सकर्मक क्रियाओं का फल कर्म में आश्रित होता है और अकर्मक क्रियाओं का व्यापार कर्त्ता में आश्रित*

होता है । अब जानना (ज्ञान) एक सकर्मक क्रिया ही है लेकिन नैयायिक ज्ञान का आश्रय प्रमाता को ही मानते हैं जो कर्ता-स्थानीय है । मीमांसक यद्यपि ज्ञातता रूपी धर्म का आश्रय कर्म-स्थानीय घटादि पदार्थों को ही मानते हैं लेकिन ज्ञातता-सिद्धांत की अपनी कठिनाइयाँ हैं ।

१०. अभिधर्मकोश ३/२० - त्रयाणां सन्निपाताज्जाता इन्द्रियार्थ विज्ञानम् ।

११. वही, १/४५ - तद्विकारविकारित्वादाश्रययाश्चक्षुरादय: ।

१२. वही, १/४२ - चक्षुपश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम् । विज्ञानं दृश्यते रूपं न किलान्तरितं यत: ।। वैभाषिकों की यह ऐसी मान्यता है जिसका विरोध प्राय: सभी परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों के द्वारा किया गया है और अन्तत: उसको परिष्कृत ही कर दिया गया ।

१३. वही, १/४३ - चक्षु: श्रोतमनोऽप्राप्तविषयंत्रयमन्यथा ।

१४. वही, भाष्य - १/४२ - यस्मात् किल रूपं कुड्यादिव्यवहितं न दृश्यते । वही, स्फुटार्थ-विस्तर:- तेषां चक्षुरादीनां विकारस्तद्विकार:, तद्विकारेणविकार:। तद्विकारविकार स एषामस्तीति तद्विकार विकारीणि विज्ञानानि, तद्भाव: तद्विकारविकारित्वम् ।

१५. प्रमाणवार्त्तिक (मनोरथनन्दी) - २/३ - निराकारबुद्धिवादिवैभाषिकमते:... ।

१६. अभिधर्मकोश भाष्य - १/४२ - यदि हि विज्ञानं पश्येत्, तस्याप्रतिघत्वात् कुडयादि प्रतिघातो नास्ति, इत्यावृत्तमपि रूपं पश्यते ।

१७. द्रष्टव्य, वही, १/५०

१८. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.) पृ. २५४ - सूत्रे - त्रीणीमानिभिक्षव: संस्कृतस्य संस्कृत लक्षणानि । कतमानि त्रीणि ? संस्कतस्य भिक्षव: उत्पादोऽपि प्रज्ञायेत्, व्ययोऽपि प्रज्ञायेत,स्थित्यन्यथात्वमपि ।

१९. अभिधर्मकोश - २/४५

२०. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.) पृ. २६१ - तस्मादन्त्यशब्दार्चि: क्षणप्रभृतिनामुत्पादव्ययादेव द्वे लक्षणे इत्यभिप्रेयेते ।

२१. अभिधर्मकोश भाष्य (संग्रह श्लोक) - २/४६, जातिरादि: प्रवाहस्य व्ययश्छेद: स्थितिस्तु स: । स्थित्यन्यथात्वं तस्यैव पूर्वापरविशिष्टता ।। जातिरपूर्वोभाव: स्थिति: प्रबन्धो व्ययस्तदुच्छेद: । स्थित्यन्थात्वमिष्टं प्रबन्धपूर्वापरविशेष: इति ।।

२२. वही - क्षणिकस्य हि धर्मस्य बिना स्थित्या व्ययोभवेत् । न च व्ययेत्येव तेनास्य वृथा तत्परिकल्पना ।।

२३. अभिधर्मकोश भाष्य २/५० (द्वारिकादास सं.) पृ. २८०, संस्कृतस्य हि धर्मस्य स्वभाववर्ज्या: सर्वधर्मा: कारणहेतु: उत्पादं प्रति अविघ्नभावावस्थानात् ।

२४. वही, २/५०, सहभूर्ये मिथ:फला - भाष्य - मिथ: पारम्पर्येण ये धर्मा: परस्परफलास्ते परस्पर: सहभूहेतुर्यथाकथम् ।

२५. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.) पृ.२९० - सहोत्पन्नयोर्हेतु- फलभावलक्षणो न्यायो न दृष्ट: । पूर्वं हि बीजं पश्चादङ्कुर: पूर्वमभिघात: पश्चाच्छब्द इति ।

२६. अभिधर्मकोश भाष्य, वही, पृ. २९० एतद्धि हेतुहेतुमतो लक्षणमाचक्षते हेतुका:- यस्य भावाभावयो: यस्य भावाभावो नियमत:, स हेतु,इतरो हेतुमानिति ।

२७. अभिधर्मकोश (स्फुटार्थ) - द्वारिकादास सं. पृ. २९०- सहोत्पन्नानां हेतु फलभाव इष्यते । तद्यथा चक्षु: सहोत्पन्नमपि चक्षुर्विज्ञानेन तदुत्पत्तौ हेतुर्भवति । परस्परं तु कथम् ?

२८. वही, पृ. ४७४, तत्रापि पूर्वमिन्द्रियार्थो पश्चाद् विज्ञानमिति । प्रथमक्षणोत्पन्ना-विन्द्रियार्थौ, विज्ञानं तु द्वितीये क्षण इति ।''

२९. वही, पृ. ४७४ - जनकधर्मातिक्रमाच्चायुक्तमिति ।

३०. वही, पृ. ११७ - विभाषायामप्युच्यते - ''चक्षुसम्प्राप्तं चक्षुर्विज्ञानानुभूतं द्रृष्टमित्युच्यते इति। तस्याच्चक्षु: पश्यतीत्येवोच्यते, न विजानातीति । विज्ञानं तु सान्निध्यमात्रेण रूपं विजानातीत्युच्यते । यथा सूर्यो दिवसकर: इति ।

३१. वही, पृ. ११८ - अत्र सौत्रान्तिका आहु -किमिदमाकाशं खाद्यते । ...उपचारा क्रियन्ते-चक्षु: पश्यति, विज्ञानं विजानातीति नात्राभिनिवेष्टव्यम् ।

३२. द्रष्टव्य - हेमन्त कुमारा गांगुली - फिलॉसफी ऑफ लॉजिकल कॉन्स्ट्रक्शन-संस्कृत पुस्तक भण्डार, कलकत्ता, पृ. ७१.

३२क. ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली, पृ. ३५०- कल्याणकामतामात्रमेतत् ।

३३. मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य टीका : सम्पा. भट्टाचार्य एवं टुच्ची, पृ.२१, वर्तमानालम्बन ग्रहणे च क्षणभङ्ग बाध:।

३४. न अविद्यमानस्य स्वरूपेण दर्शनम्, हेतुत्वेन च ज्ञानात् पूर्ववत्वम्, पूर्ववत्व च क्षणिकतया न ज्ञानकालेऽस्तिता - उद्धृत - कॉन्सेप्ट ऑफ सारूप्य इन बुद्धिस्ट फिलासफी - प्रो. ए.के. चटर्जी : भारती - हीरक जयन्ती अंक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय १९९४, पृ. ४४.

३५. प्रमाणवार्त्तिक (मनोरथनन्दी) - २/४१७-१८, यदाऽर्थस्तदा न ज्ञानम्, यदा ज्ञानं तदा नार्थ इति कुतो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्तयो: ।

३६. अथ यदैव अस्ति तदैव ग्रहणं हेतुभावं अन्तरेणाऽपि ... न समानकालयोश्चहेतुता तथा अप्रतीते:, असम्बन्धग्रहणे च सर्व एवं गृह्यते । - उद्धृत प्रो. ए. के. चटर्जी, वही, पृ. ४५.

३७. समानकालयोश्च हेतुफल अयोगात् ।

३८. श्चेरबात्स्की (सेन्ट्रल कॉन्सेप्शन ऑफ बुद्धिज्म.,पृ.५६) ने इस प्रश्न को उपस्थापित करते हुए अभिधर्मकोश का सन्दर्भ देकर विज्ञान और वस्तु में सारूप्य की अवधारणा द्वारा उत्तर देने का प्रयास किया है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि यह उत्तर वैभाषिक सम्मत है अथवा सौत्रान्तिक सम्मत । इससे एक भ्रान्त दृष्टि का प्रचार हुआ कि वैभाषिकों को भी विज्ञान और वस्तु में सारूप्य मान्य था । परम्परा वैभाषिकों को निराकारज्ञानवादी के रूप में स्वीकृत करती है । यदि वैभाषिक निराकारज्ञानवादी हैं तो उनके मत में विज्ञान और वस्तु के बीच सारूप्य के लिए कोई अवकाश नहीं बनता । उनका मत इन्द्रियों की साकारता का है । परन्तु वसुबन्धु कृत अभिधर्मकोश भाष्य के अष्टम् कोशस्थान में 'पुद्गल विनिश्चय' प्रकरण के अन्तर्गत इस प्रकार का कथन मिलता है जो प्रकृत प्रश्न की अन्विति को और अधिक उलझा देता है -''यत्तर्हि विज्ञानं विजानाति'' इति सूत्र उक्तम्, किं तत्र विज्ञानं करोति ? न किंचित् करोति । यथा तु कार्य कारणमनुविधीयत इत्युच्येत, साद्रृश्येनात्मलाभादकुर्वदपि किंचित् । किं पुनरस्य साद्रृश्यम् । तदाकारता । अतएव तदिन्द्रियादप्युत्पनं विषयं विजानातीत्युच्येत, नेन्द्रियम् ।'' भाष्य की इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से 'साद्रृश्य' पद से विज्ञान में वस्त्वाकारता का प्रतिपादन किया गया है । लेकिन यदि ऐसा ही है तो 'चक्षुपश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्'- १/४२ की वैभाषिक व्याख्या से इसकी अन्विति नहीं बैठती ।

३९. सर्वसिद्धान्तसंग्रह, पृ. १३ - नील पीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारेरिहान्तरैः। सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते। तथा द्रष्टव्य - प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार भाष्य - २/२३१-४३९- नित्यानुमेये दृष्टान्तः केन सिध्यति तत्त्वतः। अनुमानान्तरासिद्धौ सेयमन्धपरम्परा ॥

४०. ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली, पृ. २४ - अथ सौत्रान्तिकस्येदमुभयम-समंजसमितीयन्मात्रमुच्यते, तदपि नास्ति। साकारवदनोदयपक्षस्थितौ हि द्वितीयक्षणानुवृत्तावप्यर्थस्य जड़तया प्रकाशनुपपत्तेः विपर्ययसरूपस्वरूप- संवेदनमेव ज्ञानस्य विषयवेदनम्। एवं च न वर्तमानानुरोधः, अतीतेऽपि तत्प्रत्ययासत्तेरप्रच्युतेः। न चातिप्रसंगः, विषयान्तरेणापि सारूप्यसमर्पणात्।

४१. मध्यान्तविभाग टीका - १/७ - उत्पद्यमानमुत्पन्नं वा विज्ञानं विषयालम्बेत ? तत्रोत्पद्यमानं विषयं नालम्बेत, उत्पद्यमानस्यासत्वात्। नोत्पन्नमपि, विषयप्रतिभास त्मनोत्पन्नत्वात्। न च विषयप्रतिभासात्मनोत्पित्तिं युक्त्वा विज्ञानस्यान्या क्रियास्ति यां कुर्वद विज्ञानं विषयमालम्बत इत्युच्यते।

४२. प्रमाणवार्त्तिक - २/२४७- भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्।

४३. प्रमाणवार्त्तिक - २/२२४ - हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यातां नाम केचन। तत्र बुद्धिर्यदाभासा तस्याः तद्ग्राह्यमुच्यते। २/३७०- तद्धेतुत्वेन तुल्येऽपि तदन्यैर्विषये मतम्। विषयत्वं तदंशेन तद्भावे न तद्भवेत।

४४. न्यायबिन्दु २०-२१ - अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति।

४५. प्रज्ञाकरगुप्त : प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार भाष्य (स्वामी योगिन्द्रानन्द) - १०४८ - अन्तरेणापि बाह्यार्थं प्रतिभासो न दुष्यति। बिना तु प्रतिभासेन बाह्यं बाह्यं सदा भवेत्।

४६. न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका (सम्पा. - राजेश्वर शास्त्री द्राविड़) पृ. १५३, तस्मान्निराकारं ज्ञानमर्थमात्मनो भिन्नं गोचरयति। २. आत्मतत्त्वविवेक (भागीरथ ठक्कुर), पृ. ५२३- निराकारत्वाद्बुद्धिनां विषयकृत एवं विशेषः। ३. शाबरभाष्य-निराकाराचनोबुद्धि आकारवान् बाह्योऽर्थः।

४७. विश्वम्भर पाही-वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श,पृ. २८, दर्शन-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

४८. दिङ्नाग- विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः।

४९. धर्मोत्तरप्रदीप (दलसुखभाई मलवणिया), पृ. ८२-यदि ज्ञानमर्थसरूपं न स्यात् किन्तु निराकारं बोधैकरूपं तदाऽनुभवैकरूपतया तदविशिष्टं, सर्वत्र परिच्छेद्यतया कर्मस्थानप्राप्ते नीलपीतादाविति। नीलस्यैवेदं संवेदनम्,इदं पीतस्यैवेत्यनुभवसिद्धः प्रतिकर्मविभागो हीयेत।

५०. द्रष्टव्य- प्रमाणवार्त्तिक-दृश्य-दर्शन प्रत्यासत्ति-२/३२४-३२९

५१. "सारूप्य एवं स्वसंवेदन" दिङ्नाग और, धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष की अवधारणा के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। द्रष्टव्य- प्रमाणवार्त्तिक-२/४२३-४८४।

अध्याय : दस



क्षणभंगुर बाह्यार्थ एवं आत्मख्याति

भारतीय प्रमाणमीमांसा के विकास में अवान्तर रूप से जिन सिद्धान्तों का सर्वाधिक विकास हुआ है उनमें संवित्प्रकाशवाद, प्रामाण्यवाद एवं ख्यातिवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस वादत्रय को समझे बिना भारतीय दर्शन के न केवल प्रमाणमीमांसीय पक्ष को बल्कि उसके तत्त्वमीमांसीय पक्ष को भी भलिभांति नहीं समझा जा सकता। अपने इसी महत्त्व के कारण उपर्युक्त तीनों से सम्बन्धित सिद्धान्तों का बहुविध विकास एक-एक वाद के रूप में हुआ है जबकि भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय अपने आप में भी एक-एक वाद को प्रस्तुत करते हैं। ये तीनों वाद यद्यपि प्रमाणमीमांसा के अन्तर्गत ही आते हैं, लेकिन इनका सीधा सम्बन्ध प्रमाणों के स्वरूप, सांख्या, विषय एवं विनियोग से न होकर प्रमाणमीमांसा की आधारभूत संरचना से होता है। वास्तव में इनका और ऐसे ही कुछ अन्य प्रमाणमीमांसीय प्रकरणों का सम्मिलित रूप ही प्रमाण-चिन्तन को प्रमाणदार्शनिक चिन्तन के रूप में प्रस्तुत करता है।

I

इस वादत्रयी में ख्यातिवाद प्रथम दृष्ट्या प्रत्यक्षात्मक भ्रान्ति से सम्बन्धित है। परन्तु भारतीय दर्शन में इसका जिस रूप में विकास हुआ है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। अर्थात् 'भ्रम' महज़ एक अपवाद नहीं जो कदाचित् घटित हो जाता है, बल्कि इसमें अनुभव की व्यापक समीक्षा के सूत्र खोजे जा सकते हैं। यह हमारे अनुभव का एक ऐसा आकर-स्थल है जिसकी सुसंगत व्याख्या किसी भी दर्शन के लिए अपनी सम्पूर्ण दार्शनिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में करना आवश्यक हो जाता

है। इसीलिए भारतीय दार्शनिकों ने इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बहुत ध्यान न देकर वास्तव में उसके तार्किक एवं दार्शनिक पक्षपर गम्भीरता से विचार किया है। यहाँ हम यह टिप्पणी करना चाहेंगे कि 'भ्रम' एक पुरुषोचित दोष है और इस रूप में इसे स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं, लेकिन भ्रम के स्वरूप को लेकर तत्तद् दर्शनों के मध्य विवादों का एक लम्बा इतिहास है। इस विवाद में जो बात वस्तुत: गहराई से विचारणीय है वह यह कि ख्यातिवाद के नाम से भारतीय दर्शन की विभिन्न तत्त्वमीमांसीय प्रवृत्तियों का ही द्वितीयावर्तन हुआ है। यद्यपि इसमें भ्रम की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति के प्रश्न को लेकर भी समुचित विचार-विमर्श हुआ है लेकिन एतद्विषयक प्रमाणमीमांसीय निर्धारणों को पार्यन्तिक रूप से प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से ही पारित करते हुए प्रतीत होते हैं।

भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद के क्रमिक विकास का इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है। सम्भवत: आचार्य शंकर के कारण और शंकरोत्तर काल में भ्रम और भ्रमभात् पदार्थ के स्वरूप सम्बन्धी प्रश्न को बहुत गम्भीरता से लिया गया और इसी काल में भ्रम विषयक सिद्धान्त एक पर एक ख्यातिवाद के रूप में स्थापित हुए हैं। मंडन मिश्र[1] के विभ्रमविवेक नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम कुछ प्रसिद्ध 'ख्यातियों' का नामकरण एवं उन पर व्यवस्थित चर्चा देखने को मिलती है, परन्तु ख्यातिवाद के वास्तविक विकास को भारतीय दर्शन में आचार्य शंकर के अध्यास भाष्य के संदर्भ में ही मौलिक रूप से समझा जा सकता है। आचार्य शंकर का अध्यास भाष्य (ब्रह्मसूत्र भाष्य का उपोद्घात) भ्रम की अवधारणा पर तार्किक एवं दार्शनिक दृष्टि से लिखा गया पहला प्रबन्ध है जो इस विचार को दार्शनिक दृष्टि से प्रथमतया उद्घाटित करता है। इससे पूर्व के दार्शनिक साहित्य में यत्र-तत्र भ्रमात्मक ज्ञान एवं उसके प्रकारों के संदर्भ तो प्राप्त होते हैं लेकिन वहाँ उसका दार्शनिकोचित और अवधारणीकृत रूप खोज पाना कठिन है। यहाँ तक कि बौद्ध ग्रन्थों में, जहाँ प्रचुर मात्रा में अपनी इष्ट सिद्धि के लिए स्वप्न एवं भ्रम को दृष्टान्त बनाया गया है और जिसके चलते आचार्य शंकर पर अध्यास के सम्बन्ध में प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप लगाया जाता है, वहाँ भी भ्रम को अध्यास से जोड़ते हुए उसे सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। आचार्य शंकर ने पहली बार भ्रम को अध्यास से जोड़ते हुए उसे सिद्धांत रूप में प्रस्तुत किया और 'अन्यथात्व' को उसका सामान्यलक्षण बता कर भ्रमात्मक ज्ञान के तार्किक विकल्पों का अध्याहार किया है।[2] सम्भव है कि इन विकल्पों का अध्याहार करते हुए उनकी दृष्टि में उस समय तक प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों की भ्रम विषयक संकल्पना ध्यान में रही हो, लेकिन तार्किक दृष्टि से भी उन विकल्पों के महत्त्व को कम करके आकलित नहीं किया जा सकता। ऐसा इसलिए कि अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने उन्हीं विकल्पों में अन्य दर्शनों की भ्रम विषयक अवधारणाओं का अन्तर्भाव करते हुए उनको पूर्वपक्ष बनाया है। एतद्विषयक आचार्य

शंकर की महत्त्वपूर्ण उपपत्ति 'अन्यथात्व' को अनिर्वचनीय रूप में प्रतिपादित करना था। सामान्य तौर पर हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को सत्य और असत्य के द्वैराश्य में विभाजित करते हैं। अनुभव की अनुमत सीमा में सत्य और असत्य से पृथक् और परे किसी अनिर्वचनीय कोटि के लिए कोई स्थान ही नहीं हो सकता है। अनिर्वचनीय ख्याति की आलोचना में इस आपत्ति को 'मध्यम परिहार नियम' की अवहेलना के रूप में प्रायश: आलोचकों ने उठाया भी है, क्योंकि वे सभी अनिर्वचनीयता की व्याख्या अनुभव की परिसीमा में करने का प्रयास करते हैं। इसीलिए अनिवर्चनीयता उनके लिए कोई कोटि ही नहीं बन पाती है। परन्तु आचार्य शंकर जब 'अन्यथात्व' के स्वरूप को अनिर्वचनीय बताते हैं तो उनकी दृष्टि यह प्रतीत होती है कि भ्रम एक ऐसी घटना है जिसकी सम्यक् व्याख्या अनुभव की सीमा में नहीं की जा सकती। अनुभव की सीमा में कोई भी उपलब्धि या तो सत्य अथवा असत्य होगी, लेकिन भ्रमात्मक उपलब्धि प्रतीति और बाध विषयक होने से आत्मनिष्ठ क्रिया है और इसीलिए अनिर्वचनीय है। यहाँ अनिर्वचनीय का अर्थ मात्र निर्वचन का अभाव नहीं है और साथ ही सत् और असत् कोटियों से पृथक् या दोनों से एक साथ विलक्षण होना भी अनिर्वचनीयता नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर असत् से विलक्षण होना सत् में और सत् से विलक्षण होना असत् में तथा सत् एवं असत् से विलक्षण होना (उभयाभाव) पृथक् सत् और असत् दोनों में ही प्राप्त होता है। अतएव सत् और असत् से पृथक्-पृथक् विलक्षण होते हुए दोनों से विलक्षण होना ही अनिर्वचनीयता वास्तविक अर्थ है।[३]

भ्रमात्मक उपलब्धि की ऐसी व्याख्या का परिणाम यह होता है कि आचार्य शंकर ने इसे जगत्-मिथ्यात्व के पूर्व प्रारूप (आर्किटाइप) के रूप में विनियोग करते हुए सफलतापूर्वक उसका पर्यवसान अद्वैतवाद में दिखाया है। श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य और उसकी शारदा टीका में अनिर्वचनीयता की उपर्युक्त निष्पत्ति को विशेष रूप से देखा जा सकता है कि किस तरह अनिर्वचनीयता की उपपत्ति का पर्यवसान परिनिष्ठित अद्वैतवाद में होता है। इस तरह आचार्य शंकर का अध्यास अथवा भ्रम विषयक अनिर्वचनीयता का प्रस्ताव पूरे भारतीय दर्शन के लिए एक ऐसे सर्वग्रासी पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत हुआ जिसने शेष दार्शनिक सम्प्रदायों को भ्रम विषयक अपने पक्ष को स्पष्ट करने के लिए न केवल उत्प्रेरित किया बल्कि रास्ता भी दिखाया है। वस्तुत: इसी पूर्वपक्ष की प्रतिक्रिया में सभी दर्शनों द्वारा अपने-अपने पक्ष में भ्रम की व्याख्या के प्रयास ने 'ख्यातिवाद' का रूप ले लिया है। इन ख्यातियों की प्रसिद्धि कभी पंचक तो कभी षटक और अष्टक रूप में हुई किन्तु हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा में इनकी संख्या चौदह गिनाई गई है। इधर हाल में ही पं. बच्चूलाल अवस्थी ने अपनी पुस्तक वादत्रयी में बीस प्रकार की ख्यातियों का विवरण प्रस्तुत किया है।[४] यदि इस प्रक्रिया को और भी आगे बढ़ाया जाय तो ख्याति के प्रकारों को और भी अधिक संख्या में रेखांकित किया जा सकता है।

II

इस प्रकार भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद के विकास में आचार्य शंकर की उपष्टम्भक भूमिका पर टिप्पणी के पश्चात् अब यहाँ अपने अभिप्रेत्य विषय पर दृष्टिपात करना प्रसंगत: समीचीन होगा। प्रस्तुत निबन्ध में हमारा उद्देश्य बाह्यार्थवादी बौद्धों की ख्याति विषयक अनालोचित अवधारणा को आलोचित करना है। अवधेय है कि भारतीय दर्शनों में जब ख्यातिवाद की चर्चा की जाती है तो प्राय: बौद्धसम्मत असत्ख्याति एवं आत्मख्याति की अवधारणा पर ही विचार किया जाता है। अद्वैतवेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने भी आचार्य शंकर द्वारा उपदर्शित अध्यास के प्रथम विकल्प (अन्यत्रान्य धर्माध्यास:) के अन्तर्गत आत्मख्याति को एवं तृतीय विकल्प (यत्र यदध्यास: तस्यैव विपरीत धर्मकल्पनामाचक्षते) के अन्तर्गत असत् ख्याति को संगृहीत किया है। इष्टसिद्धिकार ने प्रथम विकल्प के अन्तर्गत सत्ख्याति को रखा है और आत्मख्याति, अन्यथाख्याति तथा अख्याति (प्रभाकर) को सत्ख्याति का ही रूपभेद स्वीकार किया है।[5] यहाँ विचारणीय है कि जब बौद्ध दर्शन के वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक, योगाचार एवं स्वतन्त्र विज्ञानवाद इत्यादि सम्प्रदाय स्वतन्त्र रूप में प्रसिद्ध हैं और बौद्धेतर दर्शनों में इनकी गणना स्वतन्त्र सम्प्रदाय रूप में की भी जाती है तो बौद्धाभिमत में दो ही ख्यातियों की चर्चा क्यों की होती है ? इसमें भी माध्यमिकों की असत्ख्याति सबसे अलग है। इसे बौद्धदर्शन के किसी अन्य सम्प्रदाय से जोड़ा नहीं जा सकता। तब भी प्रश्न उठता है कि शेष सम्प्रदाय, जिनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी हैं, योगाचार निरालम्बनवादी है तथा दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का स्वतन्त्र विज्ञानवाद, जो विशुद्ध रूप में बौद्ध दर्शन का न्यायवादी सम्प्रदाय है - सभी को आत्मख्याति के अन्तर्गत संगृहीत कर लेना कहाँ तक उचित हो सकता है ? स्वयं बौद्धों ने अपने ख्याति सिद्धान्त को न तो स्पष्टतया प्रतिपादित किया है और न ही उनका नामकरण घोषित किया है। अतएव यह एक जटिल समस्या है कि वैभाषिकों, सौत्रान्तिकों एवं बौद्ध नैयायिकों के लिए अलग-अलग ख्यातियों का प्रावधान किया जाय अथवा प्रकारभेद के साथ उनके मतों को आत्मख्याति के अन्तर्गत संगृहीत कर लिया जाय। यदि इसे स्वीकार भी किया जाय कि माध्यमिकों की असत्ख्याति को छोड़कर बौद्ध दर्शन के शेष सम्प्रदायों का ख्याति-विचार आत्मख्याति के अन्तर्गत ही आता है तो इसका युक्तियुक्त आधार क्या होगा ? पुन: उन तात्त्विक भेदों की विशिष्टता कैसे सुरक्षित रहेगी जिसके सन्दर्भ में ख्याति विषयक सिद्धान्तों का पारस्परिक भेद व्याख्येय होता है ? प्राय: यही देखा जाता है कि भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय अपने तत्त्वमीमांसीय आग्रहों के अनुरूप ही स्वाभिमत ख्यातियों का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ तक कि तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता के चलते ही कुछ दार्शनिक जो सत् की अवधारणा व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद के साथ करते हैं, वे ख्याति के सन्दर्भ में सामान्य

अनुभव और भ्रमात्मक अनुभव की व्याख्या एक ही सिद्धान्त के द्वारा एक ही स्तर पर करते हुए प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर वे दार्शनिक, जो एकस्तर-सत्तावादी हैं (न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, माध्व इत्यादि) भी भ्रम की व्याख्या में केवल आत्मनिष्ठता के अपवारण का ही प्रयास करते हुए दिखते हैं। यह भी कोई कम तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शन के ख्याति-विचार में सर्वत्र तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता का ही पुनरावर्तन हुआ है। इसे एक दृष्टि से गुण तो दूसरी दृष्टि से दोष भी कहा जा सकता है। वस्तुत: उपर्युक्त समस्या पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के वैसे सम्प्रदायों में, जहाँ बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की पहचान करते हुए उन्हें पूर्वपक्ष बनाया गया है, वहाँ बाह्यार्थवादी एवं विज्ञानवादी बौद्धों के ख्याति-विचार की अलग-अलग पहचान नहीं की गई है। अपवाद रूप से केवल वाचस्पति मिश्र[6] ने अपनी भामती में योगाचारसम्मत आत्मख्याति की चर्चा करते हुए प्रसंगत: वैभाषिकों एवं सौत्रान्तिकों का नामोल्लेख तो किया है लेकिन वहाँ भी उनकी विशिष्टताओं को न तो रेखांकित और न तो व्याख्यायित ही किया गया है। आधुनिक आचार्यों में पं. बच्चूलाल अवस्थी ने ख्यातिवाद पर पुंखानुपुंख विचार करते हुए बाह्यार्थवादी बौद्धों (वैभाषिक, सौत्रान्तिक) के ख्याति-विचार को अन्यथाख्याति से अभिहित किया है।[7] यद्यपि इसके लिए उन्होंने कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है, केवल ऊपरी तौर पर बाह्यार्थवाद के आग्रह से उन्हें अन्यथा ख्यातिवादी कह भर दिया है। द्रष्टव्य है कि बाह्यार्थ की दृष्टि से ख्याति को अन्यथा ख्याति के रूप में व्याख्यायित करना आसान है लकिन बौद्धों के बाह्यार्थवाद एवं बौद्धेतर दर्शनों के बाह्यार्थवाद में स्थैर्य एवं क्षणिकत्व को लेकर आत्यन्तिक भेद है और यह भेद उनके ख्याति-विचार में भी व्यावर्त्तक भेद को उत्पन्न कर सकता है। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी होते हुए भी ज्ञान में कल्पना की रचनात्मक भूमिका को स्वीकार करते हैं जबकि कोई भी बौद्धेतर बाह्यार्थवादी दर्शन ज्ञान में कल्पना के अंश को वर्जित करने का हर सम्भव प्रयास करता है। पुन: अन्यथाख्याति की व्याख्या में रज्जु एवं सर्प दोनों ही अलग-अलग यथार्थ होते हैं, लेकिन वैभाषिक, सौत्रान्तिक दृष्टि से रज्जु की सत्ता को भी यथा उपलब्ध रूप में पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता और सर्प के रूप में उसकी भ्रान्ति तो भ्रान्त है ही। अत: पं. बच्चूलाल अवस्थी की न्यायवासनावासित व्याख्या कथमपि उचित नहीं कही जा सकती।

III

हमारे विचार से वैभाषिकों के बाह्यप्रत्यक्षवाद, सौत्रान्तिकों के बाह्यानुमेयवाद, योगाचार के निरालम्बनवाद और दिङ्नाग, धर्मकीर्ति के प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पवाद में समवेत रूप से आत्मख्याति का ही सिद्धान्त निष्पादित होते दिखाया जा सकता है। यद्यपि इनकी तत्त्वदृष्टि और पद्धति में पर्याप्त भेद विवक्षित है तथापि उनके संज्ञान-

सिद्धान्त में आत्मनिष्ठाता के बीज विद्यमान ही नहीं बल्कि अनुभव की आत्मनिष्ठ व्याख्या उनके लिए अत्यन्त अपरिहार्य और उपादेय भी है। पुन: ध्यातव्य है कि बौद्धदर्शन के सम्प्रदायों का एक महत्त्वपूर्ण विभाजन साकारज्ञानवाद एवं उसके अवान्तर भेदों में किया जाता है।[८] साकारज्ञानवाद में भी ख्याति की अवधारणा आत्मख्याति के रूप में ही फलित होती है। इसके अतिरिक्त सारूप्य की अवधारणा के चलते भी सौत्रान्तिकों एवं बौद्धनैयायिकों के मत में आत्मख्याति की ही व्याप्ति बनती है। यदि इस समस्या पर बौद्धाभिमत क्षणिकवाद की आधारभूत दृष्टि से विचार करें तो कहा जा सकता है कि क्षणिकवाद की पृष्ठभूमि में सविकल्पक अनुभव के लिए विकल्पों अथवा नामजात्यादि कल्पनाओं का उपचार किसी न किसी तरीके से स्वीकार ही करना पड़ता है, चाहे कोई क्षण को बाह्य अथवा विज्ञान-क्षण के रूप में ही क्यों न माने। क्षणिक तत्त्वों की ज्ञानमीमांसा आत्मनिष्ठता की संकल्पना के सहयोग के बिना गोचर वस्तुओं की ज्ञानमीमांसा हो ही नहीं सकती। अत: बौद्ध दर्शन के बाह्यार्थवादी सम्प्रदायों के ख्याति-विचार को पद्धति एवं प्रकार-भेद के साथ आत्मख्याति के अन्तर्गत ही व्याख्यायित किया जा सकता है।

बौद्धदर्शन में आत्मख्याति का प्रसिद्ध एवं मानक रूप हमें योगाचार विज्ञानवाद में देखने को मिलता है। उनके अनुसार ग्राह्य-ग्राहक-विनिर्मुक्त अद्वय विज्ञान की ही पारमार्थिक सत्ता है। घट-पट आदि बाह्य पदार्थ विज्ञान के ही आकार मात्र हैं, जो अनादिवासना के बल से बहिर्वत् भासित होते हैं। यदि बाह्यार्थों का कुछ भी सार है तो उसे विज्ञानाकार के रूप में ही समझा जा सकता है। अतएव आत्मख्याति में बाह्यार्थों की बाह्यता का आत्यन्तिक निषेध किया गया है जबकि विज्ञानाकार के रूप में उन्हें मान्य किया गया है। अवधेय है कि योगाचार सम्मत त्रिस्वभाव व्यवस्था[९] के अनुसार विशुद्ध विज्ञान 'परिनिष्पन्न स्वभाव', आकारयुक्त विज्ञान 'परतन्त्रस्वभाव' और विज्ञानाकारों की बाह्यार्थ रूप में ख्याति 'परिकल्पित स्वभाव' है। इस व्यवस्था में भ्रमभात् पदार्थ भी विज्ञान के आकार मात्र ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ लौकिक पदार्थ आलयविज्ञान के आकार होते हैं वहीं वैयक्तिक भ्रम में भासित होने वाले पदार्थ क्लिष्ट मनोविज्ञान के आकार होते हैं। इस प्रकार, आत्मख्यातिवादी दृष्टि से भ्रम का सामान्यलक्षण 'ज्ञानाकारस्यैव बहिरवभासी विभ्रम:' ही बनता है। यह लक्षण सन्दर्भ-भेद से घट-पट आदि लौकिक पदार्थों एवं भ्रमभात् सर्पादि पदार्थों पर समान रूप से लागू होता है।

अब यदि आत्मख्याति के मानक स्वरूप को सामने रखकर तथाकथित बाह्यार्थवादी बौद्धों की ख्याति विषयक संकल्पना को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाय तो प्रथमतया यह कहा जा सकता है कि जहाँ योगाचार मत में ख्याति निरधिष्ठान है वहीं बाह्यार्थवादियों के मत में ख्याति को बाह्यार्थों के अनुरोध से साधिष्ठान ही मानना पड़ेगा। ख्याति को साधिष्ठान मानकर भी किस प्रकार बाह्यार्थवादी बौद्धों का मत

अन्यथाख्याति न होकर आत्मख्याति का ही एक प्रकार ठहरता है, इस बात को वैभाषिकों, सौत्रान्तिकों एवं एक सीमा तक न्यायवादी बौद्धों के संज्ञान-सिद्धान्त अथवा प्रत्यक्ष की अवधारणा के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। ऐसा इसलिए कि ख्याति का विचार प्रत्यक्षात्मक भ्रान्ति अथवा प्रत्यक्षाभास के रूप में ही किया जाता है। अनुमानादि प्रमाणों में यह विचार हेत्वाभास का रूप ले लेता है। ज्ञान के प्रत्यक्षेतर साधनों के सन्दर्भ में ख्याति का विचार वहीं तक प्रासंगिक है जहाँ तक प्रत्यक्ष उनका उपजीव्य होता है। इस रूप में 'ख्याति' ज्ञान का अभाव नहीं बल्कि विपर्यय ज्ञान है। अत: उसके स्वरूप का विधि रूप से मूल्यांकन ही ख्यातिवाद की केन्द्रीय समस्या रही है। उपर्युक्त तीनों सम्प्रदाय अपने-अपने संज्ञान सिद्धान्त में प्रथमदृष्ट्या बाह्यालम्बन को स्वीकार करते हैं, और स्पर्श (वैभाषिक), सारूप्य (सौत्रान्तिक) एवं स्वसंवेदन (न्यायवादी बौद्ध) के आधार पर उसकी अलग-अलग व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। परन्तु उनके मत में आगम-प्रोक्त और तर्कत: समीक्षित बाह्यार्थ का स्वरूप ही इतना सूक्ष्म है कि क्षणभंगुर आलम्बन का हमारे ज्ञान के स्वरूपावधारण में निमित्त मात्र के अतिरिक्त कोई विशेष योगदान नहीं हो पाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि हम बाह्यार्थों को जैसा समझते हैं और व्यवहार करते हैं वास्तव में हमारा उस आकार का अध्यवसायात्मक ज्ञान बाह्यार्थों के वास्तविक स्वरूप (तथता) के सच्चे स्वरूप को प्रदर्शित नहीं करता है। जब हम वस्तुमात्र (बाह्य-आन्तरिक) की संकल्पना पृथक्-पृथक् क्षणभंगुर धर्मों के रूप में करते हैं तो उनके प्रत्यक्ष की व्याख्या बहुत जटिल हो जाती है। ऐसा इसलिए कि न केवल वस्तुएँ क्षणिक हैं, बल्कि प्रत्यक्ष की प्रक्रिया भी उतनी ही क्षणिक है। यदि प्रत्यक्ष और उसका विषय दोनों क्षणिक हैं तो उनके मध्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है और सम्बन्ध के बिना आखिर विषय को किस प्रकार प्रत्यक्षात्मक विषय कहा जा सकेगा ? पुन:, प्रत्यक्ष की प्रक्रिया पूर्ण होने तक भी वस्तु को स्थिर माना जाय तो वस्तु की क्षणिकता ही बाधित हो जाती है।[१०] फिर यदि वस्तु दो क्षणों तक स्थिर रहती है तो वह क्यों नहीं अनन्त काल तक स्थिर रह सकती। अतएव ज्ञेय वस्तु की क्षणिकता एवं प्रत्यक्ष में एक सहज विरोध प्रतीत होता है। बाह्यार्थवादी बौद्ध इस विरोध का बड़ा ही मौलिक समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार यह विरोध तब दिखाई पड़ता है जब हम वस्तु तथा ज्ञान को कालिक अनुक्रम में रखकर देखते हैं। वास्तव में जबकि तथता अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमानुसार दोनों की उत्पत्ति समानान्तर रूप से होती है। इस नियम से आलम्बन, इन्द्रिय-विकार और विज्ञान का त्रिकसन्निपात होना ही प्रत्यक्ष का घटना है। दूसरे शब्दों में, रूप का एक क्षण, इन्द्रिय का एक क्षण और विज्ञान का एक क्षण, इन तीनों के युगपद् स्पर्श से रूप-विज्ञप्ति का समुत्पाद होता है। यह रूप का प्रत्यक्ष है। वैभाषिकों के अनुसार रूप विज्ञप्ति के समय रूप कोई मृत पूर्ववर्ती क्षण नहीं, वह अपने ज्ञान-काल में भी जीवित

रहती है। अतएव उनके मत में चक्षुर्विज्ञान निराकार उत्पन्न होता है जिससे रूप का ग्रहण होता है। वैभाषिकों का ऐसा विचार तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, इसलिए सौत्रान्तिकों ने जमकर इसकी आलोचना की है, फिर भी आगम के आधार पर वे अपने मत का समर्थन जुटा लेते है।[१२] सौत्रान्तिक दार्शनिक विज्ञान को निराकार नहीं साकार मानते हैं, क्योंकि वह रूप आदि का सारूप्य लिए हुए उत्पन्न होता है। उनके अनुसार जब रूप-विज्ञान उत्पन्न होता है तो उसका आलम्बन रूप-क्षण मृत हो चुका रहता है।[१३] अतएव बाह्यार्थ कभी प्रत्यक्ष के योग्य नहीं बल्कि अनुमेय होते हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि स्वतन्त्र विज्ञानवादियों के मत में विज्ञान जिस आकार को लिए हुए उत्पन्न होता है उसी का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है।[१४] बौद्धदर्शन में यह प्रसंग (स्पर्श, सारूप्य, स्वसंवेदन) एक गूढ़ आकरस्थल है, जहाँ से तीनों सम्प्रदायों के ओर-छोर अलग-अलग रूप से विकसित होते देखे जा सकते हैं। प्रसंगत: यहाँ हम विस्तार से इसका प्रतिपादन नहीं कर पा रहे हैं।

द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों में प्रत्यक्ष को जिस रूप में अवधारित किया गया है उससे प्रत्यक्ष का नितान्त निर्विकल्पक स्वरूप सामने आता है। साथ ही साथ यह प्रत्यक्ष क्षणिक भी है। इससे वैभाषिकों एवं सौत्रान्तिकों का पुद्गल (धर्म संघात) और बौद्ध नैयायिकों का सामान्यलक्षण व्याख्यायित नहीं हो पाता है, जबकि वे ही हमारे सामान्य अनुभव के विषय होते हैं। अतएव एक ओर क्षण-संतान में ही वस्तुओं को संरचित बताना पड़ता है तो दूसरी ओर घट-पट आदि संरचित वस्तुओं के सविकल्पक ज्ञान की व्याख्या के लिए किसी न किसी तरीके से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की आधारभूमि पर नाम-जात्यादि विकल्पों-कल्पनाओं का आरोपण स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रक्रिया में नील-पीत आदि सामान्य अनुभव के पदार्थ, बाह्यार्थवादी बौद्धों के मत में, अन्तत: मानसिक संरचना मात्र ही सिद्ध होते हैं। यह इनका सांवृत्तिक स्वरूप है। उनका पारमार्थिक स्वरूप तो सामान्य अनुभव के लिए अग्राह्य ही बना रहता है (क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितुं अशक्यत्वात्)।[१५] हमारे सामान्य अनुभव का स्वरूप यह नील है के आकार वाला होता है। इसमें 'यह' अंश वस्तुक्षण अथवा विज्ञानक्षण का द्योतक है और 'नील है' अंश सम्पूर्णतया विकल्पात्मक अध्यवसाय होने से मानसिक संरचना मात्र है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हम 'यह' को अर्थात् एक विविक्त क्षण को ही नीलवस्तुतया विकल्पात्मक रूप से ख्यापित करते हैं। 'यह नील है' का जब 'पीत है' के रूप में भ्रम होता है तो वास्तव में नीलक्षण अथवा नीलविज्ञान का ही वस्तुतया विकल्पीकरण और व्याख्यापन होता है। इसके लिए धर्मोत्तर ने अपनी न्यायबिन्दु टीका में इन्द्रियगत, विषयगत, बाह्याश्रयगत और अध्यात्मगत नामक भ्रांतिज्ञान के चतुर्विध हेतुओं को उपदर्शित किया है। अतएव जिस प्रकार 'यह नील है' की विकल्पात्मक बुद्धि होती है उसी प्रकार 'यह पीत है' का

भ्रम भी एक विकल्पात्मक बुद्धि ही है। यही बाह्यार्थवादी बौद्ध मत में प्रकार भेद से आत्मख्याति है। यदि इसे किसी दूसरे शब्द से कहना आवश्यक हो तो इसे 'विकल्प ख्याति' कहा जा सकता है। आत्मख्याति और विकल्पख्याति का आन्तरभेद वस्तुतः अनादिवासना और विकल्प के अवधारणात्मक भेद से व्याख्येय है।

IV

वास्तव में आत्मख्याति (योगाचार) और विकल्पख्याति (बाह्यार्थवादी) दोनों एक ही गोत्र, कल्प की ख्यातियाँ हैं, परन्तु इनका अन्तर भी बड़ा ही मार्मिक है। योगाचारमत में 'यह नील है' की इदन्ता का आत्यन्तिक निषेध किया जाता है और नीलाकारता विज्ञानगत मानी जाती है। अनादि वासना के प्रभाव वश विज्ञान (आलय विज्ञान) में ही आकारों का समुद्भव होता रहता है और आश्रयपरावृत्ति के उपरान्त सभी आकारों का निरोध हो जाता है तब विज्ञप्तिमात्रता परिनिष्पन्न होती है।[16] अतएव योगाचार विज्ञानवाद में हमारे सांवृत्तिक अनुभव के निर्णयों का स्वरूप वास्तव में 'यह नील है' के रूप में न होकर 'नील यह है' के रूप में होता है। यहाँ 'नील' ही आन्तर होने से उद्देश्य और 'यह' बाह्यप्रक्षेपित होने से विधेय रूप में अवधेय है। इसलिए इन पर 'गौरो अहम्' की तरह 'अहं रजमत्' का दोष दिखाया जाता है, क्योंकि ख्याति-स्थल में रजत की इदन्ता का बाध हो जाने पर क्लिष्टमनोविज्ञानगत रजताकार ही शेष बचता है। चूँकि क्लिष्टमनोविज्ञान अहमात्मक होता है, अतएव मनोविज्ञानगत रजताकार का भी अहमात्मक चेतना से संयुक्त होना स्वाभाविक ही है, कम से कम तब तक जब तक कि रजताकार से रंजित मनोविज्ञान का निरोध किसी दूसरे आकार से न हो जाय। इसके विपरीत बाह्यार्थवादी बौद्धमत में हमारे सामान्य अनुभव के निर्णयों का स्वरूप 'यह नील है' के रूप में ही होता है। यहाँ 'यह' पद का सन्दर्भ वस्तुक्षण अथवा वस्तुक्षण का सारूप्य लिए हुए 'विज्ञान क्षण' होता है जिसे परमार्थतः आन्तर अथवा बाह्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बाह्य और आन्तर का व्यवहार देशकाल की अपेक्षा से होता है और सर्वतोव्यावृत्त क्षण में देशकाल संगत नहीं होते हैं।[17] इसी सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षण रूप शुद्ध इदन्ता की नामजात्यादि पंचविध कल्पनाओं[18] से युक्त वास्तव में विकल्पख्याति होती है। विकल्पात्मक स्थिति में ही विषय-विषयी, बाह्य-आन्तर का उपचार होता है।

यहाँ एक प्रश्न जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप में उपस्थापित होता है वह यह कि सौत्रान्तिकादि बाह्यार्थवादियों की 'विकल्पख्याति' किस तरह अन्यथाख्यातिवाद के संस्कारों से सर्वथा मुक्त और आत्मख्याति के गोत्र-कल्प से युक्त है। यदि बाह्यार्थ जैसा कुछ है तो उसकी भ्रान्ति साधिष्ठान होने से प्रथमदृष्टया अन्यथा रूप में व्याख्यायित हो सकती है। इस पर बौद्धों के पक्ष से यह कहा जाय कि बाह्यार्थ जो है वह नितान्त क्षणिक है और भ्रान्ति की घटना उसे सन्दर्भ नहीं बनाकर विकल्पों के आयाम में

सामान्यलक्षण को सन्दर्भ बनाती है। परन्तु इस अभ्युक्ति को उचित तब कहा जा सकता था जब यह स्वीकार किया जाता कि प्रत्यक्ष की निर्विकल्पक स्थिति में बाह्यार्थ स्वलक्षणत: प्रदत्त होता तो है लेकिन निर्विकल्पक स्थिति में भ्रान्ति ही नहीं होती है। परन्तु अवधेय है कि धर्मकीर्ति निर्विकल्पक भ्रान्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं और इसी कारण उन्होंने प्रत्यक्ष की दिङ्नागीय परिभाषा ''प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढ़'' का परिष्कार करते हुए उसमें विशेष रूप से 'अभ्रान्त' पद का समावेश किया है। परम्परा में और साथ ही आधुनिक व्याख्याकारों में इस 'अभ्रान्त' पद की प्रयुक्ति को लेकर बहुत विवाद है तथा इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न स्पष्टीकरण भी दिये गये हैं। किन्तु इसका वास्तविक निहितार्थ निर्विकल्पक स्थिति में भी भ्रान्ति की सम्भावना को इंगित करता है। यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी भ्रान्त हो सकता है तो उसके अपवारण के लिए प्रत्यक्ष की बौद्धसम्मत परिभाषा में 'अभ्रान्त' शब्द अपरिहार्य हो जाता है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में प्रत्यक्ष का लक्षण प्रस्तुत करते हुए यद्यपि अभ्रान्त पद को नहीं जोड़ा है लेकिन न्यायबिन्दु में प्रयुक्त किया है, जबकि निर्विकल्पक भ्रान्ति की सम्भावना को प्रमाणवार्त्तिक में ही सुनिश्चित किया गया है। धर्मकीर्ति[१९] के अनुसार कल्पना ज्ञान चार प्रकार का होता है। इसमें पहला है प्रत्यक्षाभास, जैसे मरूमरीचिका में जल जैसी वस्तु का व्यवसायी ज्ञान। दूसरा है सांवृत्तिक स्थिति में संवादी व्यवसायी ज्ञान। ऐसा ज्ञान मणिप्रभा और मणि के सन्दर्भ में होता है। तीसरा है पूर्वदृष्ट-जनित संस्कार के आधार पर लिंगानुमेयादि ज्ञान। ये तीनों कल्पना ज्ञान सविकल्पक अवस्था में चरितार्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त एक चौथे प्रकार का कल्पना ज्ञान है जो आश्रयीभूत इन्द्रियों की सदोषता के कारण निर्विकल्पक अवस्था में भी चरितार्थ होती है। तिमिरादिजनित केशोण्ड्रकादिज्ञान एवं द्विचन्द्र दर्शनादि का ज्ञान इसके उदाहरण बनते हैं।

अब यदि सुनिश्चित है कि सदोष इन्द्रियों के चलते निर्विकल्पक भ्रान्ति होती है तो उस स्थिति में भ्रमभात् पदार्थ की उपलब्धि अन्यथा रूप से आपातत: मानी जा सकती है जैसा कि साधिष्ठान भ्रम को नैयायिक 'अन्यथाख्याति' रूप से व्याख्यायित करते हैं। परन्तु न्यायवासना वासित दृष्टि से मुक्त होकर सोचा जाय तो बाह्यार्थवादी बौद्ध दृष्टि से यह उपादेय प्रतीत नहीं होता। ऐसा इसलिए की बौद्ध दृष्टि में क्षणिक वस्तु अथवा स्थिर वस्तु ही क्यों न हो, वह भ्रान्ति का निमित्त तो बनती है लेकिन सीधे-सीधे सन्दर्भ नहीं बनती। वस्तु के 'जन्मदेशे एव च्यूति'रूप नितान्त क्षणिक होने से इन्द्रिय द्वार के द्वारा सारूप्य अर्थात् वस्तुप्रतिभास ही गृहीत होता है। ऐसी स्थिति में सदोष इन्द्रियों से सारूप्य के सदोष ग्रहण में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। लेकिन यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि इन्द्रिय द्वार से चेतना में सारूप्य उत्पन्न करने वाला वस्तुक्षण तब तक निरन्वय रूप से निरूद्ध हो चुका है और तब दोषपूर्ण सारूप्य भी विकल्पित होकर ही आत्मनिष्ठ रूप से बाह्य-प्रक्षेपित हो सकता है। यहाँ तक कि निर्दोष सारूप्य

का भी विकल्पानुविद्ध प्रक्षेपण बाह्यरूप से बौद्धमत में आत्मनिष्ठ ही होता है। अतएव कहा जा सकता है कि वस्तुक्षण के नितान्त क्षणिक होने और उसके ज्ञान के सारूप्यवादी अभ्युपगम के चलते बाह्यार्थवादी बौद्धों का ख्याति विचार 'आत्मख्याति' के गोत्र से मेल रखता है। क्षणिक बाह्यार्थ के भ्रम का सन्दर्भ नहीं बल्कि निमित्त होने से भी अन्यथाख्याति नहीं बनती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध परम्परा में माध्यमिकों को छोड़कर, वैभाषिक, सौत्रान्तिक एवं न्यायवादी बौद्धों की ख्याति विषयक सम्भव संकल्पना का अन्तर्भाव लाघवपूर्वक योगाचार की आत्मख्याति में किया जा सकता है। यदि वाचस्पति मिश्र ने भामती में इसका संकेत किया था तो वह उचित ही था। अवधेय है कि इन सभी सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसीय विशिष्टता बौद्ध दर्शन के विकासक्रम में अपने-अपने स्थान पर सुरक्षित एवं सम्मानित है फिर भी क्षणभंगुर सत् की व्यापक स्वीकृति के चलते इनकी ज्ञानमीमांसा में आत्मनिष्ठता का प्रवेश हो ही जाता है। यह कहना कोई अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि सत् के क्षणिक प्रतिमान को प्रस्तावित किये जाने के साथ ही आत्मनिष्ठता की अवधारणा बौद्ध प्रमाणमीमांसा की कुंजी बन जाती है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. *मण्डन मिश्र- विभ्रम विवेक १.आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा। परीक्षाकाणां विभ्रान्तौ विवादात् सा विविच्यते ॥*

२. *आचार्य शंकर के द्वारा उपदर्शित विकल्प इस प्रकार हैं - १. अन्यत्रान्यधर्माध्यासः २. यत्र यदध्यासस्तद्विवेका-ग्रहनिबन्धनो भ्रमः ३. यत्र अध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मकल्पनामाचक्षते। इन तीनों विकल्पों के विश्लेषण में आचार्य शंकर ने 'अन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति' दिखाते हुए 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' रूप में स्वाभिमत अध्यास का लक्षण किया है। द्रष्टव्य- ब्रह्मसूत्रभाष्य उपोद्घात।*

३. *न्यायमकरन्द -पृ. ११५, यत्तावत् निर्वचनानर्हतैवानिर्वाच्यतेत्यभ्यधायि तत्रानभ्युपगम एव। यत्तु नापि सदसत्प्रकारविलक्षणता इत्यादि तत्र यद्यपि एकैकप्रकार वैलक्षण्योभयप्रकार-वैलक्षण्ययोः अस्ति व्यभिचारः, तथापि एकैक-प्रकारवैलक्षण्यावच्छिन्नोभयप्रकारवैलक्षण्यस्य लक्षणभावे न कश्चन दोषं पश्यामः।*

४. *द्रष्टव्य पं. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान', वादत्रयी - ख्यातिवादाविमर्शः, प्रका. कालिदास अकादमी, उज्जैन।*

५. *विमुक्तात्मा, इष्टसिद्धि १/२ पृ. ३९-४० रजतं भाति यद्भ्रान्तौ तत्सदेके परे त्वसत् तत्र सत्पक्षस्त्रिधा भिन्नः-आत्मख्यातिरख्यातिरन्यथाख्यातिरिति।*

६. *वाचस्पति मिश्र, भामती, अध्यासप्रकरण - सौत्रान्तिकनये तावद्बाह्यस्ति वस्तुसत्, तत्र ज्ञानाकारस्या-रोपः ... तथाच रजते बहिर्बाधिमर्थादान्तरे ज्ञाने व्यवतिष्ठत् इति ज्ञानाकारस्य बहिरध्यासः। द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्, सं. अनन्तकृष्ण शास्त्री, पृ. २६, १९३८, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई।*

७. *द्रष्टव्य पं. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान', वादत्रयी, अ., ख्यातिवादाविमर्शः।*

८. बौद्ध परम्परा में साकारवाद के मुख्य दो प्रभेद माने जाते हैं - सत्याकारवाद और मिथ्याकारवाद। पुन: सत्याकारवाद के अर्धाण्डाकारवाद, ग्राह्य-ग्राहक समसंख्याकवाद और नाना-अद्वैतवाद नामक तीन उपभेद किये गये हैं। द्रष्टव्य विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकरणद्वय-सम्पा. रामशंकर त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, भूमिका, पृ. ४४-४८.

९. वसुबन्धु, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (त्रिंशिका) २०,२१ एवं त्रिस्वभावनिर्देश - १,२,३.

१०. मध्यान्तविभागसूत्रभाष्यटीका, सम्पा. भट्टाचार्य एवं टुच्ची १९३२, पृ. ११, वर्तमानालम्बन ग्रहणे च क्षणभंगबाध:। एवं द्रष्टव्य-अभिधर्मकोशभाष्य ५/२७.

११. त्रिकसन्निपातो स्पर्श:।

१२. अभिधर्मकोश ५/२५ एवं विभाषाप्रभा ५/३०६.

१३. अभिधर्मकोश ४/४ - क्षणादूर्ध्वमविज्ञप्ति:।

१४. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक २/२२४-हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन। तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यांस्तद् ग्राह्यमुच्च्यते। तथा-धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका-यदाकारं विज्ञानं उत्पद्यते तदेव ग्राह्यमिति कथ्यते।

१५. न्यायबिन्दु टीका, पृ. २६.

१६. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (त्रिंशिका)-२९ इस पर स्थिरमति का भाष्य, द्रष्टव्य।

१७. प्रज्ञाकरगुप्त-प्रमाणवार्त्तिकालङ्कारभाष्य (स्वामी योगिन्द्रानन्द संस्क.) २/२२६. बहिरन्तरिति ज्ञानं देशकालाद्यपेक्षणात्। स्वरूपव्यतिरेकेण देशकालावसंगतौ।

१८. कल्पना कि बुद्धिविशषो, नामजात्यादिकल्पना (दिङ्नाग)। अभिलापसंसर्गयोग्य- प्रतिभास प्रतीति: कल्पना (धर्मकीर्ति) न्यायबिन्दु १/५.

१९. प्रमाणवार्त्तिक - २/२८८, त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयो पप्पलवोद्भव:। अविकल्पमेकं च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम्॥

अध्याय : ग्यारह



अनुमानावतार एवं सन्देहवादी पूर्वपक्ष

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के इतिहास में प्रमाणमीमांसा के विभिन्न प्रारूप प्राप्त होते हैं। इन सभी प्रारूपों की एक दूसरे से अन्तर्वस्तु मूलक भिन्नता एवं विशिष्टता इस बात में निहित होती है कि प्रत्येक के द्वारा किसी न किसी तत्त्वमीमांसा विशेष का संरक्षण अवश्य किया जाता है। वास्तव में यदि पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा का उद्देश्य सामाजिक धरातल पर वैज्ञानिक विश्वदृष्टि को सम्यक् आधार प्रदान करना रहा है तो भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन अपने निहितार्थों के साथ किसी न किसी तत्त्वमीमांसा के संरक्षण में ही फलित हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति तथा जाति की गोत्र, बौद्धिकता, संस्कृति एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति में भेद होने से उसकी 'विश्वदृष्टि' का भिन्न होना स्वाभाविक ही है। विश्वदृष्टि विषयक भेद की पृष्ठभूमि में वैकल्पिक तत्त्वमीमांसा की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यही सम्भावना विभिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचनाओं को, न्यूनाधिक रूप में अन्तर्वस्तुमूलक भेद के साथ, प्रस्तावित करती है। इस तरह देखा जाय तो प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के अपने ही तर्क और प्रमाण होते हैं। सामान्य रूप से किसी भी प्रमाणमीमांसीय संरचना की विशिष्टता तत्सम्मत तात्त्विक दृष्टिसे लोकानुभव को संस्कारित करते हुए उसकी व्याख्या एवं व्यवस्था में परिलक्षित हुआ करती है। इसीलिए कोई तत्त्वमीमांसा लोक ानुभव को निर्देशित न कर उसे व्याख्यायित करने में ही मूल्यवान् और सार्थक होती है। विशेष रूप से किसी प्रमाणमीमांसीय संरचना की विशिष्टता उसके द्वारा स्वीकृत प्रमाणों की संख्या, स्वरूप, विषय एवं विनियोग की वैकल्पिक व्याख्या में परिलक्षित

हुआ करती है। कोई भी प्रमाणमीमांसा इसी स्तर पर अपनी तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत सत् के प्रतिमान की विशिष्टता को सुरक्षित रखती है। इस प्रकार यदि वैकल्पिक प्रमाणमीमांसा सम्भव है तो किसी भी प्रमाणमीमांसा की उपर्युक्त विशिष्टताएँ निरापद नहीं हो सकती हैं। उसका नितान्त विरोधी पक्ष उपस्थापित किया जा सकता है। अतएव तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता में उसे अपनी विशिष्टता को प्रतिपादित करने के लिए अपने नितान्त विरोधी पूर्वपक्ष का समुचित उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। ऐसा करते हुए ही कोई प्रमाणमीमांसा सुसंगत एवं न्यूनाधिक रूप से उच्चतर व्यवस्था प्रदान करने का दावा कर सकती है। इस प्रकार के पूर्वपक्षों को दो तरीके से देखा जा सकता है। पहला यह कि दो दार्शनिक सम्प्रदायों में चरितार्थ होने वाली प्रमाणमीमांसा इतरेतर रूप से, अर्थात् परस्पर एक दूसरे के लिए पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत होती है। परन्तु इस तरह यदि इतरेतर पूर्वपक्ष सम्भव है तो एक पूर्वपक्ष उत्तरोत्तर रूप से भी सम्भव हो सकता है जो किसी भी प्रमाणमीमांसा की स्थापनीयता के विरुद्ध विस्थापक पूर्वपक्ष की भूमिका में अपने को प्रस्तुत करे। पाश्चात्य पदावली में ऐसे पूर्वपक्ष को संदेहवादी और भारतीय परम्परा में वैतण्डिक अथवा उच्छेदवादी कहा जाता है।

I

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के इतिहास में ऐसे सन्देहवादी पूर्वपक्षों को विभिन्न तरीकों से प्रस्तुत किया गया है। यूरोप में सन्देहवादियों का सम्प्रदाय जिस रूप में विकसित हुआ है उसी तरह भारत में प्रमाणमूलक सन्देहवादियों का कोई व्यवस्थित इतिहास नहीं है। यत्र-तत्र सन्देहवादी प्रकृति के पूर्वपक्ष तो प्राप्त होते हैं लेकिन उनका कोई एक और व्यस्थित सम्प्रदाय स्पष्ट नहीं है। स्पष्ट रूप से केवल ज्ञानश्री मित्र ने अपने अद्वैतबिन्दु नामक प्रकरण-ग्रन्थ में प्रमाणोच्छेदवादी पूर्वपक्ष का अध्याहार किया है जो किसी भी प्रमाणमीमांसीय संरचना के फलन की सम्भावना को ही निरस्त करता है। संक्षेप में, इसके प्रति ज्ञानश्री का कहना यह है कि यदि प्रमाण ही किसी के लिए अनिष्ट हो तो उसके लिए कुछ भी इष्ट नहीं हो सकता। भाव-अभाव की व्यवस्था के लिए प्रमाणों की प्रभुता को स्वीकार करना आवश्यक है।[1] ऐसे ही गौतमीय न्यायशास्त्र के विकास में कहीं-कहीं अनुपलम्भवादी पूर्वपक्ष के संकेत प्राप्त होते हैं। भारतीय दर्शन में वैतण्डिकों की शैली सन्देहवादियों से मिलती जुलती है। सन्देहवादियों का एक प्रकार ऐसा भी है जो प्रमाणों की संभावना का ही खण्डन करता है। नागार्जुन ने अपने विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्र में प्रमाण-विरोधी ऐसे ही पूर्वपक्ष को उपस्थापित किया है। श्रीहर्ष अपने खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थ में नैयायिकों के ''मानाधीना सर्वेषां व्यवस्थित:'' जैसे सर्वतन्त्र स्वतंत्र सिद्धान्त का खण्डन करते हुए नागार्जुन से कुछ भिन्न भूमिका में प्रतीत होते हैं। सन्देहवादियों का एक दूसरा प्रकार बहुआयामिक है जो किसी प्रमाणमीमांसीय संरचना के अन्तर्गत स्वीकृत प्रमाणों के स्वरूप, लक्षण,

विषय तथा विनियोग इत्यादि को सर्वथा दोषयुक्त बतलाते हुए उसकी प्रस्थापनाओं को निरस्त करने का प्रयास करता है। इस कोटि के अग्रणी दार्शनिक जयराशि भट्ट हैं, जो प्रमाणसद्लक्षण की असम्भाव्यता को प्रदर्शित करते हुए सद्लक्षणात्मक प्रमाणों से सिद्ध होने वाले प्रमेयतन्त्र का खण्डन करते हैं। वस्तुत: भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में सन्देहवादी पूर्वपक्ष जिस किसी रूप में भी प्राप्त होते हों, उन्हें मौटे तौर से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार में ऐसी चुनौतियों को रखा जा सकता है जो प्रमाण मात्र की संभावना का ही खण्डन करते हैं, दूसरे प्रकार में प्रमाणों के स्वरूप, लक्षण एवं उनके विषय तथा विनियोगादि को दोषयुक्त बताने वाली चुनौतियों को रखा जा सकता है। यद्यपि नागार्जुन में पहले प्रकार की और जयराशि भट्ट में दूसरे प्रकार की चुनौतियों की प्रधानता देखी जाती है तथापि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में ये दोनों इतने घुले-मिले हैं कि इनके मध्य स्पष्ट विभाजन रेखा खींचकर विशेषीकृत रूप में ये यहाँ विचार करना न तो सम्भव है और न ही प्रासंगिक। प्रस्तुत निबन्ध का विवेच्य विषय यह देखने तक सीमित है कि बौद्ध नैयायिकों के अनुमान-प्रमाण के प्रति सामान्य रूप से सन्देहवादी चुनौतियों को किस रूप में प्रस्तुत किया गया है और वे इसका समाधान करते हुए किस प्रकार हेतु तथा व्याप्ति की अवधारणा को प्रतिपादित करते हैं। बौद्ध न्याय में अनुमान प्रमाण की बनावट ही ऐसी है कि उसके प्रति उत्थापित सन्देहवादी आपत्तियाँ और उनका परिहार प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि बौद्ध नैयायिकों का अनुमान विकल्पात्मक धर्म-धर्मी सम्बन्ध पर आश्रित होने से 'अयथा-अभिनिवेशिनी भ्रांति' रूप से अभिहित हुआ है।[२] किन्तु फिर भी वह मनुष्य के संज्ञान के अधिकांश क्षेत्र को व्याप्त करता है। दूसरे, प्रत्यक्ष का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है तथा स्वयं प्रत्यक्ष एवं उसका ग्राह्य विषय अपनी शुद्धता में व्यवहार योग्य नहीं हैं। नैयायिकों की आनुमिति जिस तरह प्रत्यक्षाश्रित होती है उस अर्थ में बौद्धों के अनुमित्यात्मक ज्ञान को प्रत्यक्षाश्रित भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा इसलिए कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अपने स्वरूप में ही नि:शेष होने से किसी अन्य के ज्ञान का गमक नहीं हो पाता। पुन:, बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में अनुमान प्रमाण का सार्थक एवं सुसंगत विनियोग बहुत आवश्यक भी है। यही कारण है कि धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक के अन्य अध्यायों पर स्वोपज्ञवृत्ति न लिखकर 'स्वार्थानुमान परिच्छेद' पर ही स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है।

II

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में अनुमान-प्रमाण के प्रति तथाकथित सन्देहवादी आक्षेप व्याप्ति सम्बन्ध पर आधारित अनुमिति के स्वरूप, विनियोग एवं प्रामाणिकता को ही प्रभावित करते हैं।पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों में सन्देहवादी आक्षेपों की प्रकृति इतिविषयक प्राय: एक जैसी रही है। ये आक्षेप या तो अनुमान की सम्भावना

को या फिर उसकी प्रामाणिकता को ही निरस्त करते हैं। यही कारण है कि तत्त्वचिन्तामणिकार गंगेश ने अनुमान प्रसंग के पूर्व ही अनुमति का निरूपण किया है।[३] ऐसा करते हुए वे व्याप्ति आदि का निर्धारण करने से पहले ही अनुमिति की संभावना एवं प्रामाणिकता को सुनिश्चित कर लेते हैं। धर्मकीर्ति तो गंगेश से बहुत पहले ही इस दृष्टि को आत्मसात् किये हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने प्रमाणवार्तिक के प्रत्यक्ष परिच्छेद में अनुमान पर विचार करते हुए सर्वप्रथम उसकी प्रमाणिकता को ही स्थिर किया है जबकि अनुमान का प्रसंग ग्रन्थ योजना में बाद में आता है।[४] संक्षेप में, धर्मकीर्ति यह उपस्थापित करते हैं कि एक ही तत्त्व-स्वलक्षण का स्वरूपेण ग्रहण प्रत्यक्षत: होता है और उसी की पररूपेण गति (ज्ञान) अनुमानत: होती है। अत: स्वलक्षण का पररूपेण ज्ञान नाम-जात्यादि विकल्पों से विकल्पित ''सामान्यलक्षण'' रूप में होता है। अत: स्वलक्षण की पररूपेण गति यदि भ्रांति में पर्यवसित होती है तब अनुमान में प्रमाणता नहीं बन सकती। इसका समाधान करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि अर्थक्रिया के साधन भूत अर्थ की प्रापकता ही प्रमाणता है। अनुमान में अभिप्रेत अर्थ की प्रापकता का अविसंवाद सुरक्षित रहता है। यद्यपि अनुमान अवस्तुविषयक होता है, फिर भी उसका अभिप्रेत अर्थ से सारूप्य-निबन्धन होने के कारण मणि-प्रभा ज्ञान से मणि की उपलब्धि की तरह अनुमान की प्रमाणता में कोई बाधा नहीं है। बौद्ध न्याय में अनुमान को ''अयथा-अभिनिवेशिनी भ्रांति'' कहने का यही अभिप्राय है।[५] अतएव ग्राह्यता की दृष्टि से अनुमान अवस्तुविषयक है लेकिन प्रापकता की दृष्टि से वह वस्तुप्रापक होने के कारण प्रमाण्य कोटि में आता है। अनुमान की अवस्तुमूलक ग्राह्यता की विशिष्टता यह है कि वह वस्तु की प्रापकता का अभिनिवेशक होता है। इसलिए अपने पूरे स्वरूप में वह भ्रम नहीं बल्कि संवादी भ्रम जैसा होता है।

बौद्धन्याय-सम्मत अनुमान-प्रमाण के प्रति तथाकथित सदेहवादी पूर्वपक्षों को कमलशील ने निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है।

प्रथमत: अनुमान हेतु-त्रैरूप्यपूर्वक फलित होता है, लेकिन त्रैरूप्य-हेतु मिथ्यानुभव में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। अत: अनुमिति के प्रमात्व और अप्रमात्व का निश्चय ही संभव नहीं है। यथा-चक्षुरादि इन्द्रियाँ परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए होती है, क्योंकि ये सब संघात वस्तुएँ हैं - जैसे कुर्सी, पलंग इत्यादि। परञ्च चक्षुरादि इन्द्रियाँ स्वयं के लिए भी होती हैं।[६] इनका सर्वत्र परार्थ के लिए होना आवश्यक नहीं है।

द्वितीयत:, त्रैरूप्य की उपलब्धि ऐसे स्थलों पर भी संभव है जहाँ अनुमिति का फलन या तो होता नहीं या फिर अनावश्यक होता है। अत: हेतु की त्रिरूपता ही अनुमिति का कारण हो यह आवश्यक नहीं।[७]

तृतीयत:, अनुमान-साधन में सर्वत्र विरोध या व्यभिचार सम्भव होने से उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।[८] उदाहरण के लिए ध्वनि अनित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होती है। पुन:, ध्वनि नित्य है क्योंकि वह आकाश की तरह अमूर्त है।

चतुर्थत: धूम से अग्नि का अनुमान तभी संभव है जब हम पहले से ही यह जानें कि अग्नि में धूम व्याप्त होता है। ऐसे ज्ञान में नवीनता का अभाव होने से उसे प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता।[९]

पंचत:, व्याप्ति पर आधारित अनुमान तब तक वैध नहीं हो सकता जब तक सकल वह्नि और धूम के सम्बन्ध को प्रत्यक्षीकृत न कर लिया जाये। यह असम्भव है। यदि एक अनुमान को दूसरे अनुमान पर आश्रित माना जाय तो अनवस्थाप्रसक्ति होगी। यदि शब्दप्रमाण (आप्तवचन) के द्वारा व्याप्ति का निश्चय स्वीकार किया जाय जो यह स्वयं अनुमान पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय दोष से ग्रसित हो जायेगा।[१०]

III

द्रष्टव्य है कि बौद्ध नैयायिकों ने अनुमान-प्रमाण के प्रति उपर्युक्त सन्देहवादी प्रकार के आक्षेपों का सम्यक् रूप से परिहार करते हुए अनुमान की आवश्यकता, महत्त्व एवं फलन तथा वैधता को प्रतिपादित किया है। साथ ही इस तथ्य को भी उद्घाटित किया है कि तथाकथित सन्देहवादी भी अनुमान का खण्डन करते हुए अनजाने में ही सही लेकिन अनुमान का प्रयोग कर रहे होते हैं। अत: अनुमान की सम्भाव्यता या असम्भाव्यता का प्रश्न नहीं है, बल्कि प्रश्न तो केवल वैध अनुमान के स्वरूप एवं फलन का है।

प्रथमत:, अनुमान-प्रमाण की आवश्यकता एवं महत्त्व को व्यावहारिक रूप से प्रतिष्ठापित करते हुए कहा जा सकता है कि युक्ति और प्रमाण से पुष्ट प्रवृत्ति ही समर्थ रूप से जीवन-साधक होती है। ऐसी प्रवृत्तियों को नितान्त प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं किया जा सकता। व्यवहार में परोक्ष प्रवृत्तियों का ही बाहुल्य होता है। परोक्ष प्रवृत्तियों को समर्थ प्रवृत्ति बनाने के लिए अनुमान-प्रमाण आवश्यक है। मनुष्य अतीत से सीख लेता है, वर्तमान पर आरुढ़ रहता है और भविष्य की आशा करता है। अत: अनुमान का प्रयोक्ता होना उसके लिए आवश्यक है।

द्वितीयत:, धर्मकीर्ति ने प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से अनुमान-प्रमाण की आवश्यकता एवं महत्त्व को उद्घाटित करते हुए प्रमाणसामान्य एवं अप्रमाण-सामान्य सम्पादन के लिए अनुमान को आवश्यक बताया है। धर्मकीर्ति का यह प्रस्ताव किसी भी प्रमाणमीमांसीय संरचना के अन्तर्गत प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमान प्रमाण की आवश्यकता को सुनिश्चित करता है। किसी भी ज्ञान को प्रमाण या अप्रमाण सिद्ध करने के लिए उस ज्ञान का अर्थ के साथ क्रमश: अविसंवाद या विसंवाद का होना आवश्यक है। यह मिथ्या ज्ञान और विसंवाद तथा सत्यज्ञान और अविसंवाद के मध्य अविनाभाव के बिना सम्भव नहीं। अत: अनुमान प्रमाण अपरिहार्य है।[११]

तृतीयत:, बौद्ध न्याय में अनुमान के प्रति पूर्वोक्त प्रथम आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि मिथ्या ज्ञान में हेतु-त्रैरूप्य की उपलब्धि सम्भव नहीं। व्यभिचार प्रदर्शन के लिए

प्रस्तुत किये गये अनुमान में कुछ भी ऐसा नहीं दिखाया जा सकता जो असंघात वस्तु होते हुए भी परार्थ हो। पुन: त्रैरूप्य-हेतु से सम्पुष्ट अनुमान व्यवहार का अविसंवाद होता है, लेकिन मिथ्या ज्ञान में ऐसा अविसंवाद उपलब्ध नहीं रहता। यदि आक्षेपक प्रवृत्ति-साफल्य के आधार पर प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं तो उन्हीं गुण-लक्षणों के आधार पर अनुमान की प्रामाणिकता को स्वीकार करने में क्या आपत्ति है?

चतुर्थत:, पूर्वोक्त दूसरा आक्षेप भी उचित नहीं है, क्योंकि उसमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों के मध्य अनुमान की विशिष्टता को समाप्त करने का प्रयास किया गया है। वस्तुत: यह अनुमान की स्वतन्त्र प्रमाणता का विरोध है, जबकि त्रैरूप्य हेतु से सम्पन्न व्याप्ति पर आधारित होना ही अनुमान को प्रत्यक्ष से व्यावृत्त करता है।[12] आक्षेपक कोई ऐसा उदाहरण नहीं प्रस्तुत कर सकता जहाँ त्रैरूप्य हेतु-पूर्वक ज्ञान होता हो लेकिन उसे अनुमिति न कहा जा सके। पुन:, यह कहना कि हेतु-त्रैरूप्य वहाँ भी उपलब्ध होता है जहाँ अनुमान की वस्तुत: आवश्यकता नहीं होती, यह बात प्रमाणसम्प्लव के कारण तब उठती है जब किसी वस्तु के ज्ञान के लिए उपजीव्य अथव बलाबल की दृष्टि से बलीयसी प्रमाण उपलब्ध हो किन्तु फिर भी द्वैतीयक प्रमाण को प्रयुक्त किया जाता हो। बौद्धों की प्रमाणमीमांसा में इस समस्या के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि वे प्रमाण विनियोग के सम्बन्ध में कट्टर व्यवस्थावादी हैं।

पंचत:, पूर्वोक्त तृतीय आक्षेप अपने आप में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसे अनुमान का विप्रतिषेध या पॉराडॉक्स कहा जा सकता है, क्योंकि यह सभी सर्वत्र अनुमान में विरोध-प्रसंग की सम्भावना को प्रस्तावित करता है। यह बात सही है कि कुछ अनुमान विरोधग्रस्त होते हैं। दिङ्नाग ने तो विरुद्धाव्यभिचारी हेतु को स्वयं ही हेत्वाभास के अन्तर्गत परिगणित किया है। कमलशील ने इस आक्षेप का विरोध कूट तर्क से करते हुए कहा है कि किसी अनुमान विशेष में विरोध-प्रसंग को उपस्थापित कर अनुमान मात्र की अप्रामाण्य प्रसिद्धि के लिए भी एक वैध अनुमान अपेक्षित होता है।[13]

षष्ठत:, पूर्वोक्त चतुर्थ आक्षेप भी उचित नहीं है। इसे उचित तब कहा जा सकता था जब यह स्वीकार किया जाता कि अनुमेय पदार्थ अग्नि या अग्नि और धूम का सम्बन्ध अनुमान की प्रक्रिया में हेतु और साध्य रूप में पहले ही ज्ञात होते हैं। परञ्च बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि में अग्नि-विशिष्ट देश का अनुमान होने से ''अनुवादकत्वात् अप्रामाण्यम्'' का आक्षेप सर्वथा अयुक्त है।

सप्तत: पूर्वोक्त अन्तिम आक्षेप भी बौद्ध नैयायिकों के व्याप्ति स्वरूप एवं व्याप्तिग्रह की अवधारणा के साथ न्याय नहीं करता। बौद्ध नैयायिकों द्वारा अन्तर्व्याप्ति का समर्थन तथा तादात्म्य और तदुत्पत्तिपूर्वक व्याप्ति का निश्चय सहचार-दर्शन एवं व्यभिचार-अदर्शन का मुखापेक्षी नहीं है। अत: हेतु और साध्य के सकल उद्धरणों को प्रत्यक्षीकृत करने के उपरांत व्याप्ति-निश्चय और वैध अनुमान के फलन का प्रस्ताव उचित नहीं है।

वस्तुत: ऐसे कूट तर्कों से सन्देहवादी आक्षेपों का परिहार करना ही पर्याप्त नहीं है। बौद्ध नैयायिक एक कदम आगे बढ़कर अभाव ज्ञान, पर चित्त-ज्ञान और परलोक-निवारण के लिए सन्देहवादी वैचारिकी अर्थात् लोकायतिकों की वैचारिकी की अनुमत सीमा में भी अनुमान की अनिवार्यता को आवश्यक बताते हैं।[१४]

IV

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से इतना इंगित होता है कि अनुमान एक सम्भव और सार्थक प्रमाण हो सकता है। इसके समुचित प्रयोग से प्रामाणिक एवं निश्चयात्मक कोटि का ज्ञान सम्भव है। आनुमानिक निश्चय को एक अभिकथन से निगमित दूसरे अभिकथनात्मक निर्णय के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए जिसमें निष्कर्ष वाक्य की सत्यता एवं असत्यता आधार वाक्य की सत्यता एवं असत्यता की समानुपाती होती है। वस्तुत: अभिकथनात्मक तर्कशास्त्र के निर्णय आकारिक होते हैं और इस कारण तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थ होते हैं, जबकि आनुमानिक निश्चय लोकानुभव एवं लोकसत्य से सम्बन्धित होने के कारण एक तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि की अपेक्षा रखते हैं। प्राच्य हेतुविद्या और पाश्चात्य आकारिक तर्कशास्त्र के अनुमान में यही उल्लेखनीय अन्तर है। सभी दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय संरचना में अनुमान की तात्त्विक पृष्ठभूमि एक जैसी हो, यह आवश्यक नहीं है। परञ्च वैध अनुमान के फलित होने के लिए न्यूनतम तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि के रूप में सम्बन्धों का एक जैसा ढाँचा आवश्यक है जिसमें हेतु और साध्य के मध्य एक विशेष प्रकार का अनिवार्य एवं सार्वभौम सम्बन्ध स्थापित हो सके। तर्करसिक नैयायिकों के मत में सभी सम्बन्ध बाह्य एवं वस्तुगत होते हैं, जबकि बौद्ध नैयायिकों के मत में सभी सम्बन्ध आन्तरिक एवं विकल्पात्मक अथवा मानसिक संरचना मात्र हैं। बौद्ध नैयायिकों की यह विशिष्टता है कि वे विकल्पात्मक धर्म-धर्मी सम्बन्ध के आधार पर अनुमान प्रमाण को खड़ा करते हैं। अनुमान के लिए हेतु और साध्य के मध्य अनिवार्य सम्बन्ध का होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसे ज्ञात भी होना चाहिए। ऐसे सम्बन्ध की कुछ वर्जनाएं भी हो सकती हैं। यदि संभव वर्जनाओं से मुक्त दो वस्तुओं या विषयों के मध्य अनिवार्य एवं सार्वभौम सम्बन्ध की अवधारणाा प्रतिपादित हो जाती है तब अनुमान के विनियोग में कोई बाधा नहीं। हेतु और साध्य के मध्य ऐसे ही सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास में व्याप्ति-सम्बन्ध के कतिपय उपनाम भी प्राप्त होते है। न्यायसिद्धान्तदीप में व्याप्ति को सम्बन्ध मात्र (भासर्वज्ञ), अव्यभिचारित्व (श्रीधर), अविनाभाव (प्रशस्तपाद एवं दिङ्नाग), स्वाभाविक सम्बन्ध (त्रिलोचन) निमित्त-नैमित्तिकभाव (साँख्याचार्य), तादात्म्य सम्बन्ध (धर्मकीर्ति), विशिष्ट-वैशिष्ट्य-भाव साध्याभाव-व्यापकाभावप्रतियोगित्व, कार्त्स्नेन साधन-साध्य सहभाव (वल्लभ), अनौपाधिक सम्बन्ध (उदयन), एवं साधनत्वाभिमतसमानाधि-करणात्यन्ताभाव प्रतियोगी

समानाधिकरण्य इत्यादि कहा गया है। हेतु-विमर्श के प्रसंग में परिगणित उपर्युक्त एकादश उपनामों में व्याप्ति-स्वरूप के संपूर्ण ऐतिहासिक विकास को देखा जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में हम व्याप्ति-स्वरूप के विकास का विस्तृत विवेचन नहीं कर पा रहे हैं। यहाँ विचारणीय है कि दो या दो से अधिक प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में व्याप्ति-सम्बन्ध में भेद क्यों होता है ? यदि इस प्रश्न को उसके तार्किक निष्कर्ष तक ले जाया जाय तो यही फलित होगा कि तत्तद् दर्शनों की तात्त्विक पृष्ठभूमि में भेद होने से उनकी प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में सम्बन्ध की अवधारणा भिन्न-भिन्न होती है, एतावता व्याप्ति-स्वरूप की व्याख्या में भेद का परिलक्षित होना स्वाभाविक है।

V

न्यायदर्शन में सम्बन्धों की वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में सभी सम्बन्ध बाह्य एवं वस्तुगत होते हैं। ''अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वं पदार्थत्वम्'' के निकष पर दो वस्तुओं का सम्बन्ध भी उतना ही यथार्थ होता है जितना कि दोनों सम्बन्धी यथार्थ होते हैं। सम्बन्धों की वस्तुवादी तात्त्विक पृष्ठभूमि में नैयायिक ''व्याप्ति-सम्बन्ध'' को सहचार-नियम या अविनाभाव नियम के रूप में अवधारित करते हैं। सहचार-नियम दो वस्तुओं की साथ-साथ उपस्थिति या उपलब्धि है। अविनाभाव नियम से दो वस्तुओं की पारस्परिक निर्भरता का भाव द्योतित होता है। उदाहरण के लिए 'यत्र-तत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः' को लिया जाय तो यत् में तत् की सहस्थिति को सहचार तथा यत् विशेषण धूम एवं तत् विशेषण वह्नि की पारस्परिक निर्भरता को अविनाभाव कहा जा सकता है। अन्वय-व्यतिरेक-पद्धति से व्याप्ति के केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकी नामक त्रिविध प्रकार हो सकते हैं। व्याप्ति-सम्बन्ध के इन प्रकारों के द्वारा हेतु का स्वरूप तथा अनुमान के फलन में हेतु की प्रस्थिति एवं भूमिका निर्धारित होती है। इन सब के बावजूद व्याप्ति हेतु और साध्य के मध्य घटित होने वाला अनिवार्य सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध अपना विस्तार नियम की परिधि पर्यन्त करता है। ऐसे नियम पर्यन्त सम्बन्ध की कुछ अपनी विशिष्टताएँ होती हैं। काल्पनिकता के बदले वस्तुगतता, आत्मनिष्ठता के बदले वस्तुनिष्ठता, सोपाधिकता के बदले अनौपाधिकता और व्यभिचारित्व के बदले अव्यभिचारित्व, आकस्मिकता के बदले अनिवार्यता इसकी मुख्य विशिष्टताएँ हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि नैयायिकों की वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में इस प्रकार का व्याप्ति सम्बन्ध सम्भव है या नहीं ? यदि संभव है तो क्या यह निरपवाद रूप से लोक-सत्यों पर घटित भी होता है ? यदि सम्भव भी है और घटित भी होता है तो परिशेषतः इसका ग्रहण किस प्रकार होता है ? वस्तुतः न्यायसम्मत व्याप्ति-चिन्ता में तद्ग्रहोपाय ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

नैयायिकों की वैचारिक योजना में व्याप्ति का ग्रहण मात्र प्रत्यक्ष से होता है,

क्योंकि अनुमान सदैव प्रत्यक्षाश्रित है, लेकिन इसका नियमीकरण आगमनात्मक सामान्यीकरण की पद्धति से सम्पादित होता है। सर्वप्रथम दो वस्तुओं के साहचर्य का अन्वयात्मक निरीक्षण, तदुपरान्त उनके साहचर्य का व्यतिरेकात्मक परीक्षण और अन्त में सपक्षस्थलीय व्यभिचाराग्रह-अनुमोदन के पश्चात् दो वस्तुओं में व्याप्ति रूप स्वाभाविक सम्बन्ध की स्थापना की जा सकती है। परञ्च उपर्युक्त प्रक्रिया से अनौपाधिकता का प्रश्न शेष ही रह जाता है। पुन:, सौपाधिकता की सम्भावना मात्र से उसे अनिवार्यता प्रदान नहीं की जा सकती। नैयायिक दो वस्तुओं के अन्वय-व्यतिरेकात्मक साहचर्य के 'भूयोदर्शन' पूर्वक व्याप्ति-सम्बन्ध की सौपोधिकता का निराकरण स्वीकार करते हैं। यदि भूयोदर्शन के पश्चात् भी संदिग्ध व्याप्ति की संभावना बनी रहे तो तर्क की सहायता से सन्देह का निराकरण श्रेयस्कर होता है। विरोधी स्थितियों एवं निष्कर्षों की असिद्धि तथा उसके मानने पर व्यवहार में व्याघात-प्रदर्शनपूर्वक परोक्षरूपेण व्याप्ति-निश्चय में सहयोग प्रदान करने में तर्क एवं युक्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। किन्तु इतना होने पर भी व्याप्ति सम्बन्ध की सार्वभौमिकता प्रतिपादित नहीं होती है। निरीक्षण की प्रविधि से हम एक से अनेक की ओर बढ़ तो सकते हैं लेकिन अन्ततः सकल के रूप में उनका सामान्यीकरण सम्भव नहीं है। सकल धूम एवं सकल वह्नि में अनिवार्य, सार्वभौमिक व्याप्ति-निश्चय के लिए धूमत्व जाति एवं अग्नित्व जाति में व्याप्ति-सम्बन्ध का ग्रहण आवश्यक है। नैयायिकों के अनुसार सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति नामक अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा धूमत्व जाति एवं अग्नित्व जाति के मध्य व्याप्ति का ग्रहण होता है। यदि एकत्व, नियत्व और अनेक समवेतत्व रूप जाति या सामान्य की वस्तुगत सत्ता तथा जाति-व्यक्ति के मध्य समवाय-सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया जाय तो वह्नि एवं धूम विशेष के साहचर्य, यहाँ तक कि एकस्थलीय साहचर्य-दर्शन पूर्वक व्याप्ति-ग्रहण को सामान्यलक्षण - प्रत्यासत्ति प्रत्यक्ष के द्वारा सकल धूम एवं सकल वह्नि के मध्य साहचर्य नियम रूप व्याप्ति में रूपान्तरित किया जा सकता है। वस्तुतः न्यायसूत्र से तत्त्वचिन्तामणि पर्यन्त व्याप्ति-चिन्तन के निष्कर्ष ''सकल साध्यवान् व्याप्ति'' को ही गंगेश ने अपने सिद्धान्त-लक्षण के माध्यम से उद्घाटित किया है।

यद्यपि पंचावयव वाक्यों में फलित अनुमान को नैयायिक परम प्रमाण मानते हैं और उनकी व्याप्ति विषयक चिन्ता अत्यन्त विवेचित है, तथापि समीक्षात्मक दृष्टि से कुछ खामियों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है द्रष्टव्य है कि नैयायिकों का तर्क वस्तुओं का और वस्तुओं पर लागू होने वाला तर्क है और साथ ही साथ इनका अनुमान आवश्यक रूप से प्रत्यक्षाश्रित होता है। ये दोनों बातें एक साथ ''सम्भावनामात्रेण लिङ्गोपन्यास: न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्येत''[१५] अर्थात् लिङ्ग के आधार पर लिङ्गी का ज्ञान निश्चयात्मकता में नहीं बल्कि सम्भावना मात्र में पर्यवसित

हो जाता है। वस्तुविशेष और प्रत्यक्षविशेष की पुन: पुन: आवृत्ति पूर्वक आगमनात्मक सामान्यीकरण के आधार पर निर्मित सभी सम्बन्ध अन्तत: अस्तित्वात्मक दृष्टि से दुर्बल ही होते हैं। इन दुर्बलताओं से बचने के लिए यदि नैयायिक सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति का आश्रय लेते हैं तो यह प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता का अतार्किक विस्तार ही है। प्रत्यक्ष अपनी विशुद्धता में जब सविकल्पकता को ही बहिष्कृत करता है तो सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति के लिए कहाँ अवकाश है ? नैयायिकों के मत मेंयदि सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति के लिए अवकाश बनता भी है तो वह उनके द्वारा स्वीकृत पदार्थों की संरचना में ही और उनकी पदार्थ योजना सभी को मान्य हो यह आवश्यक नहीं। पुन: बौद्ध नैयायिकों ने जिस तरह प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता को उद्घाटित किया है वह एक अर्थ में अनुमान की प्रत्यक्षाश्रितता का निराकरण ही है। अन्तत: नैयायिकों पर लगाये जाने वाले इस प्रकार के सारे आक्षेप निराधार हो सकते हैं, लेकिन केवल तब जब यह स्वीकार किया जाना सम्भव हो कि एक, नित्य और अनेकानुगत जाति की वास्तविक सत्ता है और जाति व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध होता है। बौद्ध नैयायिकों ने सामान्य की सत्ता को सर्वतोभावेन विप्रतिपत्तियुक्त बताते हुए वस्तुत: न्यायसम्मत व्याप्ति की अवधारणा के तात्त्विक आधार को ही ध्वस्त कर दिया है। दूसरी ओर धर्मकीर्ति ने अपनी सम्बन्ध-परीक्षा में सारे सम्बन्धों की वस्तुनिष्ठता का निराकरण करते हुए सम्बन्ध मात्र को विकल्पात्मक सिद्ध किया है।[16] यह भी नैयायिकों के सम्बन्धात्मक ढाँचे का आत्यन्तिक निषेध है जिसमें उनकी सम्पूर्ण प्रमाणमीमांसा अथवा कारणतामूलक प्रमाणमीमांसा फलित होती है।

VI

बौद्ध नैयायिकों का तत्त्वमीमांसीय ढ़ाँचा नैयायिकों से बिलकुल भिन्न है। एतदर्थ उभयसम्मत अनुमान-प्रमाण की संरचना एवं व्याप्ति-स्वरूप के निश्चय में आत्यन्तिक भेद परिलक्षित होता है। बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण नामक दो ही विषय हैं। तदनुरूप एवं तद्वशात् प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक दो ही प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। यदि प्रमेयद्वयपूर्वक ही प्रमाण-द्वित्व इष्ट हो तो तृतीय प्रमाण के लिए अवकाश ही कहाँ है ?[17] वस्तुत: बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में सकल निर्विकल्पक कलापों का प्रत्यक्ष में और निखिल सविकल्पक कलापों का अनुमिति में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है जबकि अनुमान सामान्यलक्षण को अपना विषय बनाता है। स्वलक्षण परमार्थसत् है और सामान्यलक्षण को संवृत्तिसत् अथवा विकल्प कोटि में रखा गया है। अत: अनुमान की मूलभित्ति स्वलक्षण नहीं बल्कि सामान्यलक्षण है। जैसाकि पूर्व में हमने संकेत किया है कि विकल्पात्मक धर्म-धर्मी सम्बन्ध की परिधि में सामान्यलक्षण को विषय करने वाला अनुमान अपने स्वरूप में पारमार्थिक दृष्टि से ''अयथा अभिनेवेशिनी भ्रांति'' है तथापि

अविसंवादी होने के कारण ही प्रमाण है। यही कारण है कि बौद्धन्याय में पारमार्थिक-प्रामाण्य और सांवृत्तिक प्रामाण्य में भेद किया गया है। अज्ञातार्थप्रकाशकत्व (प्रत्यक्ष) पारमार्थिक प्रामाण्य का लक्षण और अविसंवादकत्व (अनुमान) सांवृत्तिक प्रामाण्य का लक्षण बनता है।[१८] अतएव कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों के अनुमान की तात्त्विक पृष्ठभूमि बाह्यार्थवादी नहीं है और उनका तर्कशास्त्र मूलभूत रूप में वस्तुओं से नहीं बल्कि सम्प्रत्ययों या विकल्पों से सम्बन्धित है। यह बात अलग है कि विकल्प भी वस्तुपरक ही होते हैं अथवा विकल्पों में ही वस्तुओं की वस्तुता का अवधारण होता है। सम्प्रत्ययों या विकल्पों के विश्लेषण एवं अनुमान में उनके व्यत्यय से ही आनुमानिक ज्ञान में निश्चितता को अंतिम रूप से प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ ध्यातव्य है कि सम्प्रत्यय या विकल्पों से सम्बन्धित और उसी में अनुप्रयुक्त होते हुए भी बौद्ध न्याय में आकारिकता का समावेश नहीं होता है। विकल्प आकाशकुसुमवत् अलीक नहीं बल्कि स्वलक्षण के सापेक्ष और उसी पर आरोपित होते हैं। बौद्ध नैयायिकों की शब्दावली में, सामान्यलक्षण कुछ नहीं, अध्यवसित, विकल्पीकृत स्वलक्षण ही है। माध्यमिक और दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति द्वारा विकसित न्याय शास्त्रीय समीक्षा के मध्य मूलभूत अन्तर आकारिकता और स्वलक्षण-सापेक्ष विकल्परूपता को लेकर ही है।

वस्तुत: देखा जाय तो उपर्युक्त पृष्ठभूमि में बौद्ध नैयायिकों का अनुमान एवं व्याप्ति-स्वरूप-निश्चय का संपूर्ण प्रयास व्याप्ति-सम्बन्ध पर आश्रित अनुमिति के प्रागनुभविक कारकों का अन्वेषण है। प्रागनुभविक कारकों से हमारा अभिप्राय प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्पों के परस्पर समायोजन एवं संश्लेषण के द्वारा अनुभव-तंत्र की बनावट से है। यही वह सविकल्पक अनुभव है जिसके साथ हम लोकव्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। अनुमेय और अनुमापक होने के सभी प्रतिबन्धों का उद्‌भव एवं निर्धारण तथा उसका विकल्पात्मक विन्यास यहीं होता है। यही कारण है कि बौद्ध नैयायिकों ने ''साहचर्य नियम'' रूप व्याप्ति के बदले ''स्वभाव प्रतिबन्ध'' नामक व्याप्ति को वैध अनुमान के फलन के लिए आवश्यक शर्त बताया है। नैयायिक एवं बौद्ध नैयायिक दोनों ही व्याप्ति के लिए यत्र-तत्र ''अविनाभावनियम'' शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन दोनों सम्प्रदायों में 'नियम' शब्द का प्रयोग समानार्थी नहीं है। बौद्ध नैयायिक 'नियम' को स्वभावप्रतिबन्ध के रूप में समझते हैं जबकि नैयायिकों का नियम एक प्रकार का आगमनात्मक सामान्यीकरण है। नियम के इस द्विविध अर्थ में किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु का अनुमापक होना भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। यह भेद अनुमेय की निश्चितता में मात्रात्मक भेद को आवश्यक रूप से प्रस्तावित करता है। यही बौद्ध न्याय में अनुमान का वैशिष्ट्य है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार स्वभाव-प्रतिबन्ध के तादात्म्य-लक्षण एवं तदुत्पत्ति-लक्षण नामक दो प्रकार हैं। हेतु और साध्य के मध्य अविनाभाव नियम रूप

व्याप्ति इन्हीं दो सम्बन्धों के द्वारा गृहीत होती है। तादात्म्य का अर्थ तदात्मा से है। अर्थात् वह साध्य अर्थ जिसका आत्मस्वभाव हो वही तदात्मा और उसके भाव को तादात्म्य कहा जाता है।[१९] तादात्म्य रूप से जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु के आत्मस्वरूप होती है वही उसके बिना नहीं रह सकती है। अतएव तादात्म्य सम्बन्ध को अविनाभाव का नियामक कहा जाता है। बौद्धसम्मत तादात्म्य सम्बन्ध की व्याख्या में प्राचीन तथा अर्वाचीन कुछ व्याख्याकारों में बहुत मतभेद हैं। कहीं इसकी व्याख्या समानाधिकरण्य के रूप में तो कहीं वर्गान्तर्भाव के रूप में की जाती है। परञ्च इसकी बौद्धसम्मत व्याख्या भिन्न होनी चाहिए। ध्यातव्य है कि धर्मकीर्ति अपने सम्बन्ध-परीक्षा नामक ग्रन्थ में तादात्म्यादि सभी सम्बन्धों को विकल्पात्मक सिद्ध करते हैं। पुनः समानाधिकरण्य एवं वर्गान्तर्भाव आदि पद वस्तुवादी दर्शनों के वस्तुनिष्ठ सम्बन्धों के ढाँचे पर भी लागू होते हैं। अतएव बौद्ध नैयायिकों के द्वारा वस्तुनिष्ठ सम्बन्धों के निराकरण को ध्यान में रखते हुए केवल अपोहात्मक दृष्टि से ही तादात्म्यसम्बन्ध की व्याख्या और व्यवस्था की जा सकती है। सर्वप्रथम दो या दो से अधिक व्यक्तियों में समान अतद्व्यावृत्ति प्रयुक्त होने से एक अपोहात्मक सामान्य बुद्धि में आकारित होता है और तत्पश्चात् उस अपोहात्मक सामान्य के साथ तत्तद् व्यक्तियों के समानाधिकरण्य और वर्गान्तर्भाव रूप तादात्म्य की व्याख्या की जा सकती है। बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में शिंशपा और वृक्ष के मध्य ऐसा ही तादात्म्य सम्बन्ध विवक्षित है। यह कोई वास्तविक और वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है बल्कि अपोहात्मक रूप से आकारित और नियत हुआ विकल्पात्मक अथवा सांवृत्तिक ही है। तादात्म्य के अतिरिक्त तदुत्पत्ति सम्बन्ध अर्थात् कार्यकारण सम्बन्ध के द्वारा भी स्वभाव प्रतिबन्ध रूप अविनाभाव का ग्रहण होता है। यहाँ भी कार्यकारण सम्बन्ध का अभिप्राय तात्त्विक नहीं बल्कि 'क्रमग्रहणमेव कार्यकारणभाव ग्रहणम्' अभिप्रेत है। कुछ बौद्ध नैयायिकों ने अनुपलब्धि को भी अविनाभाव का नियामक माना है, लेकिन बाद में इसका अन्तर्भाव तदुत्पत्ति लक्षण अर्थात् कार्य हेतु में ही कर दिया गया।

VII

इस प्रकार बौद्ध नैयायिकों का प्रबल पक्ष यह है कि अविनाभाव का नियामक सपक्ष में दर्शन एवं विपक्ष में अदर्शन नहीं है प्रत्युत सद्-हेतु का नियामक तादात्म्य-तदुत्पत्ति-लक्षण वाला स्वभाव-प्रतिबन्ध ही है।[२०] यहाँ प्रतिपक्षियों के द्वारा आपत्ति उठाई जा सकती है कि क्या तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अन्तर्गत व्यवहार-दशा की उन सभी स्थितियों को समाविष्ट किया जा सकता है जहाँ हम अनुमान का आलम्बन लेकर व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं ? यह प्रश्न निश्चित रूप से विचारणीय है। बौद्ध नैयायिकों के लिए यह प्रश्न विशेष महत्त्व का इसलिए भी हो जाता है क्योंकि इनके अभिमत में अनुमान निखिल सविकल्पक ज्ञान के क्षेत्र को अवाप्त करता है। इसीलिए

ब्राह्मण न्याय के दार्शनिकों, यथा पार्थसारथी मिश्र, श्रीधर, जयन्तभट्ट, वाचस्पति मिश्र इत्यादि ने ऐसे अनेक व्यवहारस्थलों का संकेत किया है जहाँ तादात्म्य-तदुत्पत्ति हेतु उपलब्ध नहीं होते फिर भी अनुमान-व्यवहार होता है। यहाँ हम इसका सविस्तार प्रतिपादन नहीं कर पा रहे हैं। संक्षेप में हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि व्यवहार में अनुमान प्रमाण का प्रयोग अधिकांशत: सहचार दर्शन और व्यभिचार अदर्शन के आधार पर ही होता है, लेकिन जब इसका सैद्धांतिक आधार गवेष्य होता है तब प्रत्येक प्रमाणमीमांसक अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसा के अनुरूप इसकी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। जहाँ तक अनुमान के वैध फलन के लिए परिनिष्ठित व्याप्ति के निर्धारण का प्रश्न है तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तादात्म्य-तदुत्पत्ति-रूप अविनाभाव का नियम एक मज़बूत आधार प्रदान करता है। केवल सपक्ष दर्शन और विपक्ष अदर्शन के आधार पर नियत साहचर्य नियम रूप व्याप्ति में व्यभिचार की सम्भावना सर्वदा बनी रहती है, क्योंकि वह तार्किक दृष्टि से आकस्मिक सम्बन्ध ही कहा जा सकता है। इस आकस्मिकता को जब तार्किक निश्चितता में बदलने का प्रयास किया जाता है तो 'यावत्' को न जान पाने की मानवीय ज्ञान-सीमा आड़े आ जाती है। तब तर्क आकारिक आयाम में प्रवेश करने के लिए बाध्य हो जाता है जहाँ वह स्वयं वस्तुओं पर ही लागू होने लायक नहीं रह जाता। बौद्ध न्याय में जहाँ तक व्याप्ति-ग्रहोपाय अर्थात् व्याप्ति-निश्चय के लिए साधक प्रमाणों का प्रश्न है तो धर्मकीर्ति ने हेतुबिन्दु में इतना ही कहा है कि इन सबका निश्चय यथायोग्य प्रमाणों के द्वारा होता है।[21] तात्पर्य यह है कि जो जिसका आत्मीय प्रमाण के रूप में निश्चायक होता है उसका उसके द्वारा ही निश्चय होता है।

बौद्ध नैयायिकों में विशेषकर धर्मकीर्ति, अर्चट भट्ट एवं मोक्षाकर गुप्त ने स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि रूप हेतु त्रैरूप्य के निश्चायक आत्मीय प्रमाणों का विवेचन विस्तार और सूक्ष्मता के साथ किया है। जिस किसी हेतु का निश्चायक जो भी प्रमाण हो, वह अन्वय और व्यतिरेक रूप से ही हेतु और साध्य के मध्य व्याप्ति की सिद्धि कराता है। अतएव हेतु त्रैरूप्य के अन्वय-व्यतिरेकात्मक निश्चय में ही तत्तद् हेतुओं के आत्मीय प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रथमत: स्वभाव हेतु में साधन-धर्म वस्तुत: का स्वभाव साध्य धर्म होता है। यहाँ अन्य किसी कारण की अपेक्षा किये बिना केवल साधन धर्म के होने से जो साध्य-धर्म का निश्चय किया जाता है, वही स्वभाव हेतु में अन्वय निश्चय कहलाता है। यथा- जहाँ-जहाँ साधन-धर्म का सद्भाव होता है, वहाँ-वहाँ किसी अन्य कारण की अपेक्षा किये बिना साध्य-धर्म का भी सद्भाव होगा। इस निश्चय का अवधारण साध्य से विपरीत अर्थात् साध्याभावीय अधिकरण में हेतु के सद्भाव के बाधक प्रमाणों के उपलब्ध होने से होता है। उदाहरणार्थ जो सत् है, वह क्षणिक है। यहाँ 'सत्व' स्वभाव हेतु है। उसका साध्य 'क्षणिकत्व' के साथ अन्वय-निश्चय साध्य के विपरीत अक्षणिक पदार्थों में 'सत्व हेतु' के पाये जाने के

बाधक प्रमाण उपलब्ध होने के कारण होता है। वह इस प्रकार कि अक्षणिक पदार्थ में अर्थक्रियाकारित्व का विधान दो प्रकार से अर्थात् युगपद् अथवा क्रमिक रूप से ही किया जा सकता है। युगपद् अर्थक्रिया करने पर समस्त कार्य एक ही समय में निष्पन्न हो जायेंगे और आगामी काल में कोई अर्थक्रिया शेष नहीं होने के कारण अवस्तुता ही प्रसक्त होगी। इसी प्रकार क्रमिक अर्थक्रिया के प्रति भी अनेक विप्रतिपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं। प्रश्न उठता है कि अक्षणिक पदार्थ अर्थक्रिया में समर्थ होते हुए भी अर्थक्रिया का निष्पादन क्रम नियम से क्यों करता है। यदि कहा जाय कि सहकारी कारणों के योग होने से अक्षणिक वस्तु अर्थक्रिया के निष्पादन में समर्थ होती है तो प्रश्न उठेगा कि सहकारी कारणों के योग से अक्षणिक वस्तु में कोई अतिशय उत्पन्न होता है अथवा नहीं ? प्रथम कल्प को मानने पर पुन: क्षणिकत्व ही प्रसक्त होगी क्योंकि अतिशय उत्पन्न होते ही अक्षणिक पदार्थ सम्पूर्ण अर्थक्रिया का निष्पादन कर नि:शेष हो जायेगी। दूसरे कल्प को मानने पर सहकारी कारणों का योग ही व्यर्थ होगा और अक्षणिक पदार्थ अनंतकाल तक अर्थक्रियाकारित्व के निष्पादन से ही वंचित रहेगा। इस प्रकार साध्य से विपरीत अक्षणिक पदार्थों में 'सत्व' के रहने में बाधक प्रमाणों के सद्भाव से ''यत् सत् तत् क्षणिकम्'' रूप व्याप्ति का अन्वयात्मक निश्चय होता है।[22] द्वितीयत: कार्य-हेतु में जो कार्य-कारण भाव का निश्चय किया जाता है, वही कार्य-हेतु में अन्वय निश्चय है। कार्य-कारण भाव का अवधारण प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ दोनों से होता है। उदाहरण के लिए जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि भी होती है, यह प्रत्यक्ष है तथा जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं पाया जाता, यह अनुपलम्भ निश्चयन है। तृतीयत: उपलब्धि लक्षण प्राप्त पदार्थ की अनुपलब्धि मात्र से असद्व्यवहार का अवधारण करना अनुपलब्धि हेतु में अन्वय निश्चय है। अनुपलब्धि में जो असद्व्यवहार रूप साध्य की सिद्धि की जाती है, उसका कारण केवल उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि ही है, अन्य कोई दूसरा निमित्त नहीं। अत: असद्व्यवहार में अन्वय दूसरे कारणों का अभाव उद्भावन करने से अवधारित हो जाता है।

पुन: स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि हेतु में व्यतिरेक निश्चय को इस प्रकार दिखाया जा सकता है। प्रथमत: स्वभाव हेतु में व्यतिरेक का निश्चय व्यापकानुपलब्धि द्वारा निर्धारित होता है। दो पदार्थों में व्याप्य-व्यापक भाव सिद्ध हो जाने पर व्यापक के अभाव में जो व्याप्य का अभाव विज्ञापित किया जाता है, वही व्यतिरेक निश्चय है। इसे ''व्यापक व्यावृत्त्या व्याप्य व्यावृत्ति'' न्याय भी कहा गया है। यहाँ व्यापक की अनुपलब्धि से व्याप्य की अनुपलब्धि सिद्ध हो जाती है। अवधेय है कि प्रकृत प्रसंग में जिस व्यापक की अनुपलब्धि प्रदर्शित की जाये उसे उपलब्धि लक्षण प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा उपर्युक्त व्यतिरेक निश्चय की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। द्वितीयत: - कार्य-हेतु में व्यतिरेक निश्चय कारणानुपलब्धि द्वारा होता है। दो पदार्थों में कार्य-कारण भाव का अवधारण

हो जाने पर कारण के अभाव में कार्य का अभाव स्थापित करना कार्य हेतु में व्यतिरेक निश्चय कहलाता है। यहाँ भी जिस कारण की अनुपलब्धि प्रदर्शित की जाती है, उसे उपलब्धि लक्षण प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा कारण के अभाव में कार्य का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। तृतीयत: उपलब्धि लक्षण प्राप्त सत्-पदार्थ से अनुपलम्भ के अभाव का प्रदर्शन करना ही अनुपलब्धि हेतु में व्यतिरेक का निश्चय है। जहाँ उपलब्धि लक्षण प्राप्त सत्-पदार्थ विद्यमान है, वहाँ उसके अनुपलम्भ के अभाव का जो दर्शन होता है, उसी के द्वारा अनुपलब्धि में व्यतिरेक का निश्चय किया जाता है।

इस प्रसंग में मोक्षाकार गुप्त ने कार्य-हेतु के निश्चय के लिए एक विशेष विधि को सामने लाया है जिसे त्रिकारिणी और पंचकारिणी विधि कहते है। उनके अनुसार कार्य-हेतु धूम आदि की साध्य वह्नि आदि के साथ व्याप्ति का ग्रहण महानस इत्यादि दृष्टान्त धर्मी में तीन प्रकार के अलावे पाँच प्रकार के प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ द्वारा किया जाता है।[22] इसका अभिप्राय यह है कि कार्य-कारण भाव का निश्चायक अन्वय-व्यतिरेक ही होता है और इसमें अन्वय का निश्चय प्रत्यक्ष द्वारा और व्यतिरेक का ज्ञापन अनुपलम्भ द्वारा होता है। यह अनुपलम्भ पूर्वापर काल भेद से दो प्रकार का होता है - कार्य की उत्पत्ति के पहले और कार्योत्पत्ति के बाद। अत: एक प्रत्यक्ष और दो अनुपलम्भ से तदुत्पत्ति का निश्चय हो जाता है जिसे त्रिकारिणी कहते हैं। उदाहरण के लिए जब धूम होता है तो वह्नि भी होती है और जब वह्नि नहीं होती तो धूम भी नहीं होता। इस प्रकार कालत: उपलम्भ और अनुपलम्भ से त्रैविध्य की सिद्धि होती है। इसी में देशकृत अनुपलम्भ को सम्मिलित कर देने से यह पंचकारिणी हो जाती है। वस्तुत: पंचकारिणी में दो प्रत्यक्ष और तीन अनुपलम्भ का समावेश रहता है। उदाहरणार्थ जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि भी होती है तथा जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता, इत्याकारक देशत: उपलम्भ और अनुपलम्भ कालत: त्रिविध उपलम्भानुपलम्भ से मिलकर पंचकारिणी को प्रस्तावित करते हैं। इस तरह (१) उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अनुपलम्भ (२) कारण के उपलम्भ होने पर (३) कार्य का उपलम्भ, इन तीनों कारणों से अथवा इसमें दो कारण और जोड़कर, (४) कारण के अनुपलम्भ होने पर, (५) कार्य का भी अनुपलम्भ होना, पाँच कारणों द्वारा तदुत्पत्ति का निश्चय किया जाता है।

VIII

इस प्रकार बौद्ध नैयायिकों ने त्रिविध हेतुओं के अन्वय-व्यतिरेकात्मक निश्चय के पश्चात् 'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति' के रूप में हेतु का लक्षण स्वीकार किया है। हेतु का यह लक्षण समुदाय रूप में अत्यन्त सन्तुलित लक्षण है। दुर्वेक मिश्र[23] ने यह सूचित किया है कि बौद्धाचार्यों ने हेतु के इस लक्षण को लक्षणगत एक-एक पद पर्युदास और द्विपद पर्युदास विधि से षड़विध विकल्पों का परिहार करके सप्तम विकल्प का परिग्रहण किया है। उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक में इस पद्धति का

सन्दर्भ 'हेतु वार्त्तिक' के रूप में प्राप्त होता है।[२४] दिङ्नागोक्त इस लक्षण में एक और दो पदों को हटाने से किस प्रकार सप्तिका हेतु-लक्षण का ग्रहण होता है, इसे वाचस्पति मिश्र[२५] ने बहुत सुन्दर तरीके से उदाहरण सहित बताया है। उनके अनुसार समुदाय रूप से इस लक्षण में तीन पद प्रयुक्त हुए हैं। तीनों पदों में से एक-एक पद हटाने पर तीन पक्ष और दो-दो पद हटाने पर पुन: तीन पक्ष बनते हैं। इन छ: पक्षों जो हेतु की षड़विध स्थितियाँ ही हैं, उनको हटाने पर बौद्ध सम्मत हेतु का सातवाँ 'सिद्धान्त लक्षण' प्रकट होता है।

(१) यदि 'अनुमेये सद्भाव:' इतना मात्र कहा जाये तो सपक्ष में अविद्यमान और विपक्ष में विद्यमान धर्म को भी हेतु कहा जायेगा। यथा-शब्द नित्य है, कार्य होने से।

(२) यदि ''तत्तुल्ये सद्भाव:'' इतना मात्र कहा जाय तो विपक्ष में विद्यमान और पक्ष में अविद्यमान भी हेतु हो जायेगा। यथा - शब्द नित्य है, चक्षु का विषय होने से, सामान्य के समान।

(३) यदि 'नास्तिताऽसति' इतना मात्र कहा जाय तो पक्ष में अविद्यमान और सपक्ष में भी अविद्यमान धर्म हेतु हो जायेगा। यथा - शब्द नित्य है, असत्त्व होने से।

(४) यदि 'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये' इतना मात्र कहा जाय तो विपक्ष में विद्यमान धर्म भी हेतु कहा जायेगा। यथा -शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से।

(५) यदि 'अनुमेयेऽथ नास्तिताऽसति' इतना मात्र कहा जाय तो सपक्ष में अविद्यमान भी हेतु हो जायेगा। यथा - शब्द नित्य है, जातिमान् होकर श्रावण्य होने से।

(६) यदि 'तत्तुल्ये असतिनास्तिता' इतना मात्र कहा जाय तो पक्ष में अविद्यमान भी हेतु कहा जायेगा। यथा - परमाणु अनित्य है, कार्य होने से।

इस प्रकार उपर्युक्त षड़विध पक्षों की व्यावृत्ति पूर्वक बौद्ध परम्परा में -'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति' अर्थात् पक्ष में होना, सपक्ष में होना और विपक्ष में नहीं होना - हेतु का सिद्धांत-लक्षण स्वीकार किया गया है। हेतु के स्वरूप और स्थितियों को निर्धारित करने का यह तरीका दिङ्नाग के 'हेतुचक्र डमरु' का प्रारम्भिक प्रारूप प्रतीत होता है। वस्तुत: न्याय परम्परा में 'व्याप्ति' निर्धारण पर जितना अधिक बल दिया गया है उतना ही बल बौद्ध परम्परा में 'हेतु' के स्वरूप को निश्चित करने के लिए दिया गया है। अनुमान की 'व्याप्ति केन्द्रकता' और 'हेतु केन्द्रकता' से दोनों परम्पराओं में स्वीकृत अनुमान की संरचना में महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। बौद्ध परम्परा में 'हेतु' को केन्द्रिय महत्त्व प्रदान किये जाने के पीछे कुछ विशिष्ट प्रयोजन रहे हैं। उनमें पहला तो यह कि अनुमान 'वस्तुबल' से प्रवृत्त होता है और दूसरा वस्तुबल से प्रवृत्त होने वाले अनुमान का स्वार्थ एवं परार्थ में विभाजन। तीसरा जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, वह यह कि बौद्ध परम्परा में परार्थानुमान का विकास आगम प्रमाण के बदले में हुआ है। ऐसा इसलिए कि बुद्ध का ज्ञान दूसरे में संक्रान्त नहीं हो सकता और

उनके उपदेशों को वैदिकों के शब्द प्रमाण की तरह, आगम प्रमाण के रूप में गृहीत किया जाना सर्वथा वर्जित है। अतएव तथागत के सभी वचन वास्तव में 'हेतुवचन' होने से तैर्थिकों के आगम प्रमाण की तरह नहीं बल्कि परार्थानुमान रूप ही हैं।[२६] अस्तु बौद्ध परम्परा में आगम प्रमाण के स्थान पर परार्थानुमान का विकास 'अप्पदीपोभव' की मूलभूत दृष्टि के सर्वथा अनुकूल और मौलिक दृष्टि है।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. रत्नकीर्ति निबन्धावली, के.पी. जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना, पृ. ९६ अनिष्टश्चेत् प्रमाणं हि सर्वेष्टिनां निबन्धनम्। भावाभाव व्यवस्था कः कर्त्तुमन्तेन विना प्रभुः॥ एवं द्रष्टव्य-प्रमाणवार्त्तिक, ४-२१५

२. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिकम्, प्रत्यक्ष परि. ५५, अयथाभिनिवेशन द्वितीया भ्रान्तिरिष्यते। गतिश्चेत् पररूपेण न च भ्रान्तैः प्रमाणता॥

३. गङ्गेश उपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि, प्रामाण्यवादः।

४. धर्मकीर्ति प्रमाणवार्त्तिकम् २/५५, ५६, अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता। गतिरप्यन्यथा दृष्टा, पक्षश्चायं कृतोत्तरः।

५. द्रष्टव्य : प्रमाणवार्त्तिकम्, प्रत्यक्ष परि. -११ एवं १२ इन कारिकाओं में प्रकृत समस्या की गम्भीर विवेचना हुई है।

६. स्वार्थानुमानं प्रमाणं न भवति, त्रिरूपलिङ्गपूर्ववत्वान्मिथ्याज्ञानत्वात्। कमलशील, तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ. ४२६, पंक्ति ३-४, सेन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा, १९२६

७. वही. पृ. ४२६, पंक्ति ५-६ न च त्रैरूप्यं अनुमितिकरणं, अननुमानेऽपि भावाद् द्वैरूप्यवत्।

८. वही. पृ. ४२६, पंक्ति ९-१०, सर्वत्र साधनेऽनुमानविरोधः सम्भवति, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, पुनश्च नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् आकाशवत्।

९. वही. पृ. ४२७, पंक्ति ६, अनुवादकत्वात् न प्रमाणम्।

१०. वही. पृ. ४२७, पंक्ति २४-२५ यस्मात् साक्षात् अनुमेयाप्रकाशकत्वं तस्मात् न श्रोत्रापेक्षया वचसः प्रामाण्यम् अविनाभाव-सम्बन्ध-ज्ञानवत् इति।

११. प्रज्ञाकरगुप्त, प्रमाणवार्त्तिकालङ्कारभाष्य, परार्थानुमान परिच्छेद, २०४ एवं -अर्थस्य सम्भवे भावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता। प्रतिबद्ध-स्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ११ धर्मकीर्ति की यह कारिका हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाणमीमांसा १-१-११ में उद्धृत की है।

१२. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह १४/१

१३. कमलशील, तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ. ४२९, पंक्ति २६-२७ इष्यते न च विशेषः साधयितुमिष्ट....।

१४. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिकम्, प्रत्यक्षपरिच्छेद ६७-६८

१५. बृहदारण्यक उप. शां. भाष्य, आनन्दगिरी टीका से उद्धृत।

१६. धर्मकीर्ति, सम्बन्ध परीक्षा, ४, द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्द्वयो। कः सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा॥ धर्मकीर्ति की यह एक कारिका नैयायिकों के सम्बन्धानिक ढाँचे को विप्रतिपत्तियुक्त बताने के लिए पर्याप्त है।

१७. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिकम् २/६३-६४ न प्रत्क्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः। तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते॥ त्रैकसंख्या निरासो वा प्रमेयद्वय दर्शनात्। एकमेयवाप्रमेयत्वाद् सतश्चेन्मतं च नः॥

१८. प्रमाणवार्त्तिकालङ्कारभाष्य (स्वामी योगीन्द्रानन्द संस्करण), पृ. ७० तत्र पारमार्थिक-प्रमाणलक्षणमेतत्। पूर्वं तु संव्यावहारिकस्य।

१९. धर्मोत्तर न्यायबिन्दु टीका, २/१९

२०. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक ३/१४, कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमो दर्शनान्न नादर्शनात्॥

२१. धर्मकीर्ति, हेतुबिन्दु पृ. ५३, पक्षधर्मश्च यथास्वं प्रमाणेन निश्चित: उक्त:।

२२. मोक्षाकरगुप्त, बौद्ध तर्कभाषा पृ. ८५

२३. दुर्वेक मिश्र - धर्मोत्तर प्रदीप, त्रिरूपालिंगादिति चाचक्षाणेना चार्येणैक द्विपदपर्युदासेन षड्पक्षी प्रतिक्षिप्य सप्तमपक्ष परिग्रहेण लिंगस्य लक्षणमभिप्रेतं प्रकाशितमिति पृ.९०, के.पी. जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना।

२४. उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक, पृ. ५६ यद्यपि हेतुवार्त्तिकं ब्रुवाणेनोक्तम् -'सप्तिकासम्भवे षट्प्रतिषेधादेक द्विपर्युदासेन त्रिलक्षणो हेतुरिति।'

२५. वाचस्पति मिश्र - न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका पृ. १९४ - तत्रैकपदपर्युदासेन त्रय: पक्षा:, द्विपदपर्युदासेनऽपि त्रय इति षट्कम्। तत्पर्युदासेन सप्तिकापरिग्रह:।

२६. द्रष्टव्य - प्रज्ञाकर गुप्त-प्रमाणवार्त्तिकालंकार भाष्य - १/१३५ .... तत: प्रथमं विमर्श: पुनरागमे तस्यार्थस्य दर्शनम्। परार्थानुमानरूपे नाज्ञामात्रके।.....

अध्याय : बारह



अर्थाभिधान की अपोहात्मक संकल्पना

''परमार्थस्तु आर्यानां तूष्णीभाव:''- यदि भाषा-दर्शन की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों का सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन इस बात से सम्बन्धित है कि वह क्या है जिसे भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता और भाषा के माध्यम से जो कुछ व्यक्त होता है उसका स्वरूप क्या है ? क्या भाषा किसी वस्तु के स्व-स्वरूप को व्यक्त करती है अथवा भाषा के द्वारा जो कुछ व्यक्त होता है, वह किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप न होकर कुछ और ही होता है ? क्या मानवीय संज्ञान की कोई ऐसी भी स्थिति है जहाँ ज्ञान तो हो, लेकिन भाषा अनुपलब्ध रहती हो ? क्या भाषा में ही कोई अन्तर्निहित कमजोरी है कि ज्ञान की उस अवस्था में जहाँ वास्तविकता अपने स्व-स्वरूप में उपलब्ध तो होती है लेकिन भाषा उसे स्पर्श तक नहीं कर पाती ? तब भाषा की प्रकृति को किस प्रकार समझा जाय ? भाषा में व्यक्त वास्तविकता किस प्रकार अपने स्व-स्वरूप से च्युत हो जाती है ?

I

उपर्युक्त समस्याओं पर बौद्ध नैयायिकों ने एक तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में ज्ञानमीमांसीय आधार पर गम्भीरता से विचार-विमर्श करते हुए जो स्थापनायें की हैं उसे ''अपोहवाद'' का नाम दिया है। अपोहवाद ही बौद्धों के भाषा-दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त है। यह भाषा और सत् के स्वरूप के साथ कितना न्याय करता है, यह कहना तो कठिन है, फिर भी इसमें एक मूलग्राही दृष्टि है जो शब्द और उसके अर्थ के महत्त्वपूर्ण

पक्ष को उद्घाटित करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अपोहवाद की मौलिकता इस बात में निहित है कि भाषा की मूलगामी भूमिका विधानपरक नहीं बल्कि निषेधमूलक है। इसीलिए आचार्य दिङ्नाग ने शब्द और विकल्प में परस्पर जन्य-जनक भाव को स्वीकार किया है (विकल्प योनयः शब्दा, विकल्पाः शब्द योनयः)। बौद्ध चिन्तन परम्परा के इतिहास में इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रवर्त्तन आचार्य दिङ्नाग ने किया था। तदुपरान्त धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर गुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्री मित्र, रत्नकीर्ति इत्यादि के द्वारा इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। वैदिक परम्परा के दार्शनिकों में कुमारिल भट्ट, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य इत्यादि के द्वारा अपोहवाद के भूरिशः खण्डन ने भी इस सिद्धांत के विकास और परिष्कार को भरपूर प्रभावित किया है।

अपोहवाद शाश्वतवादी तत्त्वचिन्तन और उसके भाषा-दर्शन के विरोध में क्षणिकवादी तत्त्वदृष्टि का भाषा-दर्शन है। वैदिक तत्त्वदृष्टि मूल रूप से शाश्वतवादी है लेकिन नैयायिक अपने तरीके से शाश्वतवाद का पोषण जाति या सामान्य तत्त्व के आधार पर करते हैं जिसका भाषा से सीधा-सीधा सम्बन्ध होता है। अर्थात् भाषा तत्त्व को उसके वास्तविक स्वरूप में व्यक्त करती है, अथवा किसी वस्तु का वही वास्तविक स्वरूप होता है जैसी वह भाषा में प्रदर्शित होती है। इसके विपरीत बौद्ध नैयायिकों का यह मानना है कि तत्त्व अपने अन्तिम विश्लेषण में क्षणिक ही सिद्ध होता है और भाषा उसे कदापि व्यक्ति नहीं कर सकती। भाषा के द्वारा तत्त्व के संश्लेषित और विकल्पात्मक स्वरूप का ही विन्यास हो पाता है।

द्रष्टव्य है कि आस्तिक परम्परा के भाषा-दार्शनिक चिन्तन में भाषा और सत् (शब्दार्थ) के सम्बन्ध को नित्यसिद्ध[1] स्वीकार किया गया है किन्तु विचारणीय है कि क्या सचमुच भाषा और सत् के मध्य इस प्रकार के सम्बन्ध का कोई तात्त्विक आधार है या 'भाषा' मात्र मनुष्य की प्रतीक-रचना की योग्यता का एक ध्वन्यात्मक बौद्धिक अनुशासन है ? भाषीय आधार पर हमारे व्यवहार व्यवस्थित रूप में सम्पन्न होते हैं, क्योंकि भाषा और सत् में संवाद है। इस संवाद के तात्त्विक आधार के लिए क्या हम कह सकते हैं कि भाषा के शब्दों अथवा वाक्यों में अर्थविशेष को व्यंजित करने की स्वाभाविक या ईश्वर प्रदत्त शक्ति होती है ?[2] क्या इसीलिए बाह्य जगत् और आन्तरिक अनुभूतियाँ हमारी भाषा में चित्रित होती हैं और उस भाषा विशेष का व्याकरण इस भाषीय प्रतिबिम्बन की सम्प्रेषणीयता को नियमों में व्यवस्थित करता है।

यदि भाषा और सत् के प्रति उपर्युक्त दृष्टि के मूल में देखने का प्रयास किया जाय तो इसके पीछे नित्यतावादी तत्त्व दृष्टि, वेदों का सर्वोच्च प्रामाण्य और ईश्वर जैसी सत्ता की भूमिका ही परिलक्षित होती है। इन सब से परे भाषा और सत् का संवाद मानव मन की एक सहज, सामान्य स्वीकृति है जिसे वह शताब्दियों के अपने अनुभव

और व्यवहार के दृढ़ किया है। बौद्ध नैयायिकों ने भाषा और सत् पर विचार करते हुए, भाषा को बुद्धि के विकल्पों तक ही सीमित रखा है। उनके अनुसार शब्द का अर्थ से और अर्थ का शब्द से कोई तात्त्विक निबन्धन नहीं है।[३] हमारी बुद्धि में अर्थ का जैसा प्रतिबिम्बन होता है, शब्द उसी का ग्रहण करते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप हो। अतएव शब्द न तो अर्थनिष्ठ है और न ही अर्थजात् बल्कि अर्थसंकेत का ध्वन्यात्मक प्रतीक, वक्ता के अभिप्राय मात्र का निवेदन ही शब्द है।[४] बौद्धों के अनुसार इस निवेदन का स्वरूप ही अपोहात्मक है। यही शब्द और अर्थ के संवाद सम्बन्ध को सुनिश्चित करता है। अपोहात्मक निवेदन का तात्पर्य यह है कि शब्द अपने अर्थ को विरूद्ध के प्रतिषेध पूर्वक व्यक्त करता है।[५] विरूद्ध का प्रतिषेध "अपोह" एक द्विवार निषेध का नियम है जिसे बौद्ध नैयायिक ज्ञानमीमांसीय आधार प्रदान करते हैं। इसे अतद्व्यावृत्ति भी कहते हैं। उदाहरणार्थ- जब हम नील कहते हैं तो नील शब्द अ-नील की व्यावृत्ति पूर्वक नील का विधायक होता है। अतएव स्पष्ट ही है कि निर्वचन में अपोहन आवश्यक रूप से सम्मिलत रहता है।

II

यहाँ अनील की व्यावृत्तिपूर्वक का पूर्वानुबन्ध शब्दों के अपोहात्मक अर्थाभिधान को सरल नहीं रहने देता है। इस बात को लेकर अपोहवादी और इसका प्रतिवाद करने वाले पारम्परिक बौद्धेतर आचार्य एवं आधुनिक अध्येता भी एतद्विषयक कई बिन्दुओं पर अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि अपोह भाषा का दर्शन है अथवा दर्शन की भाषा मात्र है ? पुन: यह अर्थ का दर्शन है या दृश्य अर्थ ही है ? शब्द क्यों अपने अभिप्राय का निवेदन अतद्व्यावृत्तिपूर्वक करता है ? क्या स्वयं शब्दों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे अपने अभिप्रेत्य को अपोहात्मक रूप से व्यक्त करते हैं या शब्दों का अभिप्रेत्य ही स्वरूपत: अपोहात्मक रूप से संरचित है और इसीलिए उसकी शाब्दिक अभिव्यंजना अपोहात्मक रूप से होती है ? फिर, अपोहन की क्रिया द्विवार निषेधपूर्वक फलित होती है लेकिन इस रूप में अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य क्या है ? यह समस्त विश्व का द्वैधिकरण है या तद् और अतद् का द्वैधिकरण दृष्टिसाकल्य की सीमित परिधि में प्रतिफलित होता है ? द्विवार निषेध के द्वारा किस तरह "वही और केवल वही" वस्तु के अर्थाभिधान में तार्किक अनिवार्यता होती है ? अपोह किस प्रकार अन्यापोह विशिष्ट विधि और कहीं अन्यापोह मात्र क्यों है ? बौद्धों के अपोहवाद का सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए उपर्युक्त विवादात्मक स्थलों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। हम इस निबन्ध को इसी दिशा में आगे बढ़ाने का प्रयास करेंगे और यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि न केवल प्रमाणमीमांसा बल्कि भाषा-दर्शन भी किस प्रकार तत्त्वमीमांसा से अनुप्रेरित होती है।

अब यदि इस पक्ष को लिया जाय कि शब्द ही प्रकृतित: अपोहात्मक होते हैं, तो शब्द के द्वारा ही अर्थ के अपोहात्मक स्वरूप का निर्धारण स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में शब्द ''अर्थ स्वरूप निर्धारक'' होने से अर्थपूर्व हो जायेंगे। यह अनुभव का व्यभिचारी है। फिर यह कि शब्द-प्रयोग के अभाव में अर्थ का स्वरूप वैसा नहीं होता जैसा कि शब्द प्रयोग के पश्चात् उद्घाटित होता है। अर्थ की कतिपय ऐसी भी स्थितियाँ हैं, जहाँ शब्द प्रयोग की अव्यपदेश्यता होती है, तो क्या उनका कोई स्वरूप नहीं होता ? उदाहरण के लिए वस्तुस्थिति की आत्यन्तिक विलक्षणता शब्दिक व्यपदेश्यता के योग्य नहीं होती। ज्ञानात्मक स्थितियों में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन को अव्यपदेश्य कहा जा सकता है। भर्तृहरि किसी भी ज्ञान-स्थिति को इस रूप में स्वीकार नहीं करते जो शब्दानुविद्ध न हो।[६] वस्तुत: उनकी इस मान्यता की पूर्वमान्यता यह है कि जब ज्ञान को स्वरूपत: निराकार माना जाता है तो ज्ञान भाषा में ही आकार पाता है और इस तरह भाषा ज्ञानाकार की 'योनि' बन जाती है। बौद्ध ज्ञान को स्वरूपत: निराकार नहीं मानते बल्कि साकार रूप में अवधारित करते हैं, अतएव भाषा उनकी दृष्टि में ज्ञानाकार की 'योनि' नहीं अपितु विकल्पाकार की 'योनि' बनती है। पुन:, भाषा में शब्दों का जैसा प्रयोग होता है, उनकी संरचना अपोहात्मक नहीं होती है। यदि शब्द की प्रकृति या स्वरूप ही अपोहात्मक होता तो व्यवहार में शब्दों की बनावट भी ''अनिवार्य'', ''अविसंवादी'' जैसे शब्दों की तरह द्विविध निषेध या अतद्व्यावृत्ति के उपसर्ग, प्रत्यय पूर्वक होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्दोच्चारण के अनन्तर वक्ता और श्रोता में तद्-अतद् का द्वन्द्व उत्पन्न होता है और तदनन्तर अतद् की व्यावृत्तिपूर्वक अर्थबोध होता है। वक्ता की स्थिति में तो बोध को ही शब्द व्यंजित करते हैं और निर्द्वन्द्व रूप में श्रोता उसी से अवगत होता है। इसलिए शब्दोच्चारण के उपरान्त अपोह फलित नहीं होता, बल्कि अपोहित रूप में ही शब्द उच्चरित होते हैं।

अपोहपूर्वक शब्दोच्चारण का तात्पर्य यह है कि बोध ही अपोह-विशिष्ट होता है।[७] यह अपोह- विशिष्ट बोध निषेधवादियों का बोध नहीं, जिनके मतानुसार पहले अपोह को जानकर बाद में अन्यापोह का विधान होता है, क्योंकि व्यवहार कि समय विद्यमान में प्रतीत के विषय का ऐसा क्रम नहीं होता है। अत: इसमें प्रतीतिक्रम का व्यभिचार है। यह विधिवादियों का भी बोध नहीं, जिसके अनुसार पहले विधि को समझकर बाद में अर्थापत्ति से अपोह का समर्थन होता है। यह निरर्थक है,क्योंकि गौ-ज्ञान के पश्चात् अश्वादि के ज्ञान से गाय की उनसे भिन्नता तो समर्थित होती है, लेकिन इससे गाय के स्वरूप-ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। अत: गौ का बोध अपने बोध-काल में ही अपोहात्मक होता है। तभी तो गौ-बोध से अश्वादि में प्रवृत्ति न होकर अ-गोव्यावृत्त-गौ में ही सबकी प्रवृत्ति होती है।[८]

वस्तुत: बोध का स्वरूप अपोहात्मक मानने से अन्तत: यही स्वीकार करने में

लाघव है कि बोध जिस अर्थ का ज्ञापक या प्रदर्शक होता है, वही स्वरूपत: अपोहात्मक है, क्योंकि बोध कोई स्वतन्त्र तथ्य ही नहीं, यह तो अर्थवशात् होता है। पुन:, बोध और अर्थ का संवाद सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से अनिवार्य और नियत है। केवल इन्द्रिय, करण और सन्निकर्ष दोष से उत्पन्न भ्रम की अस्वाभाविक स्थिति को छोड़कर बोध और अर्थ के संवाद सम्बन्ध में अव्याप्ति, व्यभिचार और अन्यथात्व नहीं देखा जाता है। अतएव अर्थ की प्रकृति या स्वरूप ही अपोहात्मक है और इसी की अपेक्षा से बोध और उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति में अपोह का उपचार होता है।

अब यदि अर्थ ही अपोहस्वरूप है तो इसकी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं। प्रथमत: यह कि बाह्य घट-पटादि अर्थ जिस प्रकार सामान्य अनुभव में प्रस्तुत होते हैं, वे वस्तुगत्या यथार्थ हैं, लेकिन उनका ज्ञान अपोहात्मक रूप से होता है। द्वितीयत: यह कि अपोहात्मक ज्ञान से पृथक् और परे उनका कोई स्वतत्त्व ही नहीं हैं। इसलिए अर्थ अपोहमात्र हैं। न्यायवादी बौद्धों की वैचारिकी में बाह्य घट-पटादि अर्थ इसी आशय में अपोहमात्र हैं। बाह्यार्थ की ऐसी अपोहात्मकता अनुभव और व्यवहार के उत्तल धरातल पर अधिगत नहीं होती। यह न तो बैखरी वाणी का विन्यास न ही अनुभवपूर्व अतीद्रिय,[९] बल्कि बुद्धि का प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प है, जिसका भाषा के द्वारा अनिवार्य रूप से अनुगमन किया जाता है। धर्मकीर्ति के अनुसार इसकी व्याख्या तो परमार्थ के अन्वेषक व्याख्याकार ही करते हैं। सामान्यजन तो इसी को यथार्थ समझकर व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं।[१०]

धर्मकीर्ति का उपर्युक्त कथन विशेष महत्त्व का है और इससे इंगित होता है कि बाह्यार्थों की अपोहात्मकता आनुभविक नहीं है, बल्कि सामान्य अनुभव में जो कुछ गृहीत होता है,वह अपोहित होकर ही सामान्य अनुभव का ज्ञेय-विषय या हमारी भाषा का वाच्यार्थ होता है। अत: बाह्यार्थों के ऐसे अपोहात्मक स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए सामान्य अनुभव की बनावट को समझना आवश्यक हो जाता है। सामान्य अनुभव से धरातल पर व्यवहर्ता तो किसी वस्तु को उसी रूप में यथार्थ समझता है जैसी कि वह प्रतीत होती है, क्योंकि व्यवहर्त्ता के लिए यह विवक्षा आवश्यक नहीं कि कोई वस्तु ऐसी ही क्यों प्रतीत होती है ? परन्तु परमार्थ की विवक्षा रखने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह सामान्य अनुभव के नेपथ्य में आत्म-चेतन विमर्शपूर्वक यह देखे कि कोई वस्तु ऐसी ही क्यों प्रतीत होती है, अन्य प्रकारक क्यों नहीं प्रतीत होती ? धर्मकीर्ति के उपर्युक्त कथन में परमार्थ के अन्वेषक ''व्याख्याकार'' पद का यही आशय अभिप्रेत है। आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति बुद्ध के विभज्यवादी पद्धति का अनुसरण करते हुए अनुभव का विश्लेषण कर संवृत्ति की अलीक अपोहात्मक विकल्परूपता का रहस्योद्घाटन और परमार्थ की विधिरूपता लेकिन बौद्धिक अनभिलाप्यता की तर्कण प्रतिष्ठा करते हैं। धर्मकीर्ति के अनुसार सामान्य अनुभव में हमें दो अत्यन्त भिन्न तत्त्व

संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होते हैं। इन्हें शक्त-अशक्त, सदृश-असदृश, शब्द का विषय-अविषय, बुद्धि ग्राह्य-अग्राह्य के द्वैविध्य में विभाजित किया जा सकता है। ये परस्पर विरोधी धर्म हैं, जो एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। इसलिए इनकी समाश्रयता को एकत्व मानना युक्तिसंगत नहीं। यह द्वैविध्य अनुभव में सर्वत्र व्याप्त हैं।[11] जहाँ आवश्यक रूप से परस्पर निवृत्तिमूलक द्वैविध्य प्राप्त हो तो लौकिक न्यायानुसार एक को वास्तविक और दूसरे को आरोपित समझना चाहिए। यही आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के प्रमेय द्वैविध्य और तदनुरूप प्रमाण द्वैविध्य के उपागम का आनुभविक आधार हैं।[12] प्रमेय द्वैविध्य का तात्पर्य प्रमेय विप्लव को स्वलक्षण और सामान्यलक्षण में व्यवस्थित करना है और प्रमाण द्वैविध्य का तात्पर्य प्रमाण विप्लव को प्रत्यक्ष और अनुमान में नियोजित करना है। स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है।[13] यह किसी वस्तु का अनुभव निरपेक्ष, अकृत्रिम, अकल्पित, अनारोपित स्वस्वरूप है, जो पूर्वापर भाग से सर्वथा रहित, सर्वतोव्यावृत्त, अयोगव्यवच्छेद-विधि-रूप, अर्थक्रिया का क्षणमात्र, देश-काल और सत्ता की क्षणावच्छिन्न एकनिष्ठता है, जो उत्पत्त्यन्तर निरन्वय विनाशी होता है। सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है।[14] यह किसी वस्तु का अनुभव-सापेक्ष, विकल्पारोपित पर-स्वरूप है, जो विजातीय व्यावृत्तिवशात् सभी आनुभाविक व्यतियों में समान रूप से प्राप्त होता है। यह अभिलाप्य, अलीक, अपोहात्मक, अर्थक्रिया में असमर्थ लेकिन अर्थक्रिया का प्रदर्शक, नामजात्यादि विकल्प-योजना से सम्प्रयुक्त होता है।

III

यहाँ ध्यातव्य है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण समान रूप से सत् और दो समानान्तर सत्ताएँ नहीं हैं। एक ही स्वलक्षण का स्वरूप और पररूप में अध्यवसित होने के कारण, वही और एक ही परमार्थ सत् दो स्तरों पर दो प्रमेयों में विभक्त हो जाता है।[15] स्वलक्षण ही विकसित होकर सामान्य- लक्षण के रूप में अध्यवसित होता है। सामान्य अनुभव की परिसीमा में वस्तुनिष्ठ रूप से प्रतीत होने वाली सभी नील-पीत वस्तुएँ बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि में अध्यवसित स्वलक्षण ही हैं। अध्यवसाय सामान्य अनुभव का नेपथ्य है, जिसमें बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से सामान्य अनुभव की संरचना करती है। अध्यवसाय की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही अपोहात्मक है, इसलिए सामान्य अनुभव में गृहीत नील-पीत वस्तुओं को अपोह कहा जाता है।[16] इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है- निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (कल्पनाऽपोढ़) द्वारा जब नील-क्षण का ग्रहण होता है तो वह उसके वर्तमानाभाव को व्यावृत्त करते हुए व्यावृत्त वर्तमानाभाव का अविनाभावी अतीत और अनागत भाव को भी व्यावृत्त कर देता है । इस प्रकार कल्पनाऽपोढ़ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा शुद्ध वर्तमानावच्छिन्न भाव का ग्रहण बौद्ध नैयायिक स्वीकार

करते हैं। इस स्थिति में प्रत्यक्ष-ग्राह्य-विषय (स्वलक्षण) को आन्तरिक एवं बाह्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यहाँ अभिलाप्यता के लिए कोई अवकाश ही नहीं। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया अपनी शुद्धता में यहीं विराम को प्राप्त होती है। वस्तुत: बौद्धों का कल्पनाऽपोढ़ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष एक ऐसी स्थिति है जहाँ परमार्थसत् स्वलक्षण ग्राहक चेतना में स्वाकार अर्पित करता है और तत्क्षण बुद्धि की मनोजल्पात्मक क्रिया का आरम्भ भी नहीं हुआ रहता है। तदनन्तर बुद्धि का उत्प्रेक्षणात्मक विकल्प व्यापार आरम्भ होता है।[17] बुद्धि का प्रथम कार्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ग्राह्य और ग्राहक दो ध्रुवों में विभक्त कर देना है। यह विभक्तिकरण नील-विज्ञान और उसका विषयात्मक सन्दर्भ नील-वस्तु के रूप में होता है, जिनके मध्य बुद्धि सारूप्य की स्थापना करती है। सारूप्य दो विलक्षण क्षणों का सालक्षण्य है। यह तत्त्वत: नहीं होता बल्कि बुद्धि का कार्य होने से विकल्पात्मक ही है। बुद्धि उसी अनुपात में सारूप्य की स्थापना करती है, जिस अनुपात में वह असारूप्य की व्यावृत्ति करती है।[18] बुद्धि इसी सारूप्य वशात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत क्षणिक प्रतिभास को ''शुद्धअन्य'' के रूप में बाह्यरूपेण अध्यवसित करती है। ''शुद्ध-अन्य'' के रूप में स्वलक्षण का अध्यवसाय यद्यपि बौद्धिक एवं विकल्पगर्भित होता है तथापि यह बुद्धि की ही प्रथम निर्विकल्पक स्थिति होने से ग्राह्य-ग्राहक असंवित् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सजातीय , अविसंवादी होता है। श्चेरबात्सकी[19] के अनुसार यह स्वलक्षणग्राही प्रत्यक्ष और विकल्पात्मक अध्यवसाय की मध्यवर्ती स्थिति है, जो दोनों को जोड़ने का कार्य करती है। धर्मकीर्ति के अनुसार यही ''शुद्ध-अन्य'' के रूप में बौद्धिक प्रज्ञा का निर्विकल्पक विज्ञान सामान्यजन को लभ्य होता है।[20] ''शुद्ध-अन्य'' के रूप में ज्ञान का स्वरूप साकल्यात्मक परिप्रेक्ष्य लिये रहता है। साकल्यात्मक ज्ञान का तात्पर्य यह है कि बुद्धि ''शुद्ध-अन्य'' के ज्ञान को उसके पूरे परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करती है।[21] तत्पश्चात् बुद्धि अपने दृष्टिसाकल्य में उस ''शुद्ध-अन्य-विशेष'' के अतिरिक्त अन्यों का अशेष रूपेण निषेध करते हुए ''शुद्ध-अन्य-विशेष'' को पंचविध कल्पनाओं में तत्तद विरूद्ध की व्यावृत्तिपूर्वक विधेयीकृत करती है। यथा-यह चित्रांगदा नाम की शुक्लवर्णा, दूध देने वाली, गोत्व जाति से सम्पन्न गाय द्रव्य है। इसी अतद्व्यावृत्तिपूर्वक ''यह गाय है'' के अध्यवसाय के कारण सभी गायों में एक समानता की प्रतीति होती है,[22] जो ''यह गाय है'' के सामान्य अनुभव के नेपथ्य उपचेतन मन में अपोहात्मक रूप से निर्धारित होता है। आनुभविक रूप में सभी गायें एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी उनमें एक अतद्व्यावृत्ति रूप व्यापक समानता के कारण ''गोत्व सामान्य'' या जाति की संकल्पना बुद्धि में आकारित होती है, जो वैसे सभी व्यक्तियों को व्याप्त करता है, जिनमें आश्रय, आलम्बन, आकार आदि की दृष्टि से सादृश्य और एकार्थक्रियाकारित्व की प्रतीति होती है।[23] यहाँ प्रश्न उठता है कि एक ओर तो बौद्ध नैयायिक दो या दो से अधिक व्यक्तियों में समानता का हेतु

''समान अतद्व्यावृत्ति'' को बताते हैं और दूसरी ओर ''समान अतद्व्यावृत्ति'' का हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों में ''समानअर्थक्रिया- कारित्व'' बताया जाता है तो उनमें समानता का हेतु अतद्व्यावृत्ति मात्र नहीं रह जाता बल्कि अर्थक्रियाकारित्वगत समानता का वस्तुगत हेतु भी प्रकारान्तर से प्रवेश प्राप्त करता है। धर्मकीर्ति इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि कुछ वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा मानने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की स्थिति में अर्थक्रिया का स्वरूप ऐन्द्रिक उद्दीपन मात्र होता है, जहाँ किसी प्रकार के व्यवहारयोग्य भेद-ग्रहण की प्रसक्ति भी सम्भव नहीं। यदि कहा जाय कि तब उस अवस्था में विलक्षण क्षणों के द्वित्व का ग्रहण क्यों कर सम्भव होगा ? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता कि द्वित्व का ग्रहण भी अपेक्षाबुद्धिपूर्वक ही होता है और ऐसा होने से यह भी विकल्पात्मक ही है। यहाँ तक कि अध्यवसाय पूर्वक ही अर्थक्रिया को जल की शीतलता और अग्नि की उष्णता से विशेषीकृत किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि समान अर्थक्रियाकारित्व को भी अन्ततः अध्यवसित ही समझना चाहिए। क्योंकि दो या दो से अधिक स्वलक्षणों में एकार्थक्रियाकारित्व होता है या नहीं, यह बौद्धिक ज्ञान का विषय ही नहीं, बल्कि स्वलक्षणों के पारस्परिक भेद-ग्रहण में असमर्थ बुद्धि भेदाग्रह के कारण ''एकप्रत्ययवमर्श''[२४] पूर्वक कुछ अध्यवसित स्वलक्षणों में एकार्थक्रियाकारित्व का आरोप करती है। इसी कारण उसमें एक ही प्रकार की अतद्व्यावृत्ति का उपचार होने से समानता की प्रतीति होती है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि बौद्धेतर दार्शनिक इस अतद्व्यावृत्ति रूप से आकारित होने वाले समानता के सम्प्रत्यय को सामान्य अथवा जाति नामक एक ऐसे पदार्थ में रूपान्तरित कर देते हैं जो नित्य और भाव रूप से अनेक व्यक्तियों में एक ही साथ अपनी सम्पूर्णता में अनुगत रहते हुए उन सभी व्यक्तियों से पृथक् एवं परे स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। मानव बुद्धि की अपोहात्मक प्रकृति को समझे बिना सत्ता को जातिविशिष्ट व्यक्ति और व्यक्तिविशिष्ट जाति की ''टोपोलॉजी'' में स्थापित करना विचारासह्य है। ऐसे सामान्य का तात्पर्य तो एक ऐसी सत्ता से है जो एक साथ अनेक व्यक्तियों में रहते हुए उसी समय व्यक्ति विशेष में उपस्थित और अनुपस्थित दोनों एक साथ होता है क्योंकि एक व्यक्ति में विद्यमान सामान्य अन्यत्र उत्पन्न वस्तु में बिना पूर्व स्थान से हटे अचानक प्रकट हो जाता है। जहाँ वस्तु है, उस स्थान से सम्बद्ध हुए बिना वहाँ की वस्तु को व्याप्त करता है। न वहाँ जाता है,न वहाँ पहले से था और अनायास प्रकट हो जाता है यद्यपि न उसके अंश हैं, न वह पूर्व आधार को छोड़ता है। इसलिए आचार्य दिङ्नाग के अनुसार एकत्व, नित्यत्व और अनेकसमवेतत्व रूप सामान्य नामक किसी भाव पदार्थ को मानने से ऐसी कठिनाइयों की शृंखला जुड़ जाती है।[२५] वास्तव में ऐसा सामान्य काल्पनिक ही हो सकता है। बौद्धों का अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य भी ऐसे

सभी गुण-लक्षणों से युक्त बताया जा सकता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसकी कोई वस्तुनिष्ठ सत्ता है।[२६] अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य में एकत्व होता है, क्योंकि यह प्रत्येक वैसे व्यक्तियों में अनुगत है जिनमें एकार्थक्रियाकारिता होती है। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य नित्य होता है क्योंकि इसका निषेधात्मक आधार तार्किक रूप से कभी नष्ट नहीं होता। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य प्रत्येक परिवर्तित होने वाले व्यक्तियों में वहीं बना रहता है। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य प्रत्येक व्यक्तियों में अपनी सम्पूर्णता में समवेत होता है। अतएव बौद्धेतर दार्शनिकों के सामान्य विषयक अवधारणा की अपेक्षा बौद्धों का अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित सामान्य की संकल्पना में अनेक अनुकूलताएँ एवं तार्किक संगति है जबकि इस रूप में उसकी कोई भावरूप सत्ता नहीं है। इसलिए तथाकथित सामान्य वस्तुत: वर्ग-विशेष के व्यक्तियों में अनुगत एकत्व, नित्यत्व और अनेक समवेतत्व से युक्त भाव पदार्थ नहीं अपितु यह दो या दो से अधिक अध्यवसित स्वलक्षणों में समान अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित अलीक बुद्ध्याकार है।[२७]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यवसाय की सम्पूर्ण प्रक्रिया अपोहात्मक है, जिसे बुद्धि अपनी अध्यक्षता में द्विविध स्तरों पर सम्पादित करती है। प्रथम स्तर पर बुद्धि स्वलक्षण द्वारा ग्राहक चेतना में अर्पित स्वाकार को अन्यव्यावृत्तिपूर्वक "यह है" के रूप में बाह्यरूपेण अध्यवसित करती है। "यह है" का अध्यवसाय आनुभविक रूप में भावात्मक होता है, लेकिन इसकी अपोहात्मकता सामान्य अनुभव के नेपथ्य (उपचेतन मन) में सम्पादित होती है। दूसरे स्तर पर बुद्धि सामान्यीकरण की पद्धति से समान आश्रय, आलम्बन, आकार और अर्थक्रियाकारित्व वाले व्यक्तियों में अन्यव्यावृत्ति की समानता के कारण सामान्य या जाति की संकल्पना को आत्मसात् करती है। वस्तुत: अध्यवसाय एक प्रकार से बुद्धि की कार्यशाला है, जिसमें बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से आनुभाविक जगत् की विविधता का निर्माण करती है और स्वयं उसे ही अपोहात्मक रूप में स्थिर भी करती है। वास्तव में अपोहन अथवा व्यावर्त्तन बुद्धि के व्यापार का एक आवश्यक अंग है जिसे बुद्धि अपने व्यापार के सभी स्तरों पर न्यूनाधिक रूप से सम्पादित करती है।[२८] अत: बाह्यार्थ अपने आनुभविक स्वरूप में अपोह मात्र ही है। अपोह विषयक न्यायवादी बौद्ध संकल्पना का यही वास्तविक मन्तव्य है।

IV

अब हम अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना के सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों की चर्चा करेंगे, जिनका स्पष्टीकरण अपोहवाद के हृदयंगम के लिए आवश्यक है। बौद्धेतर दार्शनिकों ने "अपोह" की आलोचना विशेषकर इन्हीं स्थलों को स्पर्श करते हुए की है।

सर्वप्रथम यह कि अपोह एक प्रकार का द्वैधिकरण है। बुद्धि की ऐसी स्वाभाविक

प्रकृति है कि वह अतद् की व्यावृत्तिपूर्वक तद् का निश्चय करती है, लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या अपोहात्मक निश्चय में बुद्धि सम्पूर्ण विश्व को अतद् और तद् में विभाजित करती है। यदि अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य ऐसा ही स्वीकार किया जाय तो अपोहवादी बौद्ध संकल्पना अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से ग्रसित हो जायेगा, क्योंकि किसी वस्तु के निषेध के लिए उसका किसी न किसी रूप में ज्ञान आवश्यक है, लेकिन अतद् की व्यावृत्ति के लिए तद् के अलावा अतद् वर्ग में आने वाली संसार की यावत् शेष वस्तुओं का ज्ञान असम्भव है। इसलिए उद्योतकर इत्यादि न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने अपोह की आलोचना करने में इस कठिनाई को बखूबी उजागर करते हुए दिङ्नाग (न जाति शब्दो भेदानां वाचक: आनन्त्याद व्यभिचाराच्च) का उपहास किया है। यद्यपि उपरी सतह पर अपोह की संकल्पना में यह कठिनाई उचित प्रतीत होती है तथापि अपोह की संकल्पना इससे मुक्त है क्योंकि अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य पूरे विश्व को तद्-अतद् में विभाजित करना नहीं है वरन् यह द्वैधिकरण दृष्टि- साकल्य (गेस्टाल्ट) में प्रतिफलित होता है। हम अपने दृष्टि-साकल्य को तद् और अतद् में द्वैधिकृत करते हैं। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो हम उस वस्तु को तद्-देशकालावच्छिन्न उसके पूरे परिपार्श्व में जानते हैं। दृष्टि साकल्य में किसी वस्तु विशेष का ज्ञान असन्दिग्ध रूप से होता है, लेकिन उस वस्तु के अलावा दृष्टि-साकल्य में आनेवाली शेष वस्तुओं का ज्ञान एक शीर्षक के अन्तर्गत समवेत रूप में होता है। अपोह-पद्धति के अनुसार दृष्टि-साकल्य में एक शीर्षक के अन्तर्गत होने वाले समवेत ज्ञान (अतद्) की व्यावृत्तिपूर्वक ही दृष्टि-साकल्य में किसी वस्तुविशेष (तद्) का ज्ञान असन्दिग्ध रूप में अध्यवसित होता है। यहाँ अवधेय है कि इस प्रकार का व्यावृत्तिमूलक निश्चय व्यक्ति का होता है, 'सामान्य' का नहीं।

अत: अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य पूरे विश्व को तद् और अतद् में विभाजित करना स्वीकार किया जाय तो अपोह मात्र आकारिक नियम बन कर रह जायेगा, क्योंकि अपोह को आकारिक नियम मानकर ही हम यह कह सकते हैं कि अतद् के निषेध के लिए अतद् में आने वाली वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक नहीं है। लेकिन अपोहात्मक पद्धति में पूरे विश्व के द्वैधिकरण के स्थान पर दृष्टि-साकल्य के द्वैधिकरण को प्रस्थापित किया जाय तो अपोह को एक ज्ञानमीमांसीय आधार प्राप्त होता है। यदि पूरे विश्व के परिप्रेक्ष्य में किसी ज्ञानविशेष का घटित होना स्वीकार करने के बदले सीमित दृष्टिसाकल्य में ज्ञान का घटित होना स्वीकार किया जाय तो अतद्व्यावृत्त्यात्मक निर्धारण को अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से ग्रसित नहीं कहा जा सकता। अत: अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से सम्बन्धित अपोह विषयक आलोचनाएँ अन्यथा और निराधार हैं।

द्वितीयत: यह कि अपोह एक द्विवार निषेध का नियम है। बौद्ध इसे अन्यापोह,

अन्यव्यावृत्ति और अतद्व्यावृत्ति कहते हैं। बौद्धेतर दार्शनिकों ने इसे "तद्भिन्नभिन्नत्व" कहा है। यहाँ अपोह की अवधारणा में 'अ' और 'व्यावृत्ति' का निषेधात्मक उपसर्ग अपोह की संकल्पना को अस्पष्ट कर देता है, क्योंकि बौद्ध और बौद्धेतर दार्शनिकों की निषेध विषयक अवधारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए वे निषेध विषयक स्व-स्वीकृत अवधारणा से अपोह की संकल्पना को समझते हैं। यथा-न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के लिए निषेध 'अन्योन्याभाव' है, जबकि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के लिए निषेध का अर्थ 'पूर्ण व्यावर्त्तन' है। यदि निषेध को 'अन्योन्याभाव' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाय तो द्विवार निषेध बराबर विधि तो हो सकता है, लेकिन द्विवार निषेध के द्वारा 'वही और केवल वही' के रूप में मूल वस्तु तक पहुँचने की तार्किक अनिवार्यता प्रतिफलित नहीं हो सकती। यथा-जो कुछ गाय नहीं है, वह गाय और केवल गाय ही नहीं हो सकता। वह आदमी, हाथी, घोड़ा, बन्दर भी हो सकता है। क्योंकि अन्योन्याभाव के आशय में 'अ-गाय' आदमी या हाथी या घोड़े की एक खुली संहति को सूचित करता है। सम्भवत: जो बौद्ध नहीं हैं, यथा-प्रशस्तपाद, उद्योतकर, उदयन इत्यादि ने अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना को इसी अर्थ में समझा है और उसकी आलोचना की है। दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के लिए निषेध का सम्प्रत्यय केवल आंशिक भेद का वाचक नहीं, वरन् पूर्ण व्यावर्त्तन है। पूर्ण व्यावर्त्तन के आशय में द्विवार निषेध के द्वारा अ-गाय की व्यावृत्ति करते हुए 'वही और केवल वही' गाय के प्राप्त होने में तार्किक अनिवार्यता है। उदाहरण के लिए मान लिया जाय देश-काल विशेष में हमारा दृष्टि साकल्य क+ख+ग+घ ..... की एक संहति है। इसे हम द्विवार निषेध के द्वैधिकरण में 'क' और 'अ-क' में विभाजित कर सकते हैं। इस द्वैधिकरण में 'अ-क'=(ख+ग+घ) एक बन्द (क्लोज्ड) संहति है, क्योंकि दृष्टि साकल्य में इनका ज्ञान एक शीर्षक के अन्तर्गत समवेत रूपेण होता है। अत: (ख+ग+घ) की बन्द संहति का पूर्ण व्यावर्त्तन 'क' और केवल 'क' को ही निश्चित करता है। बौद्ध नैयायिकों की वैचारिक योजना में 'क' और केवल 'क' अध्यवसित स्वलक्षण का द्योतक है। अतएव अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना अन्योन्याभाव के आशय में द्विवार-निषेध नहीं, बल्कि पूर्ण व्यावर्त्तन के आशय में द्विवार-निषेध है। इस प्रकार द्विवार निषेध से सम्बन्धित अपोह विषयक आलोचनाएँ भी निरर्थक हैं।

तृतीयत: यह कि अपोह का तात्पर्य अन्यापोह विशिष्ट विधि है या अन्यापोह मात्र है। यह प्रश्न अपोह विमर्शकों के लिए विवाद का विषय रहा है। यद्यपि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के मत में अपोह का स्वरूप अन्यापोह मात्र है,[२९] क्योंकि इन्होंने अपोह का विशेष प्रयोग सामान्य विषयक बौद्धेतर संकल्पना का खण्डन तथा सामान्य को अपोह मात्र बताने के लिए किया है। वाचस्पति मिश्र[३०] भी बौद्धों के अपोह को इसी अर्थ में ग्रहण करते हैं, तथापि शान्तरक्षित, कमलशील और रत्नकीर्ति ने

अपोह का स्वरूप अन्यापोह विशिष्ट विधि निर्देशित किया है। श्चेरबात्सकी और धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री[31] अपोह सिद्धि का उद्धरण देते हुए इसी का अनुकरण करते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार की धारणाओं को समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की अवधारणात्मक योजना में अपोह अन्यापोह विशिष्ट विधि और अन्यापोह मात्र दोनों हैं। अपोह जब अध्यवसित स्वलक्षण के लिए प्रयुक्त होता है तो अपोह का तात्पर्य अन्यापोह विशिष्ट विधि है, क्योंकि अतद् व्यावृत्तिपूर्वक तद् अध्यवसित स्वलक्षण का विधायक होता है जो परमार्थत: विधि रूप तो नहीं लेकिन संवृत्ति की अनुमत सीमा में उसी को यथार्थ मानकर विधि रूप से व्यवहृत किया जाता है। रत्नकीर्ति ने इसी आशय में अपोह को अन्यापोह विशिष्ट विधि स्वीकार किया है।[32] दूसरे स्तर पर जब अपोह सामान्य या जाति के लिए प्रयुक्त होता है तो अपोह का तात्पर्य अन्यापोह मात्र अभिप्रेत है, क्योंकि इसमें यत्-किंचित् सांवृत्तिक विधिरूपता का भी अभाव होता है। यह तो कुछ अध्यवसित स्वलक्षणों में समान अतद्व्यावृत्तिवशात् बुद्धि में आकारित 'मेटा कॉन्सेप्ट' है। अन्यापोह विशिष्ट विधि शान्तरक्षित का अर्थात्मक अपोह है, जबकि अन्यापोहमात्र रूप में यह अलीक और बुद्ध्यात्मक है। यहाँ हमें विकल्पों के अर्थात् विकल्पीकरण के दो स्तर प्राप्त होते हैं। प्रथम, स्वलक्षण के सन्दर्भ में और दूसरा सामान्य लक्षण के सन्दर्भ में। जब स्वलक्षण नामजात्यादि प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्पों से अध्यवसित होकर सामान्यलक्षण बनता है तब अर्थात्मक अपोह होता है। दूसरे स्तर पर गो-व्यक्ति के रूप में सामान्यलक्षण के सन्दर्भ से समान-अतद्व्यावृत्तिपूर्वक 'गोत्व जाति' की संकल्पना बुद्धि में आकारित होती है। इसे बुद्ध्यात्मक अपोह के रूप में समझा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के प्रमेय द्वित्व और प्रमाण द्वित्व की वैचारिक योजना में अर्थक्रिया का क्षणमात्र स्वलक्षण ही परमार्थत: विधि है, जिसे बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से अध्यवसित कर आभोग्य बनाती है, लेकिन स्वलक्षण के उत्पत्यन्तर निरन्वय विनाशी होने के कारण बुद्धि को उसका विकल्पित रूप ही गृहीत होता है और विकल्पीकरण की प्रक्रिया में 'अपोह' आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट रहता है। यह किसी वस्तु के व्यष्टित्व के निर्धारण की पूर्वापेक्षा है और उसी व्यष्टि को व्यवहर्ता (पृथक्जन) अनादि-वासना के प्रभाववश यथार्थ समझते हैं और उसी के सहारे पुरुषार्थी ऐसे क्षण संतान तक पहुँचता है जो अनभिष्ट नहीं होती। अतएव यदि सामान्य अनुभव की प्रामाणिकता वांछित वस्तु के प्रापण और अवांछित वस्तु के वर्जन पर निर्भर करती है तो सामान्य अनुभव की अपोहात्मकता उसकी पूर्वापेच्छा है। अपोहात्मक अनुभव के विषय (बाह्यार्थ) अपोहमात्र हैं, यह न्यायवादी बौद्धों की विशेष तत्त्वमीमांसीय चिन्ता है। ज्ञानश्री मित्र ने ठीक ही कहा है -''परमार्थ की अनभिलाप्यता में ही अपोह का अभिनिवेश है''।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. पतंजलि, महाभाष्य १.१ - सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे ।

२. इतिविषयक बौद्धेतर दार्शनिकों के दो सम्प्रदाय हैं। प्रथम शक्तिग्रह को 'ईश्वरेच्छा' स्वीकार करता है और दूसरा व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तादि अष्टविध हेतुपूर्वक शक्तिग्रह स्वीकार करता है ।

३. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक-प्रमाणसिद्धि परि.४, वक्तृव्यापार विषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्व निबन्धनम् ॥

४. वही, ३-शाब्देऽप्य अभिप्राय निवेदनात् ।

५. दिङ्नाग-अन्यशब्दार्थापोह स्वार्थकुर्वति श्रुतिर्भिद्यते। और धर्मकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) स्वार्थानु. परि. ९८-तदन्य परिहारेण प्रवर्तेति च ध्वनि: ।

६. वाक्यपदीय-न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमाद्दृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

७. रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि (सिक्स बुद्धि. न्या. ट्रेक्ट्स) एशिया. सो., १९८९, पृ. ३.

८. वही, पृ. ४-यदि शब्दार्थ प्रतिपत्ति काले कालितो न परापोह:, कथं अन्यपरिहारेण प्रवृत्ति: ।

९. श्चेरबात्सकी - बुद्धि. लॉजिक, भाग २, डोवर प्रकाशन, १९६२, पृ. ४५७. श्चेरवात्सकी महोदय ने काण्टीयन प्रभाव में अपोह को "ट्रान्शेण्डेन्टल डायलेक्टिक" कहा है। अपोह ऐसा अर्थ स्वीकार करने से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा परमार्थ सत् स्वलक्षण का अग्रहण स्वीकार करना होगा। इसे स्वयं श्चेरवात्सकी महोदय भी स्वीकार नहीं करते। यदि "ट्रान्शेण्डेन्टल डायलेक्टिस" से उनका आशय प्राग् बौद्धिक है तो हमें कोई आपत्ति नहीं, लेकिन बाद के पृष्ठों में "ट्रान्शेण्डेन्टल डायलेक्टिक" पद को काण्ट के प्रागनुभविक अर्थ में ही उन्होंने स्पष्ट किया है।

१०. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक (स्ववृत्ति) कर्णगोमिटीका सहित, किताब महल, प्रयाग, पृ. १७०- व्याख्यातार एवं विवेचयन्ति न तु व्यवहर्तार: ... तदभिप्रायवशादेवमुच्चते ।

११. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) प्रत्यक्ष परि. १.२ - सर्वत्र द्वैविध्य संग्रहात।

१२. वही - मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात् ।

१३. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु १२, १४ -तस्य विषय: स्वलक्षणम् । तदेव परमार्थसत् ।

१४. वही, १६,१७-अन्यत् सामान्यलक्षणम् । सोऽनुमानस्य विषय: ।

१५. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, प्रत्यक्षपरि. ५३-५४ मेयं त्वेकं स्वलक्षणम् ....स्वपर रूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम् ।

१६. मोक्षाकार गुप्त, बौद्धतर्कभाषा, प्रो. बी.एन. सिंह (अंग्रेजी अनुवाद), पृ. ८८, आशा प्रकाशन, वाराणसी-यथा ध्यवसायं वाह्य एवं घटादिरर्थ: अपोह इत्यभिधीयते ।

१७. धर्मोत्तर, न्याय बिन्दु टीका, प्रत्यक्ष परि. २१. उत्प्रेक्षणं तु विकल्प व्यापार: ..... अनुभवाद अध्यवस्यन्ति ।

१८. वही, २१- तस्माद असारूप्य व्यावृत्त्या सारूप्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापन हेतु: ।

१९. श्चेरवात्सकी, बुद्धि. लॉजिक, भाग २, वही, पृ. २०७.

२०. वही, पृ. २०६, वस्तुत: दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की ज्ञानमीमांसा में यह स्थल टीकाकारों (यथा-धर्मोत्तर, दुर्वेकमिश्र) के लिए विवादस्पद रहा है। विकल्पात्मक अध्यवसाय के मध्य सविकल्प गर्भित निर्विकल्पक बौद्धिक प्रज्ञा की स्थिति दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की प्रमाणमीमांसा के लिए

शास्त्रीय आवश्कता है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो धर्मकीर्ति का यह कथन कि "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभास भेदस्तत् स्वलक्षणम्" किस प्रकार प्रासंगिक होगा (लेखक की टिप्पणी)।

२१. धर्मोत्तर, न्याय बिन्दु टीका, २.२८ -यथा चैकज्ञान संसर्गिणि प्रत्यक्षं घटस्य प्रत्यक्षत्वम्।

२२. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, प्रत्यक्ष परि. १०, - सर्वत्र समरूपत्वात् तद् व्यावृत्ति समाश्रयात्।

२३. धर्मकीर्ति, स्वार्थानु. परि. (स्ववृत्ति) १०९- एककार्यता सादृश्यम्। और प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) टीका में मनोरथनन्दी ने समानता के प्रत्यय को हेतुपूर्वक बताया है - "आश्रयालम्बनाकारकालद्रव्यसमतादिभि: समं प्रयुक्ता सम्प्रयुक्ता:", प्रमाणसिद्धि परि. २१६.

२४. वही, १११- एकप्रत्ययवमर्शस्य ... व्यक्तिनामप्यभिन्नता।

२५. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्थनुमान परि. १५२-५३ - अनन्यत्वेऽन्वयाभावादन्यत्वेऽप्य नपाश्रयात्। न याति न च तत्रसीदस्ति पश्चान्न चांशवत्॥ जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसन सन्तति:। अन्यत्र वर्त्तमानस्य ततोडन्यस्थानजन्मनि॥

२६. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, शव्दार्थपरिक्षा, ३१५.

२७. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्थानुमान परि. १३४-तैनान्यापोह विषया: प्रोक्ता: सामान्य गोचरा:।

२८. बुद्धि के बहुआयामिक व्यावर्त्तन व्यापार के लिए श्री यशदेप शल्य की पुस्तक 'चिद्विमर्श' का 'आत्म और अनात्म' अध्याय विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

२९. धमीकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्था. परि. ७७-७८. तस्यां यद्रुपमाभाति बाह्यमेक मिवान्यत:। व्यावृत्तमिव निस्तत्त्वं परीक्षानङ्गभावत:॥ अर्थाज्ञाननिविष्टास्त एवं व्यावृत्तरूपका:। अभिन्ना इव चाभान्ति व्यावृत्ता: पुनरन्यत:॥

३०. वाचस्पति मिश्र, न्यायकणिका, पृ. १८६-व्यावृत्तमिवनिस्तत्वं परीक्षा भगं भावत:।

३१. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज़्म, पृ. ३०९, आगरा विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९६४.

३२. रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि (सिक्स न्याय बुद्धि. ट्रेक्ट्स) एशियाटि. सोसायटी १९८९, पृ. ६- अपोह शब्देनान्यायपोह विशिष्टो विधि रूच्यते। ... विधि शब्देन च यथाध्यवसाय मतदुपपरावृत्तो।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

- *अर्चट भट्ट, हेतुबिन्दु टीका, गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९४९.*
- *अट्ठसालिनी, भण्डारकर ओरियेण्टल सीरीज, पूना, १९४२.*
- *अभिधम्मत्थ संङ्गहो, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६७.*
- *अभिधर्म समुच्चय, विश्वभारती शान्ति निकेतन, १९५०.*
- *अभिधर्म प्रदीप, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९५९.*
- *उदयनाचार्य, न्यायकुसुमाञ्जलि, (टीकाचतुष्टययुक्त) मिथिला रिसर्च इन्स्टीट्यूट, दरभंगा, १९७२.*
- *उदयचंद जैन, न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन, प्राच्यश्रमण भारती, मुजफ्फरपुर, बिहार, २०००.*
- *उदयनाचार्य, आत्मतत्त्वविवेक, सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद, केदारनाथ त्रिपाठी, प्रकाशक केदारनाथ त्रिपाठी, वाराणसी, १९८०.*
- *उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक, (न्यायसूत्र तथा वात्स्यायन भाष्य सहित) हिन्दी अनुवाद, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, इण्डोविजन प्राईवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, १९८६.*
- *उपाध्याय गंगेश , तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्ष खण्ड, सम्पादन, कामाख्यानाथ तर्कवागीश, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९९०*
- *एलेक्स वेमेन, ए मिलेनियम ऑफ बुद्धिस्ट लॉजिक, मोतीलाल बनारसीदास, १९९९.*
- *ऐली फ्रैंको, परसेप्शन, नॉलेज एण्ड डिसविलिव, मोतीलाल बनारसी दास, १९८७.*
- *कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्त्तिक, हिन्दीव्याख्या, पं. दुर्गाधर झा, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, १९७९.*
- *गांगुली हेमन्त कुमार, फिलॉसफ़ी ऑफ लॉजिकल कन्स्ट्रक्शन, संस्कृत पुस्तक भण्डार, कलकत्ता, १९६३.*
- *चटर्जी अशोक कुमार, दि योगाचार आइडियलिज्म, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६२.*
- *चिंचोरे मंगला, धर्मकीर्तिज थ्योरी ऑफ हेतु सेन्ट्रीसिटी ऑफ अनुमान, मोतीलाल बनारसीदास, १९८९.*
- *ची आर.एस.वाई, बुद्धिस्ट फार्मल लॉजिक, मोतीलाल बनारसीदास, १९९०.*
- *छोगडुब थुबतन, भोट देश में माध्यमिक दर्शन, केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, लेह लदाख, १९८९.*
- *जयन्त भट्ट, न्यायमञ्जरी, हिन्दी अनुवाद, पं. आनन्द झा, सम्पादक, डॉ. किशोरनाथ झा, कामेश्वर सिंह दरभंगा विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, २००१.*
- *जयराशि भट्ट, तत्त्वोपप्लवसिंह, सम्पादन, पं. सुखलालजी संघवी एवं प्रो. रसिक लाल पारीख, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९८७.*
- *ड्रीफल बी. जे. जार्जेस, रिकॉगनाइजिंग रियलिटी, स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क प्रेस, १९९७.*
- *दयाकृष्ण, भारतीय दर्शन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, २००१.*
- *दिङ्नाग, प्रमाण समुच्चय (प्रत्यक्ष परिच्छेद), पुन: रचित एवं सम्पादित, एच. आर.आर स्वामी आयंगर, मैसूर विश्वविद्यालय १९३०.*

- दिङ्नाग, आलम्बन परीक्षा (वृत्ति सहित), एन. अय्यास्वामी शास्त्री, दि अडयार लायब्रेरी, बड़ौदा. १९४२.
- दिङ्नाग, न्यायप्रवेशिका सूत्रम्, सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद, डॉ. रंजन कुमार शर्मा, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ वाराणसी, १९९९.
- दिङ्नाग, न्यायप्रवेश, डॉ. आनन्दशंकर ध्रुव, ओरियेण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६८.
- द्रविड़ आर. आर., दि प्रॉब्लेम ऑफ यूनिवर्सल्स इन इण्डियन फि लॉसफ़ी, मोतीलाल बनारसीदास, २००१.
- दुर्वेक मिश्र, धर्मोत्तर प्रदीप, सम्पादित, पंडित दलसुख भाई मलवाणियाँ, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९७१.
- दुर्वेक मिश्र, हेतुबिन्दु टीका लोक, गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९४९.
- धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिकम्, स्वामीयोगीन्द्रानन्द कृत- 'वार्त्तिकालङ्कार भाष्य व्याख्या' सहित-प्रज्ञाकर गुप्त विरचित - 'वार्त्तिकालङ्कार भाष्य' समलङ्कृतम्, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९६१.
- धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, हिन्दी अनुवाद, गोविन्द चन्द्र पांडे, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, १९७२.
- धर्मोत्तर, न्यायबिन्दु टीका, हिन्दी अनुवाद, श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५.
- धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिकम्(मनोरथनन्दी टीका सहित) सम्पादन, स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, १९८४.
- धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिकम् (कर्णगोमी टीका सहित) सम्पादन राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, १९४३.
- धर्मकीर्ति, सन्तानान्तर सिद्धि, पुनरूद्धारकर्त्ता एवं सम्पादक, जे. एस. नेगी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, १९९७.
- धर्मकीर्ति, वादन्याय एवं सम्बन्ध परीक्षा, सम्पादन, स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, १९६२.
- नागार्जुन, विग्रहव्यार्त्तनी (वृत्ति सहित), के.पी. जायसवाल तथा राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना.
- नागार्जुन, विग्रहव्यार्त्तनी, अंग्रेजी अनुवाद, कमलेश्वर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९९८.
- नागार्जुन, वैदल्य प्रकरण, सम्पादन एवं अंग्रेजी अनुवाद, फर्नेण्डो टोला एवं कार्मेन ड्रेगोनेट्टी, मोतीलाल बनारसीदास, १९९५.
- नागार्जुन, वैदल्यसूत्रम्, तिब्बती से पुनः रचित, सेम्पा दोरजे, तिब्बती हिन्दी केन्द्र, वाराणसी, १९७४.
- नागेश भट्ट, परम लघु मंजूषा, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, १९४६.
- न्यायदर्शनम्, वात्स्यायन भाष्यसंवलितम्, हिन्दी अनुवाद, स्वामी द्वारिकादास, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९८९.
- पार्थसारथी मिश्र, शास्त्र दीपिका, सम्पादक, किशोरदास स्वामी, स्वामी रामतीर्थ मिशन, देहरादून, १९९६.
- पार्थसारथी मिश्र, शास्त्र दीपिका (तर्कपाद), सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार, डॉ किशोर दास स्वामी, श्री साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, १९७७.

- पाण्डेय रामचन्द्र, वादन्याय, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९८८.
- पाहि विश्वम्भर, वैशेषिक पदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, २०००.
- प्रमाणान्तर्भाव, सम्पादन, एस.सी, न्यायाचार्य, दि एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता १९६९.
- प्रसाद राजेन्द्र, धर्मकीर्तिज थ्योरी ऑफ इन्फरेंस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, २००२.
- फीलिप स्टीफेन एच., क्लासिकल इण्डियन मेटाफिजिक्स, लॉ सेली : ओपेन कोर्ट, १९९५.
- बलिराम शुक्ल, नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ, योग इण्टरप्राइजेज, पुणे, १९२० (शक.).
- भट्ट गोवर्धन, दि बेसिक वेज ऑफ नोविंग, मोतीलाल बनारसीदास, १९६२.
- भर्तृहरि; वाक्यपदीय, सम्पादक, वासुदेव, अभ्यंकर, पुणे विश्वविद्यालय, १९६५.
- भारद्वाज विजय, फॉर्म एण्ड वैलिडिटी इन इण्डियन लॉजिक, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १९९०.
- भासर्वज्ञ, न्यायभूषण, सम्पादक, स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९६८.
- भीमाचार्य झल्कीकर, न्यायकोश, सम्पादन, वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२८.
- भोजराज, युक्तिदीपिका, सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार, आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९६.
- मण्डन मिश्र, विधि विवेक, वाचस्पति मिश्र कृत न्याय कणिका सहित, मेडीकल हॉल, काशी.
- मध्यान्तविभाग शास्त्रम्, सम्पादक, रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१.
- मध्यमक शास्त्रम् (प्रसन्नपदा वृत्ति सहित), सम्पादक, स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९८३.
- मधुसूदन सरस्वती, अद्वैतसिद्धि (न्यायमृत सहित) हिन्दी व्याख्या, स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९८६.
- मण्डन मिश्र, विधि विवेक, (वाचस्पति मिश्र कृत न्यायकणिका सहित) सम्पादन, महाप्रभु लाल गोस्वामी, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, १९८६.
- मलकानी घनश्याम रतनमल, वेदान्त ज्ञानमीमांसा, हिन्दी अनुवाद, शत्रुसूदन प्रसाद पाण्डेय, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७३.
- मतिलाल बी.के, परसेप्शन; क्लारेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, १९८६.
- मतिलाल बी. के. दि वर्ड एण्ड दि वर्ल्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, १९९०.
- मतिलाल बी.के., लॉजिक, लैंग्वेज एण्ड रियलिटी, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९८५.
- मतिलाल बी.के. एण्ड आर. डी. जी. इवान्स, सम्पादन, बुद्धिस्टलॉजिक एण्ड एपिस्टेमोलॉजी, राइडल पब्लिशिंग कम्पनी, १९८२.
- मिश्र आनन्द, संवित् प्रकाशवाद, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, २००२.
- मुखर्जी सतकडी, बुद्धिस्ट फिलॉसफ़ी ऑफ युनिवर्सल फ्लक्स, मोतीलाल बनारसीदास, १९८०.
- मुखर्जी सतकडी, नवनालंदा महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, भाग १, नव नालंदा महाविहार, नालंदा, पटना, १९५७.

- मुखोपाध्याय पी.के., इण्डियन रियलिज्म, के.पी. बागची एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, १९८४.
- मूर्ति टी. आर. व्ही., दि सेन्ट्रल फिलॉसफ़ी ऑफ बुद्धिज्म, जॉर्ज एलन एण्ड उनवीन लिमिटेड, लन्दन, १९५५.
- मोहन्ती जे.एन.,गंगेश थ्योरी ऑफ ट्रुथ, शान्ति निकेतन, १९६६.
- मोहन्ती जे. एन., रीजन एण्ड ट्रेडीशन इन इण्डियन थॉट, ऑक्सफोर्ड : क्लारेण्डन प्रेस, १९९२.
- मोक्षाकार गुप्त, तर्कभाषा, हिन्दु अनुवाद, रघुनाथ गिरि, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, १९६९.
- मोक्षाकर गुप्त, बौद्ध तर्कभाषा, अंग्रेजी अनुवाद, प्रो. बी. एन. सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी, १९८५.
- रत्नकीर्ति निबन्धावली,के. पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९६१.
- रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि, हिन्दी अनुवाद, गोविन्दचन्द्र पांडे, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, १९७१.
- रैण्डल एच.एम., फ्रैगमेण्ट्स फ्रॉम दिङ्नाग, दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन, १९२६.
- वल्लभाचार्य, न्यायलीलावती, श्री दुर्गाधर झा कृत 'शाम्भवी' हिन्दी व्याख्या तथा श्री चन्द्रकान्त दबे कृत 'चन्द्रकान्ति' हिन्दी व्याख्या, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, १९९६.
- वल्लभ, न्यायलीलावती, सम्पादन पं. हरिहर शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९९१.
- वसुबन्धु,अभिधर्म कोश, (यशोमित्र की स्फुटार्थ व्याख्या सहित) सम्पादक, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९७०.
- वसुबन्धु, अभिधर्म कोश, हिन्दी अनुवाद, आचार्य नरेन्द्र देव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५८.
- वसुबन्धु, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (प्रकरण द्वयम् व्याख्यात्रयोपेतम्) सम्पादक, प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९२.
- वसुबन्धु, मध्यान्तविभाग भाष्य, के. पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९६७.
- वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका, न्याय भाष्य, वार्त्तिक सहित, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, १९३६.
- वाचस्पति मिश्र, भामती हिन्दी व्याख्या, स्वामी योगीन्द्रनन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९८४.
- वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, सम्पादन, पं. राजेश्वर शास्त्री द्रविड़, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, १९९०.
- वाचस्पति मिश्र, सांख्यतत्त्व कौमुदी, रामशंकर भट्टाचार्य कृत ज्योतिष्मति व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७.
- विभाषाप्रभावृत्ति, (अभिधर्मदीप की टीका), काशी प्रसाद जायसवाल, रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९५९.
- शबर, मीमांसा-शाबर-भाष्य, सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद, युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत हरियाणा) १९८७.
- शल्य यशदेव, मुख्य भारतीय और पाश्चात्य दर्शन धारायें, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर १९९७.

- शल्य यशदेव, सत्ताविषयक अन्वीक्षा, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली, १९८७.
- शल्य यशदेव, नागार्जुनकृत मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्त्तनी, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, १९९०.
- शल्य यशदेव, तत्त्वचिन्तन, राकाप्रकाशन, इलाहाबाद, २००३.
- शल्य यशदेव, चिद्‌विमर्श, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, १९९४.
- श्चेरबात्स्की एफ. थियोडोर, बुद्धिस्ट लॉजिक (दो भाग), डोवर पब्लिकेशन, न्यूयार्क, १९६२.
- शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, अंग्रेजी अनुवाद, गंगानाथ झा, मोतीलाल बनारसी दास, १९८६.
- शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह (पंजिका सहित) सम्पादक, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, १९६८.
- शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार, हिन्दी अनुवाद, शान्ति भिक्षु शास्त्री, बुद्धविहार, लखनऊ, १९५५.
- शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार, मिथिला इन्स्टीट्यूट, दरभंगा, १९६०.
- शास्त्री धर्मेन्द्रनाथ, क्रिटीक ऑफ इण्डियन रियलिज्म, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६८.
- शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्यम्, स्वामी योगीन्द्रानन्द हिन्दी व्याख्या युक्त भामती सहित, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९८२.
- शंकराचार्य, शारीरिक भाष्य, (शांकर भाष्य) भामती-वेदान्त कल्पतरु-कल्पतरूपरिमल सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१७.
- शंकर चैतन्य भारती, दर्शन सर्वस्वम्, हिन्दी टीकाकार एवं सम्पादक, डॉ. सुधांसुशेखर शास्त्री, प्रकाशक, डॉ. सुधांसुशेखर शास्त्री, वाराणसी, १९९०.
- सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रेक्ट्स, सम्पादक, हरप्रसाद शास्त्री, बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १९१०.
- सेन देवव्रत, दि कॉन्सेप्ट ऑफ नॉलेज, के.पी. बागची एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, १९८४.
- संघवी सुखलालजी, एडवांस स्टडीज इन इण्डियन लॉजिक एण्ड मेटाफिजिक्स, इण्डियन स्टडीज, कलकत्ता, १९६१.
- हतोरी एम., दिङ्नाग ऑन परशेप्सन, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६८.
- हेमचंद्र, प्रमाणमीमांसा, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, १९७०.
- हेय्स पी. रिचर्ड, दिङ्नाग ऑन दि इण्टरप्रेटेशन ऑफ साइन्स, कुलुवर एकेडमिक पब्लिशर, लन्दन, १९८८.
- त्रिपाठी छोटेलाल, दि प्रॉब्लेम ऑफ नॉलेज इन योगाचार आइडियलिज्म, भारत-भारती, वाराणसी, १९७८.
- ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली, सम्पादक, अनन्तलाल ठाकुर, के.पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९५९.
- श्रीधर, न्यायकन्दली, प्रशस्तपाद भाष्य सहित, सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद, पं. दुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७.
- श्रीहर्ष, खण्डनखण्डखाद्यम्, स्वामी योगीन्द्रानन्द कृत हिन्दी व्याख्या, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, १९७९.

अनुक्रमणिका

अ - अः

प - म

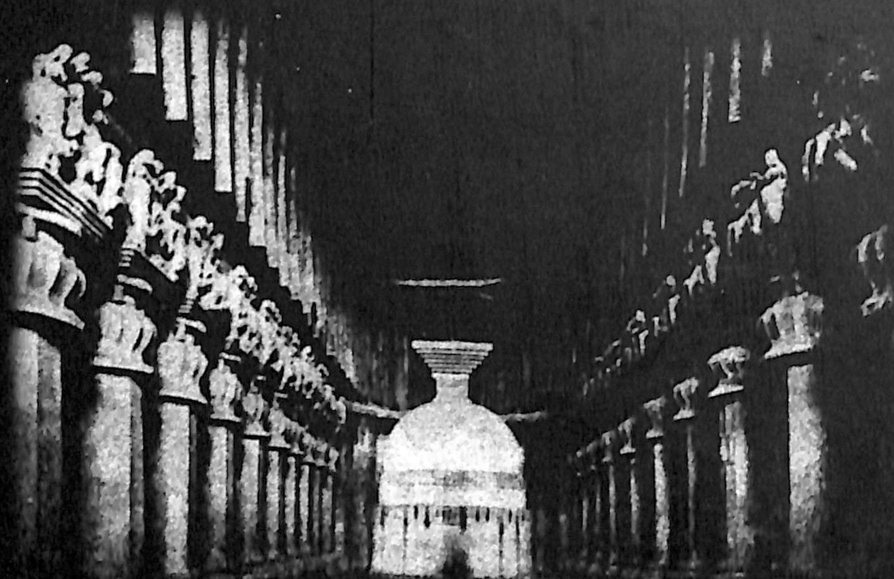
य - ह

अम्बिकादत्त शर्मा



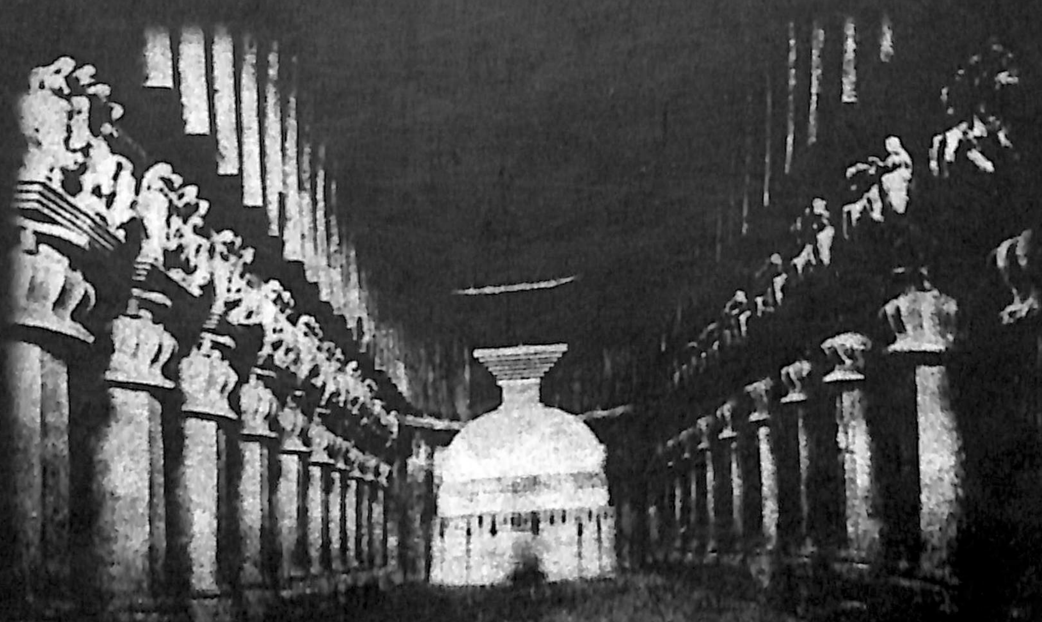
शास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि सेवा - अपनी दार्शनिक जिज्ञासा को समुन्नत बनाने में सतत् प्रयत्नशील डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का जन्म वर्तमान झारखण्ड प्रदेश के चतरा अंचलान्तर्गत १९६० में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा नितान्त घरेलु परिवेश में और बी.ए. (१९८१) तक की शिक्षा राँची विश्वविद्यालय से अत्यन्त साधारण रूप में सम्पन्न हुई। यह उनका प्रारब्ध ही था कि १९८२ में इनका प्रवेश महामना के पावन परिसर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुआ जहाँ से ये कठिन परिश्रम पूर्वक दर्शनशास्त्र में एम.ए. (१९८५); पी-एच.डी. (१९८८) की उपाधि प्राप्त करने में सफल रहे। 'बौद्धदर्शन में स्वलक्षण की अवधारणा' पर अपना शोध कार्य करते हुए डॉ. शर्मा को प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय की उन्नायक स्नेह छाया में प्रो. (पद्मभूषण) टी.आर.वी. मूर्ति द्वारा संस्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वर्द्धमान दर्शन-परम्परा से परिचित होने का सुयोग प्राप्त हुआ। इसी परिचय के कारण वे ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा के प्रति निष्ठावान और दोनों परम्पराओं के दार्शनिक उत्कर्ष के प्रति मोहग्रस्त हुए। अपनी दार्शनिक पृच्छा का रिक्त पात्र लेकर-तेन मोहेन मुग्धत्वात्- वे १९८६ में काश्यस्थ शास्त्रमूर्ति स्वामी योगीन्द्रानन्द जी से मिले और यह इनका सौभाग्य ही था कि स्वामी जी ने उन्हें अपना अन्तेवासी स्वीकार कर लिया जबकि डॉ. शर्मा संस्कृत परम्परा से अधीत विद्यार्थी नहीं थे। स्वामी जी के साथ बौद्ध न्याय के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए उन्होंने भारतीय दर्शन की शास्त्रीय परम्परा एवं भारत में विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों के यौक्तिक विकास को आत्मसात् किया। स्वामी जी का सान्निध्य उनमें एक ऐसी भाव-भूमि तैयार कर गया जो आजीवन अभिव्यक्ति पाता रहेगा। डॉ. शर्मा ने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से बौद्धदर्शनाचार्य (१९९३) की भी उपाधि प्राप्त की और आई.सी.पी.आर. जेनरल फैलो (१९९०-९३) तथा यू.जी.सी. रिसर्च ऐशोसियेट (१९९३-९६) के रूप में लम्बे समय तक दर्शन एवं धर्म विभाग-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहते हुए अपने शोधोत्तर अध्ययन क्रम को जारी रखे रहे। लेक्चरर (१९९३) के रूप में उनकी पहली नियुक्ति विनोबाभावे विश्वविद्यालय-हजारीबाग में हुई जहाँ उन्होंने दो वर्ष तक अध्यापन कार्य किया (चतरा महाविद्यालय, चतरा)। तदुपरान्त वे १९९८ में सागर विश्वविद्यालय में रीड़र पद पर नियुक्त हुए। सम्प्रति डॉ. शर्मा सागर विश्वविद्यालय से ही अपने अध्ययन एवं अध्यापन को संचालित करते हुए, मंत्री,अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, कार्यकारी सम्पादक-"दार्शनिक त्रैमासिक" और प्रबन्ध-सम्पादक-"उन्मीलन" के रूप में दर्शन के संस्थागत दायित्वों का भी सफलतापूर्वक निर्वहन कर रहे हैं। इनकी गहरी अभिरुचि भारतीय प्रमाण शास्त्र, विशेषकर बौद्ध प्रमाण शास्त्र में हैं। इस क्षेत्र में अधिप्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से किये गये अध्ययनों को वे विभिन्न पत्रिकाओं के माध्यम से अनेकों शोधपरक निबन्धों के द्वारा प्रस्तुत करते रहे हैं। डॉ. शर्मा की अब तक की प्रमुख कृतियों में **स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण -1 समेकित दार्शनिक विमर्श, स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण - 2 समेकित अद्वैत विमर्श, स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण - 3, भारतीय दर्शन के 50 वर्ष** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन तीनों ग्रन्थों का विशिष्ट सम्पादन करते हुए इन्होंने वैचारिक स्वराज्य के भाषीय राजपथ पर स्वातंत्र्योत्तर युग की भारतीय दार्शनिक चेतना के रूप-विरूप को पहचानने का एक महनीय प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त **'मीमांसा पदार्थ विज्ञानम्'** की हिन्दी व्याख्या एवं **'भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद'** इनकी शास्त्र सम्पोषक कृतियां हैं। सम्प्रति डॉ. शर्मा **'इन डिफेंस ऑफ मेटाफिजिक्स'** नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के संपादन और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त **'रिसर्च अवार्ड'** - 2006 के अंतर्गत **'भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष मीमांसा'** नामक शोध-योजना को पूरा करने में संलग्न हैं। वर्तमान पीढ़ी के अध्येताओं में डॉ. शर्मा की पहचान एक परिश्रमी अध्येता एवं मुखर वक्ता के रूप की जाती है। परम्परा के प्रति स्वारूढ़ विकास की संरक्षणवादी दृष्टि एवं देश के लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों से गतिशील सारस्वत सम्बन्ध इनके अकादमिक जीवन का निर्मायक पक्ष रहा है।

भारतीय दर्शन-परम्परा में प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का ऐतिहासिक विकास पाँच वैकल्पिक प्रस्थानों के माध्यम से पुष्पित और पल्लवित हुआ है। इसमें पहला प्रस्थान महर्षि गौतम का है जो तत्त्व की अपेक्षा प्रमाणों को प्राथमिकता प्रदान करते हुये प्रमाणमीमांसा के एक रचनात्मक ढांचे को प्रस्तावित करता है। महर्षि गौतम के इस सर्वतंत्र-स्वतंत्र माने जाने वाले प्रस्थान के विरोध में नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशि भट्ट प्रणीत प्रमाणमीमांसीय समीक्षा के तीन वैतण्डिक प्रस्थान विकसित हुये हैं। इन तीनों का पर्यवसान प्रमाणों के प्राथमिक महत्त्व और भूमिका के निराकरण में अथवा प्रमाणोच्छेदवाद में होता है। पाँचवां प्रस्थान तर्कपुंगव दिङ्नाग द्वारा प्रसूत हुआ है जो गौतमीय प्रस्थान के समानान्तर और नागार्जुनीय प्रमाण-विस्थापन के विकल्प में "तत्त्वमीमांश्रित प्रमाणमीमांसा" का एक पुनर्रचनात्मक ढांचा प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ में दिङ्नाग प्रणीत प्रमाणमीमांसा के उपर्युक्त "बौद्ध प्रस्थान" की आधारभूत संरचना को कुछ वैसे मूलगामी सिद्धान्तों के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है जो प्रमाणों की संख्या, लक्षण, विषय और फल विषयक मतभेदों एवं तत्सम्बन्धी वैकल्पिक अभ्युपगमों के निर्धारक होते हैं। इसके लिये अपनाये गये विश्लेषण और व्याख्या पद्धति से भारतीय दर्शनों के प्रमाण-चिन्तन का अधिप्रमाणमीमांसीय आयाम उद्घाटित होता है। वस्तुत: इसी आयाम में प्रमाणशास्त्रीय सिद्धान्तों की वैकल्पिकता, उनकी प्रातिस्विकता पहचानी जा सकती है कि कोई प्रमाणमीमांसीय निर्धारण ऐसा ही क्यों है, क्यों नहीं अन्यथा है। इस प्रकार बौद्ध प्रमाणशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों को केन्द्रीय सन्दर्भ बनाकर इस ग्रंथ में आद्यन्त रूप से यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन लोकानुभव का आदर करते हुये किस प्रकार तत्त्वमीमांसा को अपने में विरासत भाव से अनुगृहीत किये रहती है और अपने विकासमान स्वरूप में उत्तरोत्तर तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही उजागर करती है।





विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्यप्रदेश





विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्यप्रदेश